दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

कार्यकारी संपादक

डॉ. पुष्प राज गौतम

प्राचार्य, बी.पी.एस. कॉलेज, भोरे, गोपालगंज

दृष्टिकोण प्रकाशन

WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045

वर्ष : 6 अंक : 1 ❑ जनवरी–फरवरी, 2014

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड
डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन
डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरवोरोग, ओन्टारियो
डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग
डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची
डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका
डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना
डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा
डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

संपादकीय सम्पर्क:
448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
फोन : 011-22753916, 49050844, 64683387
e-mail : editorialindia@yahoo.com
©Editorial India
Editorial India is a content development unit of Permanence Education Services (P) Ltd.

मूल्य: ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक निर्मल कुंमार सिंह द्वारा WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045 से प्रकाशित तथा प्राइमा प्रिंटर्स, वाई-56, ओखला, औद्योगिक क्षेत्र, फेस-2, नई दिल्ली से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

टीचिंग एक ऐसा प्रोफ्रेशन है, जिसे भारत में ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में न केवल आदर की दृष्टि से देखा जाता है, बल्कि हमेशा से इन-डिमांड रहा है। आमतौर पर टीचिंग प्रोफेशन गर्ल्स के लिए ज्यादा उपयुक्त माना जाता है। यदि आज की हाई प्रोफाइल जॉब्स से इसकी तुलना की जाए, तो सैलरी कम जरूर मिलती है, लेकिन इसके बावजूद यह एक ऐसा प्रोफेशन है, जिसे हमेशा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। यदि आपके अंदर भी पढ़ने में रुचि, बोलने की कला और विद्यार्थियों से स्नेह करने के गुण हों, तो नि:संदेह आप इस प्रोफेशन को चुन सकते हैं। आज कैरियर के लिहाज से इस क्षेत्र में असीम संभावनाएं मौजूद हैं।

आमतौर पर टीचर्स ट्रेनिंग कोर्सेज को तीन या चार हिस्सों में बांटा जाता है। एलीमेंट्री टीचर्स ट्रेनिंग या जेबीटी, बीएलएड, बीएड और एमएड। यदि बीएड यानी कि बैचलर ऑफ एजुकेशन की बात करें, तो ग्रेजुएशन की डिग्री लेने के बाद इस कोर्स में प्रवेश ले सकते हैं। इसके लिए दो प्रक्रियाएं हैं। एक तो प्रवेश परीक्षा के दौर से गुजरने के बाद आप बीएड कोर्स में एडमिशन ले सकते हैं। दूसरा यह कि राष्ट्रीय स्तर पर कुछ बीएड कॉलेजों में 50 प्रतिशत अंकों की शर्त पर प्रवेश की सुविधा मौजूद है, जबकि कई राज्यों में 45 प्रतिशत अंक के आधार पर भी प्रवेश मिल जाता है। हालांकि, ज्यादातर संस्थानों में प्रवेश परीक्षा के आधार पर ही एडमिशन दिया जाता है। बीएड के एग्जाम में टीचिंग एप्टीट्यूड, लैंग्वेज एप्टीट्यूड नॉलेज एप्लीकेशन, प्रॉब्लम बेस्ड ऑब्जेक्टिव टाइप प्रश्न पूछे जाते हैं। कहीं-कहीं पर डिस्क्रिप्टिव प्रश्न भी डिस्टेंस लर्निंग एजुकेशन के माध्यम से भी कोर्स उपलब्ध हैं। कोर्स फीस: यदि बीएड करने के दौरान होने वाले खर्चे की बात करें, तो बड़े-बड़े प्रोफेशनल कोर्सेज की तुलना में कम खर्च आता है। सरकारी संस्थानों में प्रवेश लें, तो पूरे वर्ष भर में 15 से 20 हजार रुपए तक खर्च हो सकता है, जिसमें फीस व टीचिंग मैटीरियल जैसे अन्य खर्च भी शामिल हैं। प्राइवेट इंस्टीट्यूट में यह खर्च अधिक से अधिक 40 हजार रुपए तक हो सकता है।

एक वर्ष के इस कोर्स में प्रवेश लेने के बाद निश्चित तौर पर नौकरी मिलने की संभावना बढ़ जाती है। अगर सरकारी नौकरी की बात करें, तो दिल्ली में ही अध्यपापकों के हजारों पद खाली हैं। अन्य राज्यों में भी स्थिति लगभग यही है। इसके अलावा, विदेश में भी नौकरी के अवसर उपलब्ध हैं। पिछले कुछ वर्षों में अमेरिका, जापान, इंग्लैण्ड और सऊदी अरब में भी भारतीय टीचर्स की डिमांड बढ़ी है। खासतौर पर मैथ्स व साइंस जैसे विषयों के अध्यापक तो हमेशा इन-डिमांड रहते हैं। इसके अतिरिक्त पब्लिक स्कूलों में भी बीएड की डिग्री रखने वालों के लिए ऑप्शन की कमी नहीं है। फिर भी बेहतर नौकरी प्राप्त करने के लिए कॉम्पीटिशन क्लीयर करना पड़ता है, लेकिन देखा यह भी गया है कि नौकरी किसी न किसी सेक्टर में मिल ही जाती है।

विदेशों में भी भारतीय टीचर के लिए संभावनाओं की कोई कमी नहीं है। विदेशों में एक से दो वर्ष में टीचिंग एक्सपीरियंस के बाद हर माह 50 हजार रुपए तक सैलरी मिल सकती है। इसके साथ रेजिडेंस, होस्टल्स, फूड इत्यादि की सुविधाएं भी दी जाती हैं।

यदि स्केल की बात करें, तो शुरुआती दौर में यह 5, 500 से 9,000 रुपए तक होता है। पर नौकरी के आरंभ में कई अन्य भत्तों को मिलाकर सैलरी कम से कम 10 हजार रुपए तो अवश्य मिलती है, जबकि बड़े शहरों में सिटी भत्ता मिलने के कारण सैलरी 12 हजार के करीब हो सकती है। हालांकि, कई राज्यों में एचआरए या अन्य कई भत्तों में अंतर हो सकता है।

दिल्ली यूनिवर्सिटी, डिपार्टमेंट ऑफ एजुकेशन, दिल्ली। जामिया-मिलिया इस्लामिया, जामिया नगर, नई दिल्ली-110025। एम डी यूनिवर्सिटी, रोहतक। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय। इंदिरा गांधी ओपन यूनिवर्सिटी। इसके अतिरिक्त लगभग सभी राज्यों के मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालयों में बीएड कोर्स उपलब्ध हैं। यदि आप बीएड से संबंधित देश के चुनिंदा कॉलेजों के बारे में जानकारी लेना चाहते हैं, तो indiaedu.com साइट पर जाकर कॉलेज के बारे में सिलसिलेवार ब्यौरा प्राप्त कर सकते हैं।

संपादक

इस अंक में

इतिहास

1942 के आन्दोलन का परिप्रेक्ष्य और वैचारिक टकरावों का मूल्यांकन—*विशाखा कुमारी* 7

बिहार में ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में कृषक वर्ग की भूमिका—*कुमुद कुमारी* 10

भारतीय संस्कृति में ईश्वर-विचार—*डॉ० नागेन्द्र मिश्रा* 14

बिहार में किसानों की स्थिति एवं समस्याएँ: एक ऐतिहासिक मूल्यांकन—*डॉ० मीना कुमारी* 18

ऋग्वैदिक काल से उत्तरवैदिक काल तक सामाजिक जीवन में परिवर्तन—*अनूप भारती* 22

मौर्योत्तर काल में भारत का विश्व के अन्य भागों से संपर्क—*डॉ० शेखर सिंह* 26

बुद्धकालीन समाज एवं अर्थसंरचना के दायरे में अस्पृश्यता—*डॉ० श्वेता* 30

स्थायी शान्ति के लिए गांधीजी के विचारों की प्रासंगिकता—*प्रियांशु कुमार कश्यप* 35

ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा और वैज्ञानिक इतिहास लेखन—*राकेश कुमार झा* 39

सभ्यता के विनाश में इतिहास की भूमिका—*रणजीत कुमार* 43

ब्रिटिश भारत में कृषक आन्दोलन की समीक्षा—*सोनी भगत* 47

कश्मीर समस्या का अंतर्राष्ट्रीयकरण के प्रभाव—*ब्यूटी भगत* 51

इतिहास लेखन की ऐतिहासिक विवेचना—*रमेश कुमार गुप्ता* 55

बिहार और 1857: सामाजार्थिक विसंगतियों से उपजा विद्रोह—*मनोज कुमार* 60

सिंधु क्षेत्र के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय—डॉ० कुमार विशाल 66

बौद्धकालीन शिक्षण पद्धति का स्वरूप एक विश्लेषण—*अमर कुमार* 70

1934 का भूकम्प, चम्पारण और राजनीतिक सरोकार—*राजकिशोर कुमार* 74

प्राचीनकालीन मिथिला समाज में दास व्यवस्था—*राकेश कुमार झा* 77

वैदिक युग में स्त्री शिक्षा का समीक्षात्मक अध्ययन—*डॉ० अवध पटेल* 82

ब्रिटिश भारत में ग्रामीण-ऋणग्रस्तता तथ्यात्मक विश्लेषण—*डॉ० प्रवीण चन्द्र* 90

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के बदलते आयाम—*उमेश कुमार उन्मुक्त* 93

मध्यकालीन बिहार प्रशासनिक व्यवस्था का समीक्षात्मक अध्ययन—*चन्दन कुमार* 97

बौद्ध धर्म: एक विश्लेषण—*डॉ० रूपक कुमार शर्मा* 103

भारतीय इतिहास में बाल गंगाधर तिलक का मूल्यांकन—*डॉ० रेखा चौधरी* 108

ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया एवं प्रतिगामिता के विरूद्ध बौद्ध धर्म का प्रगतिशील स्वर—*दिव्यकान्त झा* 111

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और साम्राज्यवाद विरोधी लीग—*रंगलाल कुमार* 116

प्राचीन भारत में खान खनिज एवं धातु-विज्ञान की प्रौद्योगिकी—*सुमिता सहाय* 121

चम्पारण और गाँधीजी—*स्मिता कुमारी* 125

अपने शुरुआती दौर में द्वितीय विश्व युद्ध—*धर्मेन्द्र कुमार* 130

दृष्टिकोण

हिन्दी

भारतीय शिक्षा की समस्याएँ और शेखर: एक जीवनी–*संजीव शर्मा* 135
उदारीकरण, बाजार और हिन्दी–*कुमारी गरिमा* 140
हिंदी पत्रकारिता का विदेशों में उन्नयन–*डॉ॰ प्रत्युष कुमार* 144
तुलसी के मानस में संघर्षतत्त्व–*सुनीता कुमारी* 149
भूमंडलीकरण के दौर में गबन–*डॉ॰ श्याम शरण* 153
हिन्दी भाषा के विकास में डॉ. रामविलास शर्मा का योगदान–*डॉ॰ प्रवीन कुमारी* 156
रामचरितमानस में सत्संग महिमा–*डॉ॰ राजेश कुमार सिंह* 162
राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रीय चेतना–*आशा* 166

संस्कृत

गीता में वर्णित कर्मयोग–*सुमन्त कुमार* 172
महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् नाटक में संगीत-योजना: एक विवेचन–*दीपिका कश्यप* 176
काव्यशास्त्र में औचित्य की उपेक्षा के कारक–*डॉ॰ तोषी* 179
अभिज्ञानशाकुन्तलम् का धर्मशास्त्रीय आधार–*डॉ॰ बबीता सिंह* 183
महाकाव्य रघुवंशम् में सुभाषित–*डॉ॰ कान्ति सिंह* 187

समाजशास्त्र

भारतीय समाज की जनसंख्या वृद्धि समस्या एवं समाधान: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन–*डॉ॰ अनुराधा गौतम* 190
भारत में विवाह प्रथा में परिवर्तन–*डॉ॰ सुरेन्द्र मोहन* 194
ग्रामीण महिलाओं की राजनैतिक सशक्तिकरण का समाजशास्त्रीय विवेचन–*डॉ॰ प्रदीप कुमार* 197

दर्शनशास्त्र

अरविंद के दर्शन में अतिमानस की अवधारणा–*अजय कुमार सिंह* 200
मानव के अस्तित्व एवं महात्मा गाँधी के ईश्वरीय विचार–*रामाशीष मालाकार* 203

अर्थशास्त्र

जीडीपी और विकास की सही तस्वीर–*डॉ॰ अरूण कुमार सुमन* 207

बांग्ला

वेदांत दर्शन और स्वामी विवेकानन्द–*डॉ॰ गोपाल पाल* 212

शिक्षा

बिहार में शिक्षा का गुणात्मक विकास: एक अवलोकन–*डॉ॰ संतोष कुमार* 215
वैश्वीकरण के दौर में शिक्षकों का प्रशिक्षण–*डॉ॰ अनिता शर्मा* 220

राजनीति शास्त्र

विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन की समीक्षा–*शैफाली सिंह* 222
पंचायतीराज एवं ग्रामीण महिला सशक्तिकरण: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन–*डॉ॰ नीलम कुमारी सिंह* 228

1942 के आन्दोलन का परिप्रेक्ष्य और वैचारिक टकरावों का मूल्यांकन

विशाखा कुमारी

एम०ए० (इतिहास), शोध छात्रा, बी० एन० मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा

इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व के किसी भी आन्दोलन के मूल में वैचारिक टकराव होता है। सन् 1942 में भारत में जो आन्दोलन हुआ था, वह अंग्रेजों और परतंत्र भारत की जनता के बीच का वैचारिक टकराव था। क्रिप्स योजना के असफल हो जाने तथा क्रिप्स के द्वारा कांग्रेस को असफलता के लिए उत्तरदायी ठहराये जाने के परिणामस्वरूप भारतीयों को अत्यन्त निराशा हुई। इस योजना से यह स्पष्ट हो गया कि साम्प्रदायिकता को आड़ बनाकर इंग्लैंड की सरकार भारत को स्वतंत्रता प्रदान नहीं करेगी। अत: भारतीय जनता में असंतोष की भावना तीव्र होने लगी।[1] अंग्रेजी सरकार और स्वतंत्रता-आन्दोलन के लिए संघर्ष करने वाले भारतीय नेताओं के विचारों में टकराहट होना स्वाभाविक ही था।

स्वतंत्रता आन्दोलन के सूत्रधार महात्मा गाँधी को ऐसा प्रतीत हुआ कि सत्याग्रह की अहिंसात्मक नीति से भारत स्वतंत्र न हो सकेगा क्योंकि इसका तनिक भी प्रभाव अंग्रेजों पर पड़ने वाला नहीं है। ऐसी स्थिति में महात्मा गाँधी अपने विचारों और अपनी नीतियों में परिवर्तन के लिए विवश हुए। द्वितीय विश्व युद्ध में अंग्रेजों ने गाँधीजी से सहायता मांगी जिससे भारतीय सैनिक उसके पक्ष में युद्ध करे। अंग्रेजी सरकार ने गाँधीजी को आश्वासन दिया कि युद्ध के बाद वह भारत को स्वतंत्र कर देगी। मगर युद्ध समाप्ति के पश्चात् अंग्रेजी सरकार अपने द्वारा दिये गये आश्वासन से मुकर गयी और उसने भारतीय जनता को बहुत बड़ा धोखा दिया। इस वैचारिक टकराव के चलते ही 1942 का अगस्त आन्दोलन हुआ। इस आन्दोलन को "भारत छोड़ो आन्दोलन" (Quit India Movement) भी कहते हैं, क्योंकि अंग्रेजों की धोखेबाजी और चालबाजी को देखते हुए गाँधी जी ने उससे भारत छोड़ने की अपील की। महात्मा गाँधी ने अपने 'हरिजन पत्र' में लिखा था– "अंग्रेजों, भारत को जापान के लिए मत छोड़ो, अपितु भारत को भारतीयों के लिए व्यवस्थित रूप में छोड़ जाओ।"[2] उन्होंने पुन: अपना वक्तव्य दिया– "भारत को भगवान् के भरोसे छोड़ दो, यदि यह असम्बद्ध है तो उसे अराजकता के भंवर में छोड़ दो।"[3]

मगर अंग्रेजी सरकार ने गाँधी जी की एक न सुनी क्योंकि गाँधीजी के विचार उसे अच्छे न लगे। इस वैचारिक टकराव के कारण अंग्रेजी सरकार और अधिक सख्त हो गयी। उसने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विभेद उत्पन्न कर इस आन्दोलन को असफल बनाने में कोई कोर-कसर न उठा रखी। विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी। यद्यपि स्कूल और कॉलेज के छात्रों, कृषकों तथा निम्नवर्गीय और मध्यवर्गीय लोगों ने इस आन्दोलन में जमकर भाग लिया, तथापि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने इस

आन्दोलन से अपने को अलग रखा। भारतीय श्रमिकों का इस आन्दोलन में नाम मात्र का सहयोग था। भारतीय साम्यवादी दल एवं मुस्लिम लीग आन्दोलन का विरोध कर रहे थे और ब्रिटिश सरकार से मिलकर आन्दोलन को दबाने में सहयोग दे रहे थे।[4] इस आन्दोलन ने बिहार, संयुक्त प्रांत और बंगाल में बड़ा ही उग्र और हिंसात्मक रूप धारण कर लिया था, मगर दक्षिण भारत, पंजाब, सिन्ध, राजस्थान, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत में इसका प्रभाव कम देखा गया।

अंग्रेजी सरकार ने इस आन्दोलन को बड़ी ही क्रूरता और निर्दयता से कुचलने का प्रयास किया। कम्युनिस्ट, मुस्लिम लीग और कांग्रेस के वैचारिक टकराव के चलते ही यह आन्दोलन पूर्णरूपेण तो सफल नहीं हो सका, मगर आंशिक रूप से अवश्य सफल रहा, क्योंकि इससे सम्पूर्ण देश की जनता में एकता की भावना का उद्रेकीकरण हुआ और जागृति आई। लोग देश को स्वतंत्र करने के लिए कटिबद्ध हो गये। भारतीयों के प्रति अंग्रेजों के दुर्व्यवहार को देखते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा– "सभी परम्पराएँ और छल-कपट, जिनसे साधारणतया शासन के कार्यो को ढँके रहते हैं, दूर कर दिये गये हैं और केवल नग्न शक्ति सत्ता का प्रतीक बन गयी।[5] कतिपय वैचारिक टकराव के बावजूद भारत छोड़ो का आन्दोलन प्रस्ताव 14 जुलाई 1942 ई. को वर्धा में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने पारित कर दिया। इस प्रस्ताव में यह घोषणा की गयी थी कि "भारत में ब्रिटिश-शासन का तुरन्त अन्त होना चाहिए। यह भारत तथा मित्र देशों की सफलता के लिए आवश्यक है। इस शासन के जारी रहने से भारत का निरंतर पतन हो रहा है और देश अपनी रक्षा के लिए कमजोर होता जा रहा है। फासीवाद के विरुद्ध सफलता पुराने उद्देश्यों, नीतियों एवं उपायों से चिपके रहने से नहीं हो सकती। भारत की स्वतंत्रता से ही ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों को आंका जा सकता है। स्वतंत्र भारत इस सफलता को अवश्य प्राप्त कर सकेगा, क्योंकि यह अपने सभी साधनों को स्वतंत्रता के लिए तथा फासीवाद, नाजीवाद और साम्राज्यवाद के आक्रमणों के विरुद्ध लगा देगा। पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्य का चिह्न बना हुआ है, अत: अखिल भारतीय कांग्रेस समिति अत्यधिक जोरदार शब्दों में अंग्रेजों को भारत से हट जाने की मांग दोहराती है तथा इसे मानने के लिए ब्रिटेन व मित्र राष्ट्रों से पुन: अपील करती है।[6]

आन्दोलन आरम्भ करने के पूर्व गाँधी जी ने पत्र के माध्यम से इसकी सूचना वायसराय को दी और उनसे मिलने का भी प्रयास किया। मगर 9 अगस्त 1942 को ही महात्मा गाँधी समेत पंडित जवाहरलाल नेहरू, पट्टाभि सीतारमैय्या, आचार्य जे. बी. कृपलानी, जयप्रकाश नारायण, आसफअली, अबुल कलाम आजाद, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि राष्ट्रीय स्तर के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इससे देश की जनता भड़क उठी, गाँधीजी ने देश की जनता को 'करो या मरो' (DO or Die) का मंत्र दिया था। फिर तो अनेक स्थानों पर हिंसा की आग भड़क उठी। प्रो. अम्बा प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'दि इंडियन रिवोल्ट ऑफ 1942' में लिखा है कि इस आन्दोलन में पुलिस ने 538 बार गोलियाँ चलायी तथा कम-से-कम 7000 व्यक्ति मारे गये तथा 60,229 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। गैर-सरकारी सूत्रों के अनुसार मरने वालों की संख्या 10,000 से 40,000 के मध्य थी।[7] इस आन्दोलन को लेकर कांग्रेस से मुस्लिम लीग का वैचारिक टकराव था। कम्युनिस्ट दल ने भी इस आन्दोलन का समर्थन न किया। इतना ही नहीं, ईसाइयों और अकालियों ने तो इसका विरोध किया ही, सबसे अधिक विरोध भीमराव अम्बेदकर ने किया।

इस प्रकार विभिन्न दलों और नेताओं की वैचारिक टकराहट के चलते यह आन्दोलन पूर्णत: सफल न हो सका। जयप्रकाश नारायण ने इस आन्दोलन की तुलना फ्रांस तथा रूस में हुई क्रांति से की।

वैचारिक टकराव और आन्दोलन के असफल होते हुए भी इस आन्दोलन का महत्व कम न था क्योंकि इसने स्वतंत्रता संग्राम की एक दृढ़ पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इसके महत्व की ओर इंगित करते हुए डॉ. ईश्वरी प्रसाद का कथन है- "The August Revolution was a revolt of the people against tyrrany and oppression and can be compared with the fall of bastilie in the history of france or the October Revolution of Russia. It is as Symbolic of a new confidence and a new stabure that the people had attained."[8]

अर्थात् यह अगस्त क्रांति निरंकुशता तथा अत्याचार के विरुद्ध जनता का विद्रोह था। इसकी तुलना फ्रांस में बास्तील के पतन तथा रूस में अक्टूबर क्रांति से की जा सकती है। यह जनता में उत्पन्न एक नवीन विश्वास का द्योतक थी ।

जो भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि प्रत्यक्ष रूप से असफल होने के बावजूद भी यह आन्दोलन इस अर्थ में महत्वपूर्ण था कि इसने सम्पूर्ण भारत की जनता को एकता के सूत्र में बाँध दिया और जन-जन के मन में स्वतंत्रता की अलख जगाई ।

इस प्रकार उपरिलिखित तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि सन् 1942 के आन्दोलन का परिप्रेक्ष्य विविध विलक्षण विषमताओं से युक्त तो था ही, वैचारिक टकरावों का शिकार भी रहा, इसका मूल्यांकन जब हम करते हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उन दिनों राष्ट्र-हित की दृष्टि से इसका बड़ा ही अधिक महत्व रहा ।

संदर्भानुक्रम

1. डॉ. ए. के. मित्तल – भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, प्र. सं., साहित्य भवन, हॉस्पीटल रोड, आगरा, पृ. सं. 648-49.
2. सं. महात्मा गाँधी – हरिजन, साप्ताहिक पत्र, अगस्त 1942.
3. उपरिवत् जुलाई 1942.
4. डॉ. अखिलेश्वर कुमार
   डॉ. रामनन्दन कुमार – भारत का इतिहास, च. सं., साइंटिफिक बुक कंपनी, अशोक राजपथ, पटना, पृ. सं. 286-87.
5. Jawaharlal Nehru - The Discovery of India, Page No. 502.
6. Prof. Amba Prasad - The Indian Revolt of 1942, Page No. 502.
7. Dr. Ishwari Prasad - History of Modern India, Page No. - 502.
8. उपरिवत्, पृ. सं. 458.

❖

इतिहास

बिहार में ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में कृषक वर्ग की भूमिका

कुमुद कुमारी

शोध छात्रा, जे०पी० विश्वविद्यालय, छपरा

मानवीय आर्थिक क्रियाओं में कृषि सबसे अधिक प्रचलित और महत्वपूर्ण है। जहाँ कृषि के महत्व की बात की जाय तो आज भी लगभग संसार की आधी जनसंख्या कृषि में लगी हुई है। कृषि संसार के लोगों का प्राचीन व्यवसाय है। मेक्सिको, नील-घाटी, मेसोपोटामिया, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा चीन की बीहो घाटी की प्राचीन सभ्यताएँ कृषि के विकास के ासथ ही विकसित हुई थीं। प्राचीन भारतीयों को तैत्रीय उपनिषद् में 'अन्ने बहुकुर्वीत तदवतम्' (अधिक अन्न उपजाओ, यह तुम्हारा कर्त्तव्य है) द्वारा आह्वानित किया गया था। भारत की तरह संसार के कई देशों में कृषि एक आर्थिक क्रिया के साथ-साथ जीवन पद्धति भी है जो वहाँ के लोगों की रीति-रिवाजों तथा सांस्कृतिक लक्षणों में परिलक्षित होती है। उदाहरणस्वरूप भारत में लोहड़ी हो या होली, पोंगल हो या ओणम् - ये सभी त्योहार यद्यपि भारत के विभिन्न भागों के हैं, कृषि से जुड़े हुए हैं।

बिहार की अर्थव्यवस्था में भूमि संसाधान का स्थान सर्वोपरि है। भारत के कुल 5.3 प्रतिशत क्षेत्रफल वाला यह राज्य मुगलों के समय से ही देश का कुल 8 से 10 प्रतिशत खाद्यान्न उत्पन्न करता है। मुगलों के समय से ही बिहार राज्य का कुल 63% भूमि कृषि के योग्य है, लेकिन 44% से लेकर 50% भूभाग पर ही शुद्ध रूप से कृषि की जाती है। बिहार के मैदानी क्षेत्र की लगभग 75: भूमि कृषि के योग्य है और 61% भूमि ही शुद्ध कृषि के अन्तर्गत आती है।

भारतीय कृषि के इतिहास का एक दिलचस्प पहलू यह है कि प्राचीन काल में ही मुद्रा रूपी लगान के विकास से बहुत पहले भारतीय जाति प्रथा के कारण खेतिहार समुदायों द्वारा अधीन बनाये गये मूलतः खाद्य-संग्राही लोगों में से उजरती मजदूरों का एक वर्ग विकसित हो चुका था। खेती के कामों के लिए किराये के श्रमिकों के उपयोग का वर्णन मनुस्मृति में, कामसूत्र में और भारतीय बौद्ध मठों द्वारा काश्तकारी के ई-शिंग के विवरण में मिलता है। मुख्यतः निचली या अछूत जातियों पर आधारित भूमिहीन मजदूरों के एक विशाल वर्ग का अस्तित्व मुगलकालीन दस्तावेजों से साबित होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत के ग्रामीण श्रमिकों का वर्ग मुद्रा रूपी लगान के साथ यदा-कदा नहीं उभरा (मार्क्स), बल्कि पहले से ही यह बकायदा अस्तित्व में था।

किसान तथा उनके साथ सेवा करने वाले मजदूर, दास वगैरह समाज के निम्न वर्ग के लोग थे। इस वर्ग के लोगों का जीवन सुखी तथा मंगलमय नहीं था। किसान का जीवन गन्दगियों से भी भरा था। चूँकि वे उपेक्षित थे, इसलिए उनमें सुधार लाने के लिए ऊँचे वर्ग वाले कभी भी ध्यान नहीं देते थे। उनके शरीर से दुर्गन्ध निकलती थी। वे वस्तुतः दास थे। भूमि के साथ उनका जीवन बंधा था।

अपने स्वामी पर वे पूर्णत: निर्भर करते थे और उनकी आज्ञा पर ही कही जा सकते थे। इस तरह बिहार पिछले डेढ़ दशक से सामंती उत्पीड़न, जातीय-वर्गीय तनाव, ग्रामीण क्षेत्रों में जारी हिंसा-प्रतिहिंसा और जुझारू खेत मजदूर आन्दोलन को लेकर चर्चा में है। गाँव के किसान लगातार गरीब होते जा रहे हैं। राज्यव्यापी कृषि संकट और बढ़ता जा रहा है। कृषि क्षेत्र में दरिद्रीकरण की प्रक्रिया का एक पहलू यह भी है कि समूचा राज्य उद्योग धंधों से वंचित है। अपार खनिज सम्पदा पैदा करने वाला बिहार अपनी सोना सी धरती पर कंगाल खड़ा है।

अकबर का उद्देश्य था कि जनता को अधिकाधिक सुविधा मिले एवं उनका शोषण नहीं हो। भूमि का वास्तविक माप स्टैण्डर्ड जरीब से कराया गया। अकबर इसके लिए सिकन्दर लोदी की जरीब को अपना कर इसमें संशोधन किया था। सन् 1576 में राजस्व अधिकारियों के पास कई आँकड़े इकट्ठे हो गये थे। अब उन्होंने प्रत्येक काश्तकार को भूमि का विस्तृत रेकार्ड तैयार कर उसकी उपज को भी रेकार्ड कर लिया था। बाजार भाव भी आ गये थे। इस प्रकार से 1571 से 1580 तक के आँकड़ों को लेकर नई पद्धति शुरू की गई। इसे 'आइन-इ-दशसाला' द्वारा प्रचलित पद्धति एवं कुछ स्थानीय चली आ रही पद्धति प्रचलित थी।

भूमि को 4 भागों में वर्गीकृत किया गया - (1) पोलज दो फसली एवं अधिक उपजाऊ भूमि (2) परती जिसे एक वर्ष या दो वर्ष कृषि के लिए छोड़ना पड़ता था। (3) छछर, इसमें निरंतर खेती नहीं की जा सकती थी। इसे दो या तीन वर्ष तक परती छोड़नी पड़ती थी और इस बंजर भूमि को उर्वरता के आधार पर I, II, III भागों में बांटते थे।

मुगल साम्राज्य की सैनिक और प्रशासनिक कुशलता के परिणामस्वरूप आर्थिक तथा वाणिज्यिक समृद्धि में बढ़ोतरी हुई। विदेशी यात्रियों ने इसे वैसा अमीर देश बताया जैसा कि किस्से-कहानियों में व्याख्यायित होता रहा है। लेकिन विदेशी यात्री इसी अधिकता के साथ मिलने वाली गरीबी को देखकर आश्यर्चचकित रह गए। सामाजिक विषमताएं साफ दिखाई पड़ती थीं। शाहजहाँ के राज्यकाल के बीसवें वर्ष के दस्तावेजों से हमें जानकारी मिलती है कि ऐसे मनसबदार, जिनको उच्चतम पद मिला था, कुल 8000 में से 445 ही थे। कुल मनसबदारों की एक छोटी संख्या 5.6 प्रतिशत को ही राज्य के अनुमानित राजस्व का 61.5 प्रतिशत स्वयं सवारों के तनख्वाह के रूप में दिया जाता था।

मुगल सम्राट तथा उनके मनसबदार अपनी आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा वेतन तथा वस्तुओं पर खर्च कर देते थे। इस खर्च से किसानों और शिल्पकारों को फायदा होता था। चूंकि वे फसल और वस्तुओं की पूर्ति करते थे, किन्तु राजस्व का भार इतना था कि प्राथमिक उत्पादकों-किसानों और शिल्पकारों के पास निवेश के लिए बहुत कम पैसा बचता था। इनमें से जो बहुत दरिद्र थे, मुश्किल से ही पेट भर पाते थे।

उस समय की खेती का अनाज अधिकांशत: आज जैसे ही थे। यह कहना गलत है कि वर्तमान समय के जैसा अनाज का किसी विशेष प्रदेश में स्थिरीकरण नहीं था। क्योंकि गन्ने की खेती बंगाल, बिहार के बहुत से भागों में होती थी और उसे भारत के अन्य भागों में ले जाया जाता था तथा नील की खेती उत्तर भारत के कुछ स्थानों में होती थी। पेलसर्ट हमलोंगों को बतलाता है कि यमुना की घाटी तथा मध्य भारत के नील बड़े पैमाने पर पैदा तथा तैयार होता था। सूती और रेशमी माल प्रचुर मात्र में तैयार किये जाते थे। इस संबंध की माँग को पूरा करने के लिए रूई तथा रेशम दोनों की खेती भारत के कुछ भागों में बहुत होती थी। तम्बाकू 1604 ई. के अन्त अथवा 1605 ई. के प्रारंभ में भारत लाई गयी। इसके बाद लोग इसकी खेती करने लगे। मुगल काल में आज जैसे कृत्रिम सिंचाई

की व्यवस्था अपेक्षाकृत नहीं थी। खेती के औजार भी अधिकतर वही थे जो आज कल हैं। मुगल भारत में भू-राजस्व कुल उत्पाद के मूल्य के एक भाग के बराबर होता था। किसान, जो सकल भू-राजस्व अदा करता था, वह उसकी पैदावार का आधा होता था। खेती के अलावा पशुपालन, जंगलात, मतस्यपालन आदि से भी मुगल राज्य को आय की प्राप्ति होती थी। इसलिए हमारा यह मानना गलत नहीं होगा कि पशुपालन, बगान, जंगलात और मछली पालन से प्राप्त आय 1605 ई. के आसपास खेतिहर उत्पादन के मूल्य का 30% अर्थात् लगभग 3, 48, 44, 44, 032 दाम रही होगी।

दूसरी तरफ हम देखते हैं कि दस्तकारी की वस्तुओं का उत्पादन आंतरिक उपभोग के अलावा विदेशी व्यापार की मांगे पूरी करने के लिए भी किया जाता था। मुगल साम्राज्य के आयातों की कीमतें विनिर्माण, अर्थसंसाधित (सेमी प्रोसेस्ड) तथा खेतिहर वस्तुओं का निर्यात करके चुकाई जाती थी। निर्यातों के कुल मूल्य अर्थात् 28,00,00,000 दाम में विनिर्माण का भाग संभवत: तीन-चौथाई होता था। वर्तमान समय में बिहार में कई बड़े उद्योग खुल गये हैं जो बिहार के बंट जाने के बाद कुछ उद्योग झारखण्ड प्रदेश में आ गये हैं। जैसे-जमशेदपुर का टाटा का लोहे और इस्पात का कारखाना, बोकारो का इस्पात कारखाना, बरौनी का तेल साफ करने का कारखाना, सिन्दरी का खाद का कारखाना, रांची का हेवी इंजीनयिरिंग का कारखाना, डालमियानगर का कागज का कारखाना आदि-आदि बिहार की औद्योगिक क्षमता के कुछ उदाहरण हैं। उत्तर प्रदेश के बाद सबसे अधिक चीनी यहीं तैयार की जाती है। हाथ करघा और रेशम (तसर) उद्योग यहां के प्रमुख गृह उद्योग है।

बांस और सिंगी घास की वस्तुएँ भी अच्छी बनती है। इस प्रदेश की तीन प्रसिद्ध अनुसंधान शालाएं हैं - जियाल गोड़े का ईंधन राष्ट्रीय प्रयोगशाला, जमेशदपुर की धातु कर्म राष्ट्रीय प्रयोगशाला तथा नामकुम (राँची) का लाह अनुसंधान संस्थान इत्यादि।

बिहार राज्य की फसलों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। खाद्य फसल जिनमें धान, गेहूँ, मक्का, जौ, महुआ, ज्वार, बाजरा, चना, अरहर एवं अन्य दलहन सम्मिलित हैं तथा नगदी फसल, जनमें ईख, जूट, तिलहन, मिर्च एवं आलू विशेष उल्लेखनीय हैं, किन्तु क्षेत्रीय परिस्थितियों के सीमित प्रभाव ने फसल के प्रारूप को प्रभावित कर रखा है।

वर्षा पर आधाारित पूर्ण रूप से बिहार की कृषि के लिए सिंचाई के साधनों का अभाव है। सम्पूर्ण राज्य में धान एकमात्र प्रधान फसल है। धान, गेहूँ, मक्का फसल क्षेत्र के अन्तर्गत गोपालगंज, सिवान, पूर्वी चंपारण, सारण, कटिहार एवं दक्षिणी मैदान के कुछ जिले हैं। पुन: गोपालगंज, सिवान तथा पूर्वी चंपारण जिलों में ईख तथा आलू सारण एवं वैशाली जिलों की चौथी प्रधान फसल है। खेसारी सहरसा जिले में जूट तथा जौ कटिहार जिलों की चौथी एवं पांचवी फसल है। बिहार के पठारी प्रदेश के रांची जिले में धान, गेहूँ, मक्का के बाद चौथी एवं पांचवीं फसल क्रमश: अरहर एवं आलू है।

भारतीय कृषि इतिहास की कुछ खास विशेषताओं को पर्याप्त स्पष्टता के साथ स्थापित किया गया है। 19वीं शताब्दी तक भारतीय मिट्टी की उर्वरता आमतौर पर यूरोपीय मिट्टी से कहीं अधिक रही है। दूसरी ओर प्राकृतिक कारणों से यूरोपीय किसान के मुकाबले भारतीय किसान बहुत कम संसाधनों से आजीविका प्राप्त कर लेते हैं। भारतीय खेतिहर इतिहास के चरित्र को निर्धारित करने की एक प्रमुख विशेषता स्वतंत्र किसान समुदाय रहा है स्वतंत्र आर्थिक दृष्टि से न कि कानूनी दृष्टि से।

खेती के विशेषज्ञ सुझाते थे कि खेत को एक से ज्यादा बार जोतना चाहिए, कभी-कभी पांच बार तक। वैदिक साहित्य में हँसुए और छलनी का जिक्र हुआ है और बाल्मिकी रामायण में कुदाल का

उल्लेख आया है। अमरकोश में खुरपी और ददानी के अलावा धान कूटने के लिए ऊखली और मूसल का तथा धाान के छिलके उड़ने के लिए सूप का जिक्र मिलता है। कृषि पराशर में हाल के विभिन्न अंगों के नाम और आकार-प्रकार का व्यापक वर्णन मिलता है।

मुगल काल में कृषि उद्योग और व्यापार में समान्यतया उन्नति ही हुई। जनता प्राय: प्रसन्न और सुखी थी। उसका प्रमाण तत्कालीन वस्तुकला, चित्रकला, संगीत और साहित्स से भी लगता है। मुगलों के बनवाये महलों, किलों, मस्जिदों, मकबरों तथा अन्य भवनों में सुन्दर गृह-निर्माण कला का परिचय मिलता है। सीकरी का बुलन्द दरवाजा, पंचमहल, दिल्ली का जामा मस्जिद, दीवान खास, लाहौर की बादशाही मस्जिद और आगरे का ताजमहल इस काल की उत्क्ष्ट रचनाएँ हैं।

भारतीय इतिहास में मुगल काल 'ऐश्वर्य-काल' कहा जाता है जो ठीक भी है। इस काल में बाहर से आने वाले विदेशियों का आक्रमण बन्द हो गया था और ये विदेशी अब स्वदेशी बन गये थे। मुगल काल में हिन्दू-मुसलमान के समन्वय से एक नई सभ्यता और संस्कृति का उदय हुआ। सल्तन्त काल में अक्ता व्यवस्था की शुरूआत इल्तुतमिश ने की थी। अक्ता व्यवस्था के अन्तर्गत सेना भूमि का लगान केन्द्रीय हिस्सा देने के बाद स्वयं रखते थे। इसके अलावा सल्तनत काल में सीधे राजकीय नियंत्रण वाली भूमि को खालिस भूमि कहा जाता था। इससे प्राप्त आय केन्द्रीय कोष में जाती थी।

सल्तनत काल में बहुत से ऐसे कर थे जो किसानों के अलावा अन्य लोगों से लिए जाते थे जिनमें प्रमुख कर खिराज, उश्र, खुम्स, जजिया, जकात शामिल थे।

'खिराज' गैर-मुसलमानों से लिया जाता था। 'उश्र' मुस्लिम भूमिधरों से लिया जाता था। 'खुम्स' सैनिक अधिकारियों से लूट के द्वारा लिया जाता था। 'जजिया' यह गैर मुसलमानों से लिया जाता था। 'जकात' मुस्लिमों पर लगाया जाने वाला धाार्मिक कर था।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी प्रशासनिक कार्य-कुशलता में दक्ष नहीं थे। उत्तरी तथा पश्चिमी भारत के अनेक भागों में हुए जमींदारों और किसानों के विद्रोह और कृषक आन्दोलनों के कारण समस्याएँ बढ़ती चली गई। कभी-कभी ये विद्रोह बढ़ते हुए करों के विरोध में किये गये थे और कभी-कभी ये शक्तिशाली सरदारों के द्वारा अपनी स्थिति को मजबूत करने के प्रयास के लिये किये जाते थे।

बड़े जमींदार असहाय और निर्धन हो गये थे। किसान वर्ष में दो फसलें उगाते हैं। लेकिन जमींदार को कुछ नहीं मिलता है। उनके स्थानीय गुमाश्ते एक तरह से किसानों के हाथ की कठपुतली बने रहते हैं। जैसे कि स्वयं किसान अपने ऋणदाता के वश में रहता है जब तक कि वह साहूकार का कर्जा नहीं चुका देता। इस प्रकार सारी व्यवस्था एवं प्रशासन इतना कमजोर हो गयी कि यद्यपि किसान अपनी फसल के जरिए मानों सोना बटोरता है, लेकिन उसके मालिक जमींदार को एक तृण मात्र भी प्राप्त नहीं होता था।

◆

इतिहास

भारतीय संस्कृति में ईश्वर-विचार

डॉ० नागेन्द्र मिश्रा

केशोपुर सिमरी, बक्सर

ईश्वर का भारतीय संस्कृति में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन पर धर्म की अमिट छाप है। ईश्वर में विश्वास को ही साधारणतया धर्म कहा जाता है। धर्म से प्रभावित रहने के कारण भारतीय संस्कृति में ईश्वर के संबंध में अत्यधिक चर्चा है। ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न मत भारतीय विचारधारा में व्याप्त है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अनेक युक्तियों का भारतीय संस्कृति में समावेश हुआ है। अब भारतीय दर्शन में वर्णित ईश्वर सम्बन्धी विचार की व्याख्या अपेक्षित है।

भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ बिन्दु वेद है। इसलिये ईश्वर सम्बन्धी विचार की व्याख्या के लिये सर्वप्रथम हमें वेद-दर्शन पर दृष्टिपात करना होगा।

वेद-दर्शन में अनेक देवताओं के विचार निहित है। वैदिक काल के ऋषियों ने अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, उषा, पृथ्वी, मरूत, वायु, वरूण, इन्द्र, सोम आदि देवताओं को आराधना का विषया माना। इन देवताओं की उपासना के लिए गीतों की रचना हुई है। वेदिक देवगणों का कोई स्पष्ट व्यक्तित्व नहीं है। अनेकेश्वरवाद के समान वैदिक देवगण अपनी-अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते। इस प्रकार वेद में अनेकेश्वरवाद के उदाहरण मिलते हैं। अनेकेश्वरवाद का अर्थ अनेक ईश्वरों में विश्वास है। अनेकेश्वरवाद वेद का स्थायी धर्म नहीं रह पाता है। अनेकेश्वरवाद से वैदिक धर्म का मात्र प्रारम्भ होता है।

देवताओं की संख्या अनेक रहने के फलस्वरूप वैदिक काल के लोगों के सम्मुख यह प्रश्न उठता है कि देवताओं में किसको श्रेष्ठ मानकर आराधना की जाय ? अनेकेश्वरवाद धार्मिक चेतना की माँग को पूरा करने में असमर्थ है। धार्मिक चेतना हमें एक ही देवता को श्रेष्ठ तथा उपास्य मानने के लिए बाध्य करती है। वैदिक काल में उपासना के समय अनेक देवताओं में कोई एक ही जो उपाास्य बनता है सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। जब इन्द्र की पूजा होती है तब उसे ही महान् तथा शक्तिशाली समझा जाता है। प्रो॰ मैक्समूलर ने वैदिक धर्म को हीनोथीज्म (Henotheism) कहा है। इसे 'अवसरवादी एकेश्वरवाद' भी कहा गया है। इसके अनुसार उपासना के समय एक देवता को सबसे बड़ा देवता माना जाता है। हीनोथीज्म का रूपान्तर एकेश्वरवाद (Monotheism) में हो जाता है। इसके अनुसार विभिन्न देवता एक ही ईश्वर के अलग-अलग नाम हैं। अत: वेद में अनेकेश्वरवाद, हीनोथीज्म तथा एकेश्वरवाद के उदाहरण मिलते हैं।

वेद के पश्चात् उपनिषद् दर्शन में ईश्वर का स्थान गौण प्रतीत होता है। उपनिषद् में ब्रह्म को चरम तत्व के रूप में स्वीकारा गया है। वेद के विभिन्न देवतागण पृष्ठभूमि में विलीन हो जाते हैं तथा ब्रह्म एवं आत्मा उपनिषद्-दर्शन में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करते हैं। देवताओं को यहाँ ब्रह्म का प्रकाशित रूप माना गया है। देवतागण अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर निर्भर करते हैं। ईश्वर का स्वतंत्र

अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अनेक देवताओं को उपनषिद्-दर्शन में द्वारपाल के रूप में चित्रित किया गया है। इससे देवताओं की तुच्छता प्रमाणित होती है।

उपनिषद्-दर्शन में ईश्वर के वस्तुनिष्ठ विचार का, जिसमें उपासक तथा उपपास्य के बीच भेद वर्तमान रहता है, खंडन हुआ है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति ईश्वर की उपासना यह सोचकर करता है कि वह तथा ईश्वर भिन्न है, ज्ञान से शून्य है। यद्यपि ईश्वरवाद उपनिषद् की विचारधारा से संगति नहीं रखता है फिर भी श्वेताश्वेतर तथा कठ उपनिषदों में ईश्वर की भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का मूल साधन माना गया है।

उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन मिलता है - (1) पर ब्रह्म (2) अपर ब्रह्म। पर ब्रह्म को ब्रह्म तथा अपर ब्रह्म को ईश्वर कहा गया है। पर-ब्रह्म असीम, निर्गुण, निष्प्रपञ्च है। अपर-ब्रह्म, इसके विपरीत, सीमित, सगुण तथा सप्रञ्च है। ईश्वर को उपनिषदों में सबको प्रकाश देने वाला तथा कर्मो का अधीष्ठाता माना गया है। वह स्वयंभू तथा जगत् का कारण है। माया उसकी शक्ति है। उपनिषदों में ईश्वर विचार को जान लेने के बाद भगवद्गीता के ईश्वर विचार की जानकारी आवश्यक है। भगवद्गीता में, ईश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद का संयोजन पाते हैं। गीता में ईश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद में वस्तुतः कोई विरोध नहीं दीखता है। गीता में विशेष रूप से 'विश्व रूप दर्शन' नामक अध्याय में सर्वेश्वरवाद का चित्र मिलता है। ईश्वर को, अक्षर, परम ज्ञानी, जगत का परम निधान तथा सनातन पुरूष कहा गया है। ईश्वर विश्व में पूर्णतः व्याप्त है। जिस प्रकार दूध में उज्जवलता व्याप्त है, उसी प्रकार ईश्वर विश्व में निहित है। यद्यपि गीता में सर्वेश्वरवाद मिलता है फिर भी गीता की मुख्य प्रवृत्ति ईश्वरवाद है। ईश्वरवाद को गीता का केन्द्र बिन्दु माना गया है।

गीता में ईश्वर को 'पुरूषोत्तम' कहा गया है। वह परम-ब्रह्म है। ईश्वर को प्रकृति और पुरूष से परे माना गया है। परम-ब्रह्म के दो स्वरूपों-व्यक्त और अव्यक्त का गीता में वर्णन किया गया है। परमात्मा के व्यक्त स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित उद्धरणों में दीखता है। "प्रकृति मेरा स्वरूप है।" (918) 'जीवात्मा मेरा ही सनातन अंग है।' (14/7) गीता में परमात्मा के अव्यक्त स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित उद्धरण में दीखता है। "यह परमात्मा अनादि, निर्गुण और अव्यक्त है, इसलिए शरीर में स्थित रहकर भी न तो कुछ करता है और न लिपायमान होता है।" (गीता 13/39)

यद्यपि गीता में परमात्मा के दोनों स्वरूपों का वर्णन मिलता है। फिर भी गीता में व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप को महत्वपूर्ण माना गया है। गीता के भगवान ने स्पष्ट रूप में कहा है कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक है तथा अव्यक्त रूप जो इन्द्रियों को अगोचर है, वही मेरा सच्चा स्वरूप है। महाभारत जिसका गीता अंश है में भी अव्यक्त ब्रह्मा को व्यक्त ब्रह्म की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। "मेरा सच्चा स्वरूप सर्वव्यापी, अव्यक्त और नितय है। उसे सिद्ध पुरूष पहचानते हैं।" (शा॰ 339,44/48)

गीता के पश्चात् भारतीय दर्शन की रूपरेखा में परिवर्तन होता है। दर्शन-सम्प्रदाय का विभाजन आस्तिक तथा नास्तिक वर्गो में होता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त आस्तिक दर्शन तथा चार्वाक, जैन, बौद्ध नास्तिक दर्शन के वर्गो में रखे गये हैं। आस्तिक-दर्शनों के ईश्वर विचार जानने के पूर्व नास्तिक-दर्शनों का ईश्वर सम्बन्धी विचार जानना आवश्यक होगा।

चार्वाक-दर्शन में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। वह ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है क्योंकि ईश्वर का कोई प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है। ईश्वर प्रत्यक्ष से परे होने के कारण असत् है क्योंकि प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एकमात्र साधन है। चार्वाक ईश्वर के प्रति निर्मम शब्दों का प्रयोग करता

है। जब ईश्वर नहीं है तब हर बात के पीछे ईश्वर को घसीट लाना अमान्य है। ईश्वर से प्रेम करना एक काल्पनिक वस्तु से प्रेम करना है। ईश्वर से डरना भ्रम है। अत: चार्वाक अनीश्वरवाद का जोरदार समर्थन करता है।

बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन में सैद्धान्तिक रूप से अनीश्वरवाद को अपनाया गया है। दोनों दर्शनों में ईश्वर के अस्तित्व का निषेध हुआ है। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को ईश्वर के सम्बन्ध में जानने से अनुत्साहित किया है। ईश्वर से प्रेम करना एक ऐसी रमणी से प्रेम करने के तुल्य है जिसका अस्तित्व ही नहीं है। ईश्वर को विश्व का कारण मानना भ्रामक है। संसार प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से संचालित होता है। बुद्ध ने अपने शिष्यों को ईश्वर पर नहीं निर्भर रहने का आदेश दिया। उन्होंने 'आत्मदीपो भव' का उपदेश देकर शिष्यों को आत्म-निर्भर रहने को प्रोत्साहित किया।

बौद्ध-दर्शन की तरह जैन-दर्शन में भी अनीश्वरवाद पर बल दिया गया है। ईश्वरवादियों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियों का आश्रय लिया गया है। जैन उन युक्तियों की त्रुटियों की ओर संकेत करता हुआ ईश्वर के अस्तित्व को अप्रमाणित करता है। जैन-दर्शन के अनुसार ईश्वर को विश्व का स्रष्टा मानना भ्रान्तिमूलक है। ईश्वर को स्रष्टा मान लेने से सृष्टि के प्रयोजनों की व्याख्या नहीं हो पाती है। साधारणत: चेतन प्राणी जो कुछ भी करता है वह स्वार्थ से प्रेरित होकर करता है या दूसरों पर करूणा के लिए करता है। अत: अत: ईश्वर को भी स्वार्थ से प्रेरित होकर करता है या दूसरों पर करूणा के लिए करता है। अत: ईश्वर को भी स्वार्थ या करूणा से प्रेरित होना चाहिए। ईश्वर स्वार्थ से प्रेरित होकर सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि वह पूर्ण है। इसके विपरीत वह करूणा से प्रभावित होकर संसार का निर्माण नहीं कर सकता है, क्योंकि सृष्टि के पूर्व करूणा का भाव उदय ही नहीं हो सकता। अत: ईश्वर विश्व का निर्माता नहीं है।

यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से बौद्ध-दर्शन में ईश्वर का खंडन हुआ है फिर भी व्यावहारिक रूप में ईश्वर का विचार किया गया है। महायान धर्म में बुद्ध को ईश्वर के रूप में माना गया है। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उन्हें ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं। हीनयान धर्म अनिश्वरवादी धर्म होने के कारण लोकप्रिय नहीं हो सका। महायान धर्म ने ईश्वर को प्रस्तुत कर लोकप्रिय धर्म होने का गौरव प्राप्त किया है।

जैन-दर्शन में भी प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर का निषेध हुआ है फिर भी परोक्ष रूप में ईश्वर का विचार कियाग या है। जैन-दर्शन में ईश्वर के स्थान पर तीर्थङ्करों को माना गया है। ये मुक्त होते हैं। जैन-दर्शन में पंच परमेष्टि को माना गया है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु जैनों के पंचपरमेष्टि है। जहाँ तक ईश्वर विचार का सम्बन्ध है बौद्ध और जैन दर्शनों को एक ही धरातल पर रखा जाता है। दोनों दर्शनों में अनीश्वरवाद को मीमांसा पाते हैं।

न्याय-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व पर बल दिया गया है। न्याय ईश्वरवादी है। ईश्वरवाद न्याय-दर्शन की अनुपम देन है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये नैयायिकों ने अनेक प्रमाणों का आश्रय लिया है। पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये जिन-जिन युक्तियों का प्रयोग हुआ है, उन सभी युक्तियों का समावेश प्राय: न्याय के ईश्वर सम्बन्धी युक्तियों में है।

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय-दर्शन में अत्यधिक चर्चा पाते हैं। ईश्वर विश्व का स्रष्टा है। वह शून्य से संसार की सृष्टि नहीं करता है। वह विश्व की सृष्टि नित्य परमाणुओं दिक् काल, आत्मा, मन के द्वारा करता है। यद्यपि ईश्वर विश्व का निर्माण अनेक द्रव्यों के साथ ईश्वर का वही

सम्बन्ध है जो संबंध शरीर का आत्मा के साथ है। ईश्वर संसार का पोषक है। संसार उसकी इच्छानुसार कायम रहता है। वह संसार का संहारक भी है। जब-जब ईश्वर विश्व में नैतिक और धार्मिक पतन पाता है तब-तब वह विध्वंसक शक्तियों के द्वारा विश्व का विनाश करता है। वह विश्व का संहारक नैतिक और धार्मिक अनुशासन के लिये करता है। ईश्वर मानव का कर्म-फल दाता है। मानव के शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर सुख अथवा दु:ख प्रदान करता है। कर्मों का फल प्रदान कर ईश्वर जीवात्माओं को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है। न्याय का ईश्वर व्यक्तिपूर्ण है। ईश्वर में ज्ञान सत्ता और आनन्द निहित है। ईश्वर दयालु है। ईश्वर की कृपा से मानव मोक्ष को अपनाने में सफल होता हैं तत्त्व-ज्ञान के आधार पर ही मानव मोक्ष की कामना करता है। न्याय ईश्वर को अनन्त मानता है। वह अनन्त गुणों से युक्त है।

न्याय की तरह वैशेषिक भी ईश्वरवाद का समर्थक है। वैशेषिक ने ईश्वर को एक आत्मा कहा है जो चैतन्य से युक्त हैं वैशेषिक के मतानुसार आत्मा दो प्रकार की होती है - (1) जीवात्मा (2) परमात्मा। परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। वह विश्व का स्रष्टा, पालक एवं संहारक है।

सांख्य के समर्थकों में ईश्वर को लेकर कुछ वाद-विवाद है। सांख्य दर्शन के कुछ टीकाकार ईश्वरवादी हैं। इनमें विज्ञान भिक्षु मुख्य हैं। उनके मत से सांख्य अनीश्वरवादी नहीं है। सांख्य ने केवल इतना ही कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिये कोई प्रमाण नहीं है। ईश्वर असिद्ध है। इससे यह निष्कर्ष निकालना कि सांख्य अनीश्वरवादी है, अमान्य जँचता है। इसके विपरीत सांख्य ईश्वरवादी है। विज्ञान भिक्षु का कहना है कि यद्यपि प्रकृति से समस्त वस्तुएँ विकसित होती हैं तथापि अचेतन प्रकृति को गतिशील करने के लिये ईश्वर के सान्निध्य की आवश्यकता होती है। उनके अनुसार युक्ति तथा शास्त्र दोनों से ही ऐसे ईश्वर की सिद्धि होती है। परन्तु सांख्य की यह ईश्वरवादी व्याख्या अधिक मान्य नहीं है। अधिकांश टीकाकारों ने सांख्य को निरीश्वरवादी (Atheistic) ही माना है।

संदर्भ ग्रंथ

1. भारदीय दर्शन की रूपरेखा - प्रो॰ हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, 1993
2. प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थान, डॉ॰ जी॰पी॰ नेभा, डॉ॰ हरिश्चन्द्र शर्मा, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।
3. हिन्दू राजतंत्र, खण्ड-1, रामचन्द्र वर्मा, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।
4. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास - रति भानुसिंह नाहर, मानक पब्लिकेशंस प्राईवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2001
5. उत्तर वैदिक समाज व संस्कृति- विजय बहादुर राव, प्राच्य प्रकाशन, पटना, 1999
6. वैदिक साहित्य- बलदेव उपाध्याय, जानकी प्रकाशन, पटना, 1991

◆

इतिहास

बिहार में किसानों की स्थिति एवं समस्याएँ

एक ऐतिहासिक मूल्यांकन

डॉ० मीना कुमारी

भागलपुर

किसान आंदोलन के प्राण स्वामी सहजानंद सरस्वती के अनन्य सहयोगी यदुनंदन शर्मा ने भारतीय किसानों की वस्तुस्थिति का सही चित्रण उपस्थित करते हुए कहा है- ''मेरी आँखें किसानों के कलेजे पर जो तीन बहुत भारी चट्टानों देख रही हैं वे हैं, अंग्रेजी सरकार, महाजनी प्रथा और जमींदारी प्रथा।''[1] वस्तुत: भारतीय किसानों की वर्त्तमान दुर्दशा क लिए मुख्यत: ब्रिटिश साम्राज्यवाद का शोषक स्वरूप जिम्मेदार रहा है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. राधा कमल मुखर्जी ने लिखा है कि, ''पिछले पचास वर्षों में भूमि के स्वाभाविक और काश्तकारी में हुए परिवर्तनों की यदि हम छान-बीन करें तो पता चलेगा कि यह अव्यवस्थित वितरण दिनोंदिन और भी बुरा होता जा रहा है। छोटी जोत वालों की आर्थिक स्थिति खराब हुई है जबकि जमींदारों और जमीन से वंचित किये गये किसानों, लगान-वसूली करने वाले वर्ग और खून-पसीना एक करने वाले कृषि दासों के बीच जो विषमता व्याप्त ह, वह कृषि संबंधी हमारे इतिहास के एक नाजुक दौर की सूचना देता है।''[2]

स्थिति को और भी स्पष्ट करते हुए प्रो. मुखर्जी ने आगे लिखा है, ''भारी जनसंख्या के दबाव के कारण इन जोतों की संख्या इतनी कम हो गयी है और इनमें इतना बिखराब आ गया है कि अब कोई न तो अपने परिवार के सभी सदस्यों के श्रम से लाभ उठा सकता है और न ही जीवन निर्वाह स्तर कम होने के कारण अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है। साथ ही जमींदार की भूमिका अब लगान प्राप्त करने वाले की हो गयी है जबकि पहले उसकी भूमिका सम्पत्ति पैदा करने वालों की थी। कृषि के कार्यों द्वारा उसने अब अपनी पुरानी और सम्मानीय भूमिका निभाना छोड़ दिया है। आज वह न तो कृषीय पूँजी की सप्लाई करता है और न ही खेती के कार्यों का ही संचालन करता है। जमींदार से नीचे बिचौलियो का एक वर्ग तैयार हो गया है। इन बिचौलियों ने मौजूदा भूमि प्रणाली की जटिलताओं से भरपूर लाभ उठाया है। और उन्होंने वास्तविक खेतिहारों की कष्टकर स्थिति को और भी गंभीर बनाया है। यह ओलोचना नहीं बल्कि, तथ्यों का सारांश है कि पुरानी व्यवस्था टूट चुकी है और इसके स्थान पर एक नयी व्यवस्था का जन्म अनिवार्य है जो कृषि संबंधी जीवन और सामाजिक जीवन की वर्त्तमान स्थितियों के अनुकूल हो।''[3] सुविख्यात मार्क्सवादी चिंतक रजनी पाम दत्त ने कृषि के क्षेत्र में संकट पर टिप्पणी करते हुए लिखा है- ''भारतीय किसानों की गरीबी और दुर्दशा विश्व की भयानकतम सच्चाईयों में से एक है, और भारत की कृषि समस्या को साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत देश की सामान्य अर्थव्यवस्था तथा साम्राज्यवादी शासन द्वारा सम्पोषित मौजूदा सामाजिक संरचना से अलग करके नहीं देखा जा सकता।''[4]

पातदत्त ने अपनी बातों को और भी स्पष्ट ढंग से रखते हुए कहा है कि ''भारतीय कृषि के बढ़ते हुए संकट का कारण न तो प्राकृतिक परिस्थितियाँ है और न ही किसानों की कुशलता अथवा साधन

संपन्नता का अभाव है। जिन सीमाओं के अंतर्गत उन्हें काम करना पड़ता है उन्हें यदि देखें तो यह कहना गलत होगा कि भारतीय किसानों की गरीबी का कारण उनका तथाकथित पिछड़ापन है जिसकी वजह से उनका विकास नहीं हो पा रहा है। वस्तुत: इस संकट का कारण साम्राज्यवाद है और साथ ही साम्राज्यवाद द्वारा पोषित थे सामाजिक संबंध हैं जिनकी वजह से कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ता जा रहा है, कृषि के विकास में गतिरोध पैदा हो गया है, उसमें गिरावट आने वाली है, अधिकांश किसानों को दिनोंदिन परेशान रहना पड़ता है और आधा पेट खाकर किसी तरह गुजर-बसर करना पड़ता है।''[5]

भारत में जमींदारी प्रथा के साथ ब्रिटिश शासन का गठबंधन तो था ही और भारतीय किसान दोनों का सम्मिलित शोषण आधार था। इतना हीं नहीं, ''ब्रिटिश कानूनी प्रणाली'' ने महाजन को कर्जदार की कुर्की करने और जमीन का हस्तांतरण करने का अधिकार देकर सूदखोर महाजनों को स्वर्ण अवसर प्रदान किया और इनकी मदद के लिए पुलिस और कानून की पूरी ताकत उनके पीछे लगा दी। इस प्रकार सूदखोर महाजन पूँजीवादी शोषण की समूची व्यवस्था की धुरी बन गया।''[6] इस प्रकार भारतीय कृषि संकट का अध्ययन यह बतलाता है कि किसान मुख्यत: तीन प्रकार के बोझों से दबे हुए थे- सरकार को दिया जाने वाला राजस्व और अन्य अप्रत्यक्ष कर, जमींदार को दिये जाने वाले लगान एवं अन्य गैरकानूनी सामंत कर तथा महाजन को अदा किये जाने वाले मूल कर्ज और उनके ब्याज, इस तीनों बोझ के नीचे भारतीय किसान दबा हुआ था।

भारतीय किसानों के संबंध में यह प्रसिद्ध कहावत है कि वह कर्ज में जन्म लेता है, कर्ज में जीता है, कर्ज में मरता है और अपनी संतान को भी विरासत में कर्ज ही देकर जाता है। यों तो सारा देश ही पीड़ित था तथापि बिहार, संयुक्त प्रांत और उड़ीसा के किसानों की स्थिति और देश भी दयनीय थी।[7] यद्यपि चिरस्थायी प्रबंध द्वारा जमींदारों को जमीन का मालिक घोषित कर दिया गया था तथापि सरकार को यह अधिकार था कि वह जमींदार और रैयत के बीच संबंधों को नियमित करने के लिए नये कानून बनाये या अन्य प्रकार से हस्तक्षेप करें। फरवरी 1790 को अपने मिनट में लार्ड कार्नवालिस ने सर जान शोर के विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि सरकार को यह हक होगा कि वे जमींदारों को जोत की जमीन पर नये अबवाब (तरह-तरह की सामंती कर) या अन्य करों के लगाने पर रोक लगा सके। सरकार ऐसा तभी नहीं कर सकती जब वह रैयतों को जमींदारों का पूर्ण गुलाम मान ले। कार्नवालिस ने अपने उस नोट में स्पष्ट लिखा था, ''प्रत्येक टैक्स जो जमींदार द्वारा लगाया जाता है वह समझौते के विरूद्ध है तथा देश के परंपरागत नियमों का उल्लंघन है।''[8]

किन्तु, लार्ड कार्नवालिस के ये विचार कागज पर ही रहे और जमींदारों ने किसानों को वस्तुत: अपना दास बना लिया था। सरकार ने जमींदारों के प्रभाव में आकर बाद में कई ऐसे कानूनी संशोधन किये जिसने जमींदारों को सुविधा के साथ लगान वसूलने के नाम पर उन्हें व्यापक अधिकार दे दिया जिससे वे रैयतों को उनकी जमीन से बेदखल कर सकते थे और उन्हें रैयतों पर लगान की दर बढ़ाने और नये करों का आरोपन का, अधिकार मिलता चला गया था। 1799-1812 और 1822 में बनाये गये नियम इसी प्रकार के थे। रामनारायण सिन्हा ने अपनी पुस्तक में बिहार के एक मजिस्ट्रेट ए. टफ्टोन के कथन का उल्लेख किया है जिसमें कहा गया है कि, ''हफताम कानून के द्वारा जमीन के मालिकों को, किसानों को जो बेदखल करने का अधिकार दिया गया है उसमें रैयतों के खिलाफ बहुत-सी शिकायतें बढ़ गयी हैं। उसने दो सौ उन रैयतों के खिलाफ जो जेल में डाल दिये गये थे, लगाये गये आरोपों की जांच की और उन्हें झूठा पाया।''[9] लगान के बकाये के नाम पर रैयतों को जमीन से बेदखन करने की यह धारा उस समय (1800) से ही जमींदारों और किसानों के बीच

झगड़े का एक मूल कारण बनी हुई थी और प्रस्तुत निबंध के काम में भी बकाश्त संघर्ष उसी का एक परिणाम है। श्री सिन्हा ने लिखा है कि ''1841 तक सरकार द्वारा बनाये गये जमीन संबंधी सभी कानून जमींदारों और सरकार के हित में थे, रैयतों को उससे कोई लाभ नहीं था। रैयतों के हकों को हिफाजत के नाम पर कई नियम बनाये गये थे किन्तु, ये सभी उनके अधिकारों को सुरक्षा देने में असमर्थ थे।''[10] राकेश गुप्ता ने विस्तार के साथ बिहार के विभिन्न उद्धरणों के द्वारा यह बतलाया है कि पट्टा से संबंधित नियमावलियाँ लगान के संबंध में परगना दर, पटवारी संबंधी व्यवस्था और रैयतों की प्राप्ति रसीद देने की व्यवस्था, किसी प्रकार नाकामयाब सिद्ध हुई।[11]

पट्टा नियमों के द्वारा यह उम्मीद की गयी थी कि जमींदार प्रत्येक रैयत को बंदोबस्ती के समय एक लिखित पट्टा देंगे जिस पर बंदोबस्ती की शर्तें लिखी होंगी। किन्तु अधिकांश इलाकों में यह कानून लगा ही नहीं हुआ था। रामगढ़ और पूर्णिया को इस नियम से बरी कर दिया गया था। जे. ए. हुब्बैक के अनुसार, शाहाबाद में यह पूर्णत: विफल था। ''बिहार और बंगाल के अन्य जगहों की तरह चंपारण में भी यह नियम लागू नहीं किया गया था। यही स्थित परगना रेट की भी हुई। परगना रेट साबित करने की जिम्मेवारी रैयतों की थी और यह काम उनके लिए सर्वथा मुश्किल था। बिहार के जमींदारों ने इस कमजोरी का लाभ उठाकर प्राय: सभी जगह लगान में अधिनियम बढ़ोत्तरी की। अशिक्षित रैयतों को कानूनी और कागजात संबंधी सहायता पहुँचाने के नाम पर पटवारी संस्था का जन्म दिया गया। यह उम्मीद की गयी थी कि पटवारी रैयतों के कागजातों को सही और सुरक्षित रखेगा किन्तु उसकी नियुक्ति और उसका वेतन जमींदारों के हाथों में था। जमींदार द्वारा नियुक्त और उनके द्वारा वेतन प्राप्त पटवारी से रैयतों के हित की सुरक्षा की कल्पना ही एक विडम्बना थी। आम तौर पर सभी जगह जमींदारों ने पटवारी की नियुक्तियाँ नहीं की और जहाँ कहीं ऐसा हुआ भी, वे जमींदारों के एजेंट मात्र साबित हुए।''[12]

1924-25 तक सरकार ने अपने प्रतिवेदन में स्वीकार किया है कि ''पटवारी रेगलेशन-ग्प्प ऑफ 1817'' करीब-करीब मृतप्राय हो गया था। रैयतों को लगान प्राप्ति की रसीद प्राप्त होने का मतलब था कि उन्हें अपनी काश्त की जमीन का सबूत प्राप्त होता और लगातार बारह वर्षों तक प्राप्त यह सबूत उन्हें जमीन पर अधिकार दिला सकता था किन्तु, बिहार के जमींदार आमतौर पर रैयतों को प्राप्ति रसीद नहीं देते थे। बिहार और उड़ीसा के लैण्ड रेकर्ड्स और सर्वे विभाग के डायरेक्टर जे. रीड ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा था- ''लगान की रसीदें देने से इंकार करना निश्चित रूप से बिहार के जमींदारों के बड़े संगठन की ईमानदारी पर एक कलंक का चिन्ह है।'' हमें इस बात के भी काफी उदाहरण मिलता है जिसमें बिहार के विभिन्न जमींदारों ने लगान में काफी वृद्धि की थी। किन्तु वे उसकी कोई रसीद नहीं देते थे। ''बिहार प्रांतीय किसान सभा'' द्वारा स्वामी सहजानंद सरस्वती की अध्यक्षता में गठित जाँच समिति ने गय जिले की स्थिति की जांच कर जो रिपोर्ट तैयार की थी। वह गया के किसानों की ''करूण-कहानी'' नाम से प्रकाशित है। इसमें भी स्पष्ट लिखा गया है कि जमींदार कानून का उल्लंघन कर रैयतों को लगान प्राप्ति की कोई रसीद नहीं देते थे। फलत: उनके पास अपनी जमीन का कोई सबूत नहीं होता था और बकाये के नाम पर उन्हें आसानी से बेदखल किया जाता था। अपने अनुभव के आधार पर और किसानों की स्थिति बदत्तर होते देखकर जब बहुत सारे अंग्रेज अधिकारियों ने भी जमींदारों की गैरकानूनी हरकतों की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट कराया तब सरकार की ओर से रैयतों के हित की दृष्टि से भी कई कानून बनाये गये। उसमें सर्वप्रथम 1885 का ''बंगाल काश्तकारी कानून'' है। बाद में इसमें और कई संशोधन भी किये गये। 1885 के काश्तकारी कानून को कुछ कड़ा बनाया गया, लगान प्राप्ति की रसीद देना लाजिमी कर

दिया गया और जमींदारों द्वारा लगान स्वीकार नहीं करने पर मनिआर्डर द्वारा लगान देने की व्यवस्था की गयी, किन्तु अपने पिछड़ेपन, अशिक्षा और संगठन के अभाव के कारण इन थोड़ी-सी राहतों से भी लाभ उठाने में किसान असमर्थ थे। जमींदारों की शोषण प्रक्रिया में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ था। सरकार द्वारा सर्वे सेटलमेंट के समय बड़े पैमाने पर यह बात सामने आयी कि किस प्रकार जमींदार अपने क्षेत्रों में गैरकानूनी अववाब वसलते थे और धीरे-धीरे वह लगान का ही हिस्सा बन जाता था। मुंगेर, गया और पटना जिलें में स्थिति सबसे खराब थी। शाहाबाद की रिपोर्ट में आठ प्रकार के अबवाबों की चर्चा है। मुंगेर और पटना के संबंध में जे.ए. हुब्बैक ने अप ने नोट में लिखा है कि दानाबंदी प्रथा के साथ कई प्रकार के अबवाब वसूल किये जाते थे। जैसे दहियक अर्थात् दसवां हिस्सा, मोचा, मांजक, अमीन खर्चा आदि। दहियक कभी-कभी फसल का 16वाँ या 32वाँ भाग भी होता था। कहीं-कहीं मन-सेरी भी होता था। इसी तरह विभिन्न जिलों में तरह-तरह की प्रथाओं द्वारा किसानों का शोषण किया जाता था।

किसानों को ने केवल गैर-कानूनी प्रथाओं का ही शिकार होना पड़ता था, बल्कि उनकी जबरदस्ती वसूली के समय उन कई तरह के अत्याचार भी किये जाते थे। गया के किसानों की ''करूण कहानी'' के अतिरिक्त रामवृक्ष बेनीपुरी ने भी पटना जिले के मसोढ़ी परगने के संबंध में रोमांचक रिपोर्ट तैयार की थी। दरभंगा राज की जमींदारी में स्थिति सबसे खराब थी। पूर्णिया जिले के धर्मपुर परगने के किसानों की दरयनीय स्थिति का काफी उदाहरण मिलता है। किसानों पर किये जाने वाले अत्याचारों की चर्चा करते हुए विभिन्न प्रतिवेदनों में कहा गया है कि किसानों को जूते की माला पहनायी जाती थी, उन्हें उल्टा टांग दिया जाता था, उनकी लड़कियों को बेचकर लगान वसूल किया जाता था, उन्हें कम्बल में लपेट कर कड़के की धूप में सोने के लिए मजबूर किया जाता था, जाड़े में पानी में खड़ा होना पड़ता था और पुलिस उनके घेर कर मार-पीट करती थी और उन्हें जुर्माना भी किया जाता था।

संदर्भ सूची

1. चिंगारी, बुकलेट, फरवरी 1938.
2. राधाकमल, मुखर्जी, लैण्ड प्रॉब्लेम्स ऑफ इण्डिया, पृ. 411, 361-362.
3. रजनी पाम दत्त, आज का भारत, पृ. 216-217, 217-238, 266
4. राकेश गुप्ता, बिहार पीजेन्टरी एण्ड दी किसान सभा, पृ. 5, 9
5. रामनारायण सिन्हा, बिहार टिनेन्टरी 1783 से 1833, बम्बई 1968, पृ. 112, 121
6. राकेश गुप्ता, पृ. 6 से 12, 249, 25-26, 31-32
7. गिरिश मिश्रा, एग्रेरियन प्रॉब्लेम्स ऑफ परमानेंट सेटलमेंट, केस स्टडी ऑफ चंपारण, पृ. 127
8. रिपोर्ट आन दी लैंड रेवेन्यु एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी प्रोविंस ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा, 1924-25, पृ. 13
9. राकेश गुप्ता, वही, पृ. 14-15, पी. डब्लू. मरफी, फाइनल रिपोर्ट आन दी सर्वे एण्ड सेटलमेंट ऑपरेशन इन दी मुंगेर जिला (1905-1912) सुपरिटेंडेंट, रांची, पारा 79
10. नोट जे.ए. हुब्बैक, फाइनल रिपोर्ट ऑन दी सर्वे एण्ड सेटलमेंट ऑपरेशन इन दी डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ शाहाबाद, पृ. 165
11. आर.ए.ई. विलियम्स, फाइनल रिपोर्ट ऑन द रेनट सेटलमेंट ऑपरेशन अण्डर सेक्शन 112, शाहाबाद और मुंगेर, 1943
12. संपादक अ. ज. मानफ, संक्षिप्त विश्व का इतिहास, दूसरा भाग, पृ. 241-242

◆

इतिहास

ऋग्वैदिक काल से उत्तरवैदिक काल तक सामाजिक जीवन में परिवर्तन

अनूप भारती

नव नालंदा महावीर, नालंदा

वैदिक काल को अध्ययन की सुविधा से दो भागों में बाँटा गया है। किसी भी सभ्यता के काल का विभाजन अत्यंत कठिन कार्य है। आर्यो के भारत में प्रवेश से लेकर ऋग्वेद की रचना और उसके बाद की सभ्यता ऋग्वैदिक काल के नाम से जानी जाती है। इस सभ्यता की जानकारी का मूल स्रोत ऋग्वेद ही है। अतः ऋग्वैदिक काल से अभिप्राय उस युग से है, जिसका विवेचन ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वैदिक काल के बाद जिस काल में सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रंथों अरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना हुयी, उसे उत्तर वैदिक काल के नाम से जाना जाता है।

समाज

समाज की न्यूनतम इकाई परिवार थी। होमरकालीन यूनानी पिता के समान ऋग्वैदिक पिता के अधिकार भी असीम थे। ऋग्वेद में उल्लेख है कि एक पिता ने अपव्यय के अपराध में अपने पुत्र को अंधा बना दिया था। ऋग्वेद कालीन समाज की व्यवस्था का प्रमुख आधार वर्णव्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप कार्य के चयन की स्वतंत्रता थी। अतः व्यक्ति के कर्म का विशिष्ट महत्व था, क्योंकि व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसके कर्म से होता था। अपने गुण एवं कर्म के अनुरूप किये गये कर्त्तव्य समाज में वर्ण-धर्म के नाम से अभिहित किये जाने लगे। 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृज वरणे' धातु से हुयी है, जिसका अभिप्राय है 'वरण करना।' इस प्रकार 'वर्ण' से तात्पर्य किसी विशेष व्यवसाय (या वृत्ति) से लिया जाता है। ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग 'रंग' अथवा 'प्रकाश' के अर्थ में हुआ है। कहीं-कहीं वर्ण का संबंध ऐसे जन वर्गों से दिखाया गया है, जिनका चर्म काला या गोरा है। प्रारंभ में आर्य एक ही वर्ण के थे और आर्यो का समूह विश कहलाता था। इस समय वर्ण, रंग का बोधक था। आगे चलकर दास भी उनसे जुड़ गये। ऋग्वेद की प्रारंम्भिक स्थिति में समाज के दो वर्ण थे, अर्थात् आर्य और दास। इस ग्रंथ में उल्लिखित है कि उग्र प्रकृति के ऋषि अगत्स्य ने दोनों वर्णों का पोषण किया।

जब उत्पादन अधिशेष की स्थिति उत्पन्न हुयी तो विश का विभाजन योद्धा, पुरोहित एवं सामान्य लोगों में हो गया। इस तरह वर्ण व्यवस्था का आधार अब कर्म हो गया। ऋग्वेद में एक छात्र लिखता है- 'मैं कवि हूँ, मेरे पिता चिकित्सक हैं; और मेरी माता आटा पीसती हैं....।' ब्रह्मक्षत्र की अवधारणा ऋग्वैदिक काल में ही सामने आयी, जिसका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से था, जो जन्म से क्षत्रिय, किंतु कर्म से ब्राह्मण हो। इससे संकेत मिलता है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय द्वंद्व प्रारंभ हो चुका था और क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती दी जा रही थी। कर्म से एक राजन पुरोहित हो सकता था एवं

पुरोहित राजन। महर्षि विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुये भी कर्म से ब्राह्मण थे। उसी तरह ऋषि भृगु के बारे में कहा जाता कि 'भृगु' के वंशज ने अनेक राज्यों की स्थापना की। ऋग्वेद में ब्राह्मण की चर्चा चौदह बार हुयी है, जबकि क्षत्रिय शब्द की चर्चा नौ बार हुयी है। प्रथम बार शूद्र की चर्चा ऋग्वेद के दसवें मंडल के पुरुष सूक्त में हुयी है। वैश्य शब्द का भी प्रथम बार प्रयोग यहीं मिलता है। इसमें चारों वर्णों की तुलना ब्रह्मा के शरीर के अंगों से की गयी है। ब्राह्मण की तुलना ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की भुजा से, वैश्य की जंघा से एवं शूद्र की पैर से की गयी है।

सामाजिक व्यवस्था का आधार रक्त संबंध था। समाज पितृसत्तात्मक था। परिवार का मुखिया स्वाभाविक रूप में मानवीय एवं करुणाशील होता था। सिर्फ एक-दो उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि घर का मुखिया कभी-कभी संतान को क्रूर रूप में भी दण्डित करता था। ऋजास्व एवं भुज्यु की कथा में इसका उल्लेख है। ऋजास्व का आख्यान, जिसमें उसे सौ भेंड़ों को गंवा देने के अपराध में अपने पिता द्वारा अंधा कर दिये जाने की चर्चा मिलती है। इसके द्वारा पुत्र के ऊपर पिता का पूर्ण नियंत्रण प्रदर्शित होता है। इस तरह के आख्यान को अपवाद स्वरूप ही लिया जाना चाहिए, क्योंकि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्र के कल्याण की कामना हेतु निवेदन भी किया गया है। वैदिक समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था थी। पुत्र का समाज में विशेष महत्व था। पुत्र न होना दरिद्रता के समान कहा गया है। पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र को संपत्ति में अधिक हिस्सा मिलता था। वैदिक काल में विवाह पवित्र संस्कार माना जाता था, जो व्यक्ति एवं सामाजिक विकास के लिए आवश्यक था। याजक कार्यों हेतु पति एवं पत्नी दोनों की उपस्थिति वांछनीय थी। अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि 'हे अग्ने! तुम कन्याओं के अर्यमा अर्थात् विधान कर्ता के तुल्य हो, तुम जब पति-पत्नी को समान मन वाला बनाते हो, तब वे तुम्हें धृत-दुग्ध द्वारा बंधु के समान सींचते हैं।' लड़कियों को अपने पति का चयन करने की स्वतंत्रता थी। परिवार का प्रधान 'कुलप' कहलाता था।

स्त्रियों की स्थिति

ऋग्वैदिक काल में साधारणतया एक पत्नीव्रत की प्रथा ही प्रचलित थी। समाज पितृसत्तात्मक था, किंतु स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। बाल विवाह का प्रचलन नहीं था। लड़कियों का विवाह 16 या 17 वर्ष की उम्र में होता था। विधवा एवं अंतर्जातीय विवाह भी होता था। बहुपतित्व विवाह एवं रक्त संबंध में विवाह के कुछ चिह्न मिलते हैं, उदाहरण के लिए यमी ने अपने भाई यम से विवाह का अनुरोध किया, परंतु यम ने उसे अस्वीकार कर दिया। रोदसी को मारुतों ने मिलकर भोगा। उसी तरह अश्विन कुमार दोनों भाई सूर्य की पुत्री सूर्या के साथ रहते थे, किंतु इस विषय में हम कह सकते हैं कि यह आदिम अवस्था के अवशेष थे। बहुपतित्व की प्रथा वास्तव में ऋग्वैदिक काल में नहीं थी। संभवतः उच्च कुल के संपन्न लोग एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे। इसलिए हम कह सकते हैं कि पुरुषों में बहुविवाह की प्रथा थी। स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी और उन्हें भी उपनयन संस्कार का अधिकार था। बहुत-सी महिलायें विदुषी थीं। उदाहरण के लिए लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, विश्वारा, सिक्ता आदि। लोपामुद्रा क्षत्रिय वर्ण की थी, किंतु उसकी शादी ऋषि अगत्स्य से हुई। तलाक, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नीत्व का प्रचलन नहीं था। दूसरी तरफ विधवा विवाह एवं नियोग प्रथा का प्रचलन था। नियोग प्रथा में विधवा स्त्री को पुत्र प्राप्ति के लिए अपने देवर के साथ पत्नी के रूप में रहना था।

विदुषी महिलाओं को 'ऋषिका' या 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। जीवन भर अविवाहित रहने वाली लड़कियों को 'अमाजू' कहा जाता था और इस स्थिति में यदि पुत्री पिता के घर में ही रहती

है तो वह पिता की संपत्ति की हिस्सेदार होती थी। अपाला द्वारा अपनी पैतृक संपत्ति में हिस्सा प्राप्ति का उल्लेख ऋग्वेद के आठवें मंडल में है। स्त्रियाँ 'सभा' एवं 'समिति' में भाग लेती थीं। साथ ही, वे पति के साथ यज्ञ में भी भाग लेती थीं। ऋग्वेद में समनो (उत्सवों) का उल्लेख हैं, जिनमें कन्यायें स्वयं अपनी पति को वरण कर लेती थीं। कभी-कभी शारीरिक बीमारी के कारण विवाह में विलंब भी हो सकता था। उदाहरण के लिए चर्म रोग के कारण घोषा का विवाह बहुत समय तक नहीं हुआ।

दास व्यवस्था

दास व्यवस्था ऋग्वैदिक काल में प्रचलित थी। इनके दान देने का भी उल्लेख मिलता है। दासों की तुलना में दासियों के दान के अधिक उल्लेख मिलता है। दासों का उपयोग घरेलू दासों के रूप में होता था। कृषि में अभी इन्हें नहीं लगाया गया था।

शिक्षा

शिक्षा की चर्चा सातवें मंडल में है। ऋग्वैदिक कालीन शिक्षण संस्थाओं का स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता है, तथापि एक सूक्त से तत्कालीन शिक्षा प्रणाली के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। ऋग्वेद के इस सूक्त में मेंढकों के टर्राने की तुलना गुरु द्वारा उच्चारित शब्दों के विद्यार्थियों द्वारा सामूहिक स्वर में दोहराने से की गयी है। इससे वैदिक शिक्षा प्रणाली एवं शिक्षण संस्थाओं के अस्तित्व का बोध होता है। निश्चित रूप से इनमें वैदिक मंत्रों की शिक्षा दी जाती होगी। इसके अतिरिक्त छंदशास्त्र, ज्यामिति, इतिहास आदि के शिक्षण की व्यवस्था रही होगी। शिक्षा में वाद-विवाद का भी प्रचलन रहा होगा, ऐसे संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद से बारह महीनों की चर्चा के साथ-साथ वर्ष विशेष में पड़ने वाले अधिक मास का उल्लेख आया है।

उत्तरवैदिक समाज में शिक्षा

इस काल में अपार साहित्य की रचना हुई। वैदिक साहित्य का अपार भंडार इस तथ्य का द्योतक है कि प्राचीन काल में शिक्षा की सुनियोजित व्यवस्था थी। उत्तर वैदिक काल को बौद्धिक विकास का युग कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि इसी काल में विशाल वैदिक साहित्य का सृजन हुआ, जिसका आधार था उपनयन संस्कार के द्वारा विद्यार्थी जीवन के साथ ही सुनियोजित शिक्षा प्रणाली का प्रारंभ। वैदिक शिक्षा पद्धति का प्रधान आधार था शिक्षक, जिसे आचार्य या गुरु कहा जाता था। शिक्षा का अभिप्राय प्राचीन काल में केवल पुस्तकीय ज्ञान न होकर अंतर्दृष्टि का विकास भी कहा गया है, ऐसी अंतर्दृष्टि का विकास जिससे मोक्ष प्राप्त हो सके।

पिता से ही प्रारंभ में पुत्र को शिक्षा मिलती थी, जैसा कि हमें बृहदारण्यक उपनिषद् के श्वेतकेतु आरुणेय आख्यान से ज्ञात होता है। गुरुकुल प्रणाली प्राचीन भारतीय शिक्षा की प्रमुख विशेषता थी, जिसके अंतर्गत विद्यार्थी को 'अंतेवासी' अर्थात् आचार्य के सान्निध्य में रहना (आश्रम में) होता था। विद्यार्थी का प्रमुख कार्य इस दौरान गुरु के पास रहकर गुरु की सेवा तथा अध्ययन करना था। प्रत्येक शिष्य का स्तर आश्रम में समान था, सबको समान रूप से जलाने की लकड़ियाँ (समिधायें) एकत्र करना, गौचारण तथा भिक्षाटन करना होता था। इस प्रक्रिया से विद्यार्थियों में छोटे-बड़े की भावना का विकास नहीं हो पाता था। अध्ययन का साहित्य वैदिक काल में बहुत विशाल था। शतपथ ब्राह्मण ने स्वाध्याय के अंतर्गत ऋचाओं, यजुष्, साम एवं अथर्ववेद, इतिहास, पुराण व गाथाओं का उल्लेख किया है।

गोपथ ब्राह्मण में सभी वेद, कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, अनुशासन आदि को अध्ययन योग्य साहित्य कहा गया है। एक विवरण छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है, जिसमें नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि–उन्होंने (नारद ने) चारों वेद, इतिहास, पुराण (पंचम वेद रूप), व्याकरण, राशि (अंकगणित), दैव (लक्षण विद्या), निधि (खनिज उत्खनन विद्या), एकायन (राजनीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (छन्द एवं ध्वनि विद्या), क्षत्र विद्या (धनुर्वेद), नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या एवं देवजन विद्या (गान एवं नृत्य) सीख ली थी। इससे प्रतीत होता है कि उस युग में इन विषयों की शिक्षा दी जाती थी। आश्रमों में विशेष रूप से ब्रह्मविद्या सीखने का अवसर मिलता था, जिससे शिष्य का आत्मिक विकास एवं नैतिक उत्थान होता था। यही भारतीय शिक्षा पद्धति की रीढ़ थी। इसी परिप्रेक्ष्य में विशाल वैदिक साहित्य का सृजन संभव हुआ। जिससे सारे विश्व को आर्य सभ्यता का ज्ञान हुआ।

मनोरंजन

मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन संगीत था। ऋग्वेद के मंडूक सूत्र में सोम रस निकालने में जुटे ब्राह्मणों के संगीतपूर्ण पाठ के उल्लेख है। पुरुष नर्तक को 'नृत्य' तथा स्त्री नर्तक को 'नृतु' कहा जाता था। ऋग्वैदिक आर्य जीवन के उल्लास के गीत गाते थे एवं मृत्यु की चर्चा शत्रुओं के अतिरिक्त अन्य किसी परिप्रेक्ष्य में नहीं करते थे। रथ दौड़, शिकार, जुआ खेलना आदि भी नृत्य और संगीत के अतिरिक्त मनोरंजन के साधन थे। ऋग्वैदिक आर्यों के घर लकड़ी, बांस और मिट्टी के बने होते थे। घुड़दौड़ भी मनोरंजन का साधन थी। विश्वला नामक त्वरित अश्व का उल्लेख मिलता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

- A Gate to Ancient Indian Architecture : Malati Mahajan, Sharada, 2004.
- Administration of Law and Justice in Ancient India : Anjali Kaul, 1993.
- Ancient India : Sangh Mittra and S.R. Bakshi, Commonwealth, 2003.
- Ancient India : A Multidisciplinary Approach : Shankar Goyal, Kusumanjali Book World.
- Ancient India : An Historical Outline : D.N. Jha, Manohar, 2001.
- A.C. Clyton: The Rgveda and Vedic Religion, Panda, Bharatiya Kala Prakashan, Delhi, 2006.
- Ashvini Agrawal: In Search of Vedic-Harappan Relationship, Aryan Books International, Delhi, 2005.
- B.N. Sharma: A Nation on Fire : Hinduism Under Siege, Manas, Delhi, 2006.
- Bharat Jhunjhunwala: Hindu Approach to Indian Economy : Global Challenges and Opportunities, Rawat, Delhi, 2005.
- Dandekar, R.N.: Some Aspects of the History of Hinduism, Radhey Shayam Press, Poona. 1967.
- G Naganathan: Ecological Spirituality : Hindu Scriptural Perspectives, New Age Books, Delhi, 2004.
- Gough, A.E.: The Philosophy of the Upanisads and Ancient Indian Metaphysics, MacMillan, London, 1882.
- H.C. Mathur: A Text Book of Hindu Psyche : Scientific Rationale of Hindu Faith, JBD Book, Delhi, 2002.
- Hans, W.: Vedanta: Heart of Hinduism, Grove Weidenfeld, New York, 1985.
- Harman, William: The Sacred Marriage of a Hindu Goddess, Indiana University Press, Bloomington, 1998.
- Herbert, V.: Yuganaddha: The Tantric View of Life, Chowkamba Publications, Calcutta, 1969.

◆

इतिहास

मौर्योत्तर काल में भारत का विश्व के अन्य भागों से संपर्क

डॉ० शेखर सिंह

तदर्थ व्याख्याता, रामानुजन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय व्यापार में मौर्य काल के बाद विकास के साथ मुद्रा प्रणाली में विशिष्ट प्रगति हुई। ई. पू. और ई. सदी के प्रारंभ में रोम से आने वाले सोने का बड़ी मात्रा में व्यापारिक लेन-देन किया जाने लगा। स्वर्ण मुद्राओं का पश्चिमी जगत में प्रचलन हुआ तो भारतीय राजाओं ने परस्पर व्यापार में सुविधा एवं अन्य राष्ट्रों की तुलना में राष्ट्रीय 'मान' को बनाये रखने के लिए सोने के सिक्के जारी किये। व्यापारिक विकास के साथ मौद्रिक व्यवस्था में परिवर्तन एवं बड़ी तादाद में प्रचलन इस युग का विशिष्ट लक्षण रहा है। बड़ी संख्या में इस काल से संबद्ध मुद्राओं की प्राप्ति न केवल समृद्धि का प्रतीक है, बल्कि व्यापारिक गतिविधियों के विस्तार को इंगित करती है। विदेशों में भारतीय माल की मांग बढ़ती जा रही थी। इन दिनों पश्चिम में रोमन साम्राज्य एवं चीन में उत्तर हान साम्राज्य का विकास हो रहा था। रोमन सम्राज्य के अंतर्गत पूर्व के उत्पादों जैसे गर्म मसाले, सुगंधित लकड़ी, रेशमी एवं अन्य वस्त्रों की मांग थी। उत्तर हान साम्राज्य ने इसी प्रकार व्यापारियों को काफी प्रोत्साहन दिया, जिसके कारण भारत, मध्य एशिया तथा चीन के संपर्क बढ़ते गये। बढ़ते विदेशी व्यापार ने स्थानीय आभूषण निर्माताओं, वस्त्र उत्पादकों एवं कृषकों को विविध व्यापार योग्य सामग्री के उत्पादन को प्रेरित किया।

इस काल में व्यापार एवं वाणिज्य को प्रोत्साहन देने वाले कारक थे-

1. नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में नये वर्गो का उदय हुआ,
2. रोम एवं चीन के साथ व्यापारिक संबंधों का विकास,
3. रोम के साथ व्यापारिक संबंधों के फलस्वरूप दक्षिण-पूर्व एशिया के मसालों के साथ जुड़ाव। मौर्योत्तर काल में शिल्पियों का विशेषीकरण हुआ।

मौर्य पूर्व काल की एक कृति, दीघनिकाय, में 24 प्रकार के शिल्पों की चर्चा है, जबकि महावस्तु में 36 प्रकार के शिल्पों की चर्चा है। मौर्योत्तरकाल के एक ग्रंथ मिलिन्दपञ्हों में 75 प्रकार के व्यवसायों की चर्चा है, जिनमें 60 विभिन्न प्रकार के शिल्प आते हैं। इस ग्रंथ में विवेचित व्यवसायों में से सोना, चांदी, तांबा, टिन, सीसा, पीतल, लौहा आदि धातुओं से संबंधित थे। पतंजलि के महाभाष्य से भी विविध शिल्पों का ज्ञान होता है। स्वर्णकार, बढ़ई (वर्धकी), माली (मालाकार), बांस की टोकरी निर्माता (बेसकार), गांधिक, मछुये (धनक), कुम्हार (कुलाल), लुहार, धनुषनिर्माता (धनुष्कार), रंगरेज (रंजक) आदि व्यवसायों से संबंधित लोगों के गांवों में निवास करने का उल्लेख मिलता है। इस काल में कपड़ा बनाना महत्वपूर्ण दस्तकारी कला थी तथा सूती कपड़े भारत से निर्यात

किये जाते थे। मथुरा, वाराणसी आदि कपड़ा उत्पादन के कई केंद्र थे। मन के बनाने का मुख्य केंद्र उत्तर में उज्जैन था। यहां मनके अर्द्ध-बहुमूल्य पत्थरों, कांच, हाथीदांत तथा मिट्टी के बनाये जाते थे। उत्तर में अनेक नगरों में इनकी बड़ी मांग थी। अफगानिस्तान के प्राचीन कपिसा में हाथी दांत गठित आकृतियां भारी संख्या में प्राप्त हुयी हैं। इस काल की प्रमुख विशेषता वास्तुकला का विकास रही है। शुंग काल में भरहुत, बोध गया और सांची कला के प्रमुख केंद्र थे। वास्तु कलाकारों ने न केवल स्तूपों का निर्माण किया, बल्कि मंदिर, प्रासाद एवं भवनों का निर्माण भी बड़ी संख्या में किया। कात्यायन ने शिल्पों के लिए 'कारि' शब्द का प्रयोग किया है। इस काल में अपने कार्य में कुशल एवं प्रवीण शिल्पी 'राजशिल्पी' के रूप में राजा से सम्मान प्राप्त करते थे। इस समय वास्तु शिल्प इतना अधिक विकसित हो गया था कि एक प्रासाद को बनाने में 18 शिल्पों के जानने वाले कर्मकारों के काम करने की चर्चा मिलती है।

संभवत: इन शिल्पकारों में मूर्तिकार, वास्तुशिल्पकार, चित्रकार, जौहरी, लुहार, बढ़ई, स्वर्णकार आदि रहे होंगे। मूर्तिकला का विकास मौर्यकाल में ही हो गया था और इस युग में भी उत्कृष्ट मूर्तियों का निर्माण संभव हुआ। कुषाण काल में मूर्तिकारों को पश्चिमी जगत के कलाकारों ने प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप गांधार कला का विकास हुआ। दूसरी ओर स्वदेशी भावना से प्रेरित कलाकारों ने ऐसी कला को विकसित किया जो पाश्चात्य कला से पूर्णत: अप्रभावित थी, जिसे 'मथुरा कला' के नाम से जाना जाता है। बहुत-सी लोहे की सामग्रियां आंध्र क्षेत्र में करीमनगर और नालगोंडा जिले में प्राप्त हुयी हैं। शिल्पी गांव में भी बसते थे। तेलांगाना के करीमनगर गांव में विभिन्न प्रकार के शिल्पी अलग-अलग बसते थे। कपड़े की बुनायी, रेशम बुनने और अस्त्रों के निर्माण एवं विलास की वस्तुओं का निर्माण मुख्य व्यवसाय था। पतंजलि के अनुसार मथुरा में 'शाटक' नाम के एक विशेष वस्त्र का उत्पादन होता था। दक्षिण भारत के नये नगर में रंगरेजी एक महत्वपूर्ण व्यवसाय था। एक प्रकार का रंगायी 'हौज उरैयूर' में प्राप्त हुआ है। ऐसा ही हौज अरिकमेडु में प्राप्त हुआ है। मगध में लोहा बहुत अधिक मात्रा में होता था और वहां से बाहर भेजा जाता था। तांबे की खान राजस्थान में मिली है। हिमालय की ढलान में कस्तूरी और केसर का उत्पादन होता था।

''नमक'' का प्रमुख स्रोत पंजाब की नमक की पहाड़ी थी। दक्षिण भारत में मसाला, सोना, रत्न तथा चंदन की लकड़ी मिलती थी। कश्मीर, कोसल, विदर्भ और कलिंग हीरे के लिए विख्यात थे। मगध वृक्षों के रेशों से बने वस्त्र के लिए प्रसिद्ध था। मलमल के लिए बंगाल प्रसिद्ध था। मिलिन्दपन्हो के अनुसार बुद्ध की मौसी गौतमी ने वस्त्र निर्माण के पांच प्रकार बताए हैं। महाभारत, मिलिन्दपन्हों एवं दिव्यावदान के अनुसार गंगा बेसिन, वाराणसी, कोयम्बटुर और अपरांत (महाराष्ट्र) में विभिन्न प्रकार के सूती वस्त्र निर्मित किये जाते थे। बंग और पुंड्र क्षेत्र के मलमल को 'गंगई' कहा जाता था। मंसलीपट्टय और अरगुरु (उरैयूर) भी मलमल के लिए प्रसिद्ध थे। प्लिनी के अनुसार भारत में पीतल और सीसा का उत्पादन नहीं होता था। पेरीप्लस के अनुसार भारतीय इस्पात इतना विकसित था, जो विश्व में अद्वितीय था और यह भारत में अरियाका (काठियावाड़) से पूर्वी अफ्रीका भेजा जाता था। भारत में सोना का उत्पादन कम था। महाभारत से ज्ञात होता है कि सोना पूरब से आता था अर्थात् दक्षिण पूर्व एशिया के देशों से। नदी के रेत से भी छोटानागपुर एवं असम क्षेत्र में सोना प्राप्त किया जाता था। पेरिप्लस के अनुसार सुवर्ण (बुलियन) फारस की खाड़ी से पूर्वी अरब क्षेत्र होकर पश्चिम भारत में आता था।इसी तरह मोती पेरिप्लस के अनुसार कोलची से प्राप्त होता था (कोरकोई क्षेत्र से)। पेरिप्लस के अनुसार मोती निचले गंगा क्षेत्र से भी निकाली जाती थी। टॉलमी के अनुसार यह सुदूर दक्षिण से प्राप्त होता था। प्लिनी के अनुसार मोती पेरीमोला (आधुनिक चौल) बंदरगाह से प्राप्त होता

था। भारत को प्लिनी ने रत्नों की एकमात्र जननी कहा है। साथ ही भारत को सबसे महंगी वस्तुओं की जन्मदात्री कहा है। टॉलमी के अनुसार हीरे, कोसा (बैराट), सबराई (संबलपुर) और एडम नदी के मुहाने से प्राप्त किया जाता था। पेरिप्लस के अनुसार गोमेद और कार्लेनियन दक्कन के पहाड़ों में पाया जाता था। इसके अनुसार दौशाहन दशारन (पूर्वी मालवा) से एक प्रकार के हाथी दांत का उत्पादन होता था। मनके बनाने का एक महत्वपूर्ण केंद्र मध्य प्रदेश में उज्जैन था। अर्थशास्त्र में मदिरा के उत्पादन पर विशेष विचार किया गया है। इसकी लोकप्रियता की पहचान इस काल की मूर्तिकला में विशेषकर संघोल एवं मथुरा में चित्रित मद्यपान में की जाती है।टकसाल कला का विकास होना इस काल की एक महत्वपूर्ण देन है। भारत में स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन कुषाणों से प्रारंभ होता है। कुषाणों से पूर्व ईरानी सम्राट डेरियस ने सोने के सिक्के 'डेरिक' तथा चांदी के 'सिगलाय' का प्रचलन किया था। लेकिन इन मुद्राओं का प्रचलन सुदूर पश्चिमोत्तर भारत के उस छोटे से प्रदेश तक सीमित रहा जहां ईरानी आधिपत्य स्थापित हो गया था।

कालान्तर में इण्डोग्रीक शासक यूक्रेटाइडीज ने सोने के सिक्के प्रचलित किये, किंतु इनकी संख्या सीमित थी। अपने आप में कुषाण शासक विम कदफिसस द्वारा स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन एक महत्वपूर्ण घटना है। इसका बहुत कुछ श्रेय तत्कालीन रोम के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों को जाता है। रोम के साथ व्यापारिक संबंधों के कारण प्रभूत मात्रा में रोमन स्वर्ण मुद्राओं का भारत में आगमन हुआ। भारत एवं रोमन साम्राज्य के मध्य व्यापारिक संबंध आगस्टस (ई.पू. 31 से 14) से नीरो के काल तक अपनी पराकाष्ठा पर थे। अपनी बनावट एवं योजना में कुषाण सिक्के पह्लव सिक्कों की अपेक्षा कहीं अधिक सुंदर हैं। कुषाणकालीन ठप्पा बनाने की कला में पश्चिमी शैली का स्पष्ट अनुकरण दिखायी देता है। उस काल में रोमन मुद्रा ओरेई अंतर्राष्ट्रीय व्यापार जगत में स्वीकृत थी। अत: कुषाण शासकों ने इन्हीं सिक्कों के तौल एवं मान का अनुकरण किया। कुषाणकालीन सिक्कों में ग्रीक, पार्थियन, रोमन एवं भारतीय तत्वों का अनूठा मिश्रण देखा जा सकता है। स्वर्ण एवं ताम्र मुद्राओं के अतिरिक्त कुषाण शासकों ने सीमित मात्रा में रजत मुद्राओं का प्रचलन किया। सोने एवं तांबे के सिक्के एक निश्चित तौल परंपरा पर आधारित हैं। कुषाणों की सोने की दीनार मुद्राएं प्रात: रोम 'ओरई' सिक्कों के तौल एवं मान के प्राय: निकट हैं। सिक्कों को ढालने एवं ठप्पा अंकित करने से पूर्व साफ किये जाने की प्रक्रिया का मिलिन्दपन्हों आदि में विवरण आया है।

सोने के सिक्के निष्क, सुवर्ण और पल कहलाते थे। चांदी के सिक्के शतमान्, पूरण और धरण थे। तांबे एवं रांगो के सिक्के को 'काकणि' कहा जाता था। कई प्रकार के सिक्के सातवाहन भी चलाते थे-अवंति से प्राप्त तांबे के एक सातवाहन सिक्के पर नाव का चिह्न है। सातवाहन के सिक्के कार्षापण सोना, चांदी, तांबा और सीसा चारों धातु के होते थे। सीसे के सिक्के भी सातवाहनों ने चलाये। कार्षापण सोना, चांदी, तांबा और सीसा चारों धातु का होता था। कुषाणों ने 35 देवताओं का अंकन अपने सिक्कों पर किया है। कनिष्क के सिक्के पर निम्नलिखित देवताओं के चित्र मिलते हैं-बौद्ध देवता-अद्वैत बुद्ध, शाक्यमुनि। उनके सिक्कों पर ब्राह्मण देवता-महासेन, स्कंद, कुमार, विशाख, उमा, वरुण (हेरोन), भवेस थे। इसी प्रकार इरानी देवता-मित्थ्रा, हेलियोस, शेलेन, हेराक्लीज आदि थे। पुरातात्त्विक स्थलों के उत्खनन से प्राचीन नगरों के अवशेष प्राप्त हुये हैं। तक्षशिला (आधुनिक इस्लामाबाद से 30 कि.मी. उत्तर पश्चिम में) के उत्खनन में मौर्यकाल के अवशेष प्राप्त हुये हैं। सर जॉन मार्शल ने 1913 ई. में इसकी खुदायी प्रारंभ करवायी थी जो दो दशक तक चलती रही। पक्की ईंटों का प्रयोग किया जाता था। अर्द्धवृत्ताकार ईंटों से गोलाकार इमारतें बनायी जाती थीं। यमुना के किनारे पुराना किला, मथुरा एवं कौशाम्बी जैसे नगरों के अवशेष प्राप्त हुये हैं। अहिच्छत्र

(जिला बरेली) उत्तरी पांचालों की राजधानी थी। वाराणसी कपड़ा उत्पादन एवं हाथीदांत का महत्वपूर्ण केंद्र था। वैशाली (उत्तरी बिहार स्थित आधुनिक वैशाली) से भारी संख्या में मुहरें आदि प्राप्त हुयी हैं, जो व्यापारिक गतिविधियों को इंगित करती हैं। बंगाल के प्रमुख व्यापारिक केंद्र तामलुक तथा चन्द्रकेतुगढ़ थे। मध्य पश्चिमी भारत में उज्जैन मनका उत्पादन के लिए विख्यात था।

श्रेणी, संघ और निगम-ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों ने भी वर्णव्यवस्था में ढिलायी के फलस्वरूप व्यापार और वाणिज्य को अपना लिया था। बौद्ध साहित्य में भी हमें इस प्रकार का विवरण मिलता है। वैश्यों ने अन्य वर्णों की प्रतिस्पर्द्धा से बचने के लिए नये संघटनों को जन्म दिया, जो श्रेणी, निगम, पुग और सार्थ कहलाते थे। श्रेणी सदस्यों के व्यवहार को एक श्रेणी न्यायाधिकरण के माध्यम से नियंत्रित किया जाता था। श्रेणी धर्म के कानून के सदृश मान्यता प्राप्त थी। श्रेणी अपने सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करती थी। यह इस नियम से सिद्ध होता है कि यदि कोई विवाहित स्त्री भिक्षुणी बनकर संघ में शामिल होना चाहती थी तो उसे पति के साथ-साथ उसकी श्रेणी की भी अनुमति लेनी होती थी। प्रसिद्ध सूत्रकार गौतम का कहना है कि व्यापारी और शिल्पियों को अपने सदस्यों को नियमित करने के लिए विधि बनाने का अधिकार था। श्रेणी और अन्य संघ अध्यक्ष या मुखिया के अधीन होता था। इसे परामर्श देने के लिए एक समिति होती थी, जिसमें 2, 3 या 5 सदस्य होते थे। इस समिति की समुकहितवादिन कहा जाता था। बृहस्पति के अनुसार संघ प्रमुख को दोषी सदस्यों को दंडित करने का अधिकार था। सामान्यत: श्रेणी के विधि निर्माण में राजा हस्तक्षेप नहीं कर सकता था, किंतु अगर अध्यक्ष और उसकी समिति के बीच कोई विवाद होता तो राजा निर्णय दे सकता था। कर्मचारियों की अन्य संस्था भी श्रेणी के अलावा थी, जिसे कर्मचारी सहकारी कहते थे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

Balkrishna Govind Gokhale: Ancient India : History and Culture, Popular, 1995.

Upinder Singh and Nayanjot Lahiri: Ancient India : New Research, Oxford University Press, 2009.

Sabir Hussain Khan: Ancient Indian and Iranian Art : A Comparative Study, Janaki Prakashan, 2008.

John W. McCrindle: Ancient India as Described by Ptolemy, Munshiram, 2000.

G.P. Singh: Ancient Indian Historiography : Sources and Interpretations, D K Printworld, 2003.

Ratan Lal Basu and Raj Kumar Sen: Ancient Indian Economic Thought : Relevance for Today, Rawat Pub, 2008.

Ramprakash Mathur: Ancient Indian History, Murari Lal and Sons, 2006.

N.N. Bhattacharyya: Ancient Indian History and Civilization: Trends and Perspectives, Manohar, 1988.

Justice M. Rama Jois: Ancient Indian Law - Eternal Values in Manu Smriti , Universal Law Pub, 2007.

Romila Thapar: Ancient Indian Social History : Some Interpretations, Orient Blackswan, 2010.

Vijay Kumar: Ancient Indian Society : Continuity and Change, Snajay Prakashan, 2002.

Sharad Hebalkar: Ancient Indian Ports : With Special Reference to Maharashtra, Munshiram Manoharlal, 2001.

Shankar Goyal: Ancient Indian Numismatics : A Historiographical Study, Kusumanjali, 1998.

Sanjay Narula: Ancient Indian Social and Political Thought, Murari Lal and Sons, 2007.

N.N. Bhattacharyya: Ancient Indian Rituals and Their Social Contents, Manohar, 2005.

◆

इतिहास

बुद्धकालीन समाज एवं अर्थसंरचना के दायरे में अस्पृश्यता

डॉ० श्वेता

प्राचार्या, संजय गांधी महिला कॉलेज, पटना

यह विशेष कालावधि (ई.पू. 600 से ई.पू. 200) क्रान्तिकारी परिवर्तनों की साक्षी रही। तत्कालीन समाज नई चुनौतियों से रु-ब-रु था। प्रतिरोध, परिवर्तन की पहली शर्त्त होते हैं, और एक तरफ जहाँ नवीन अर्थ संयोजन के द्वारा भौतिक जीवन में आये परिवर्त्तन प्रतिरोध को जन्म दे रहे थे वहीं दूसरी तरफ बौद्ध और जैन विचारधाराओं की प्लेट-विवर्तनिकी भूमिका परिवर्तन की मानसिकता बनाती जा रही थी। लौह तकनीक से परिचय, प्रयोग एवं प्रसार ने परिवर्तन के औजार भी थमा दिए। सब कुछ बदल रहा था। पूर्व की सारी मान्यताएँ जाँची-परखी जाने लगीं। पारम्परिक समाज, दुरूह धार्मिक कर्मकाण्डों, जटिल याज्ञिक क्रियाओं, वर्णो एवं जातियों के आधार पर भेदपरक स्तरीकरण, धर्म के आधार पर शोषण की संस्थाओं का पोषण, रूढ़ एवं अप्रासंगिक मान्यताओं के प्रचलन के परिणामस्वरुप जर्जर हो चला था। वह टूटने के कगार पर था। और टूटा भी। लेकिन आर्थिक क्रिया व्यापारों के दबाव में एक धर्म आधारित समाज की संरचनाओं का टूट जाना या कहें भहरा जाना, एक बड़ी परिघटना तो अवश्य थी परन्तु रोचक भी कम नहीं थी। रोचक इन सन्दर्भों में कि श्रमजीवी वर्ग पर परजीवी वर्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई। उत्पादक वर्ग निम्न वर्णी रहे और उपभोद्रा वर्ग उच्च वर्णी हो गए।[1] औद्योगिक विकास ने नवीन सामाजिक मूल्यों की स्थापना की तो दूसरी ओर आर्थिक असमानताओं को भी जन्म दिया।[2] एक ऐसे सामाजिक तंत्र का ताना-बाना बुना गया जिसमें आर्थिक विकास के लाभों को उच्च वर्णों के लिए सुरक्षित किया गया, क्योंकि भूमि एवं उत्पादन के अन्य साधनों पर नियंत्रण भी स्वाभाविक रूप से इन्हीं वर्णो का यानी ब्राह्मणों[3], क्षत्रियों[4], एवं सेट्ठियों[5] का ही था।

प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण की जटिल प्रक्रियाओं की बेहतर समझ के लिए डॉ. ए. पी. ओझा का वैदुष्य विवेचन काफी सहायक सिद्ध होता है जिसमें उन्होंने शास्त्रीय एवं लौकिक[6] दो प्रकार के स्तरीकरण की चर्चा की है, जिसमें पहले का आधार था, समाज का परम्परागत चातुर्वर्णीय विभाजन[7] तो दूसरे का आधार बनी राजनीतिक शक्ति एवं आर्थिक समृद्धि[8]। अधीत कालीन समाज इन दोनों ही आधारों पर स्तरीकृत था। इस सत्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता कि प्राचीन भारतीय समाज के स्तरीकरण में शास्त्रीय आदर्शों पर आधृत नियमन ही निर्णायक भूमिका निभाता रहा[9] और लौकिक प्रवृत्ति या तो नेपथ्य में रही या फिर मंच पर कठपुतली बनी रही। आलोच्य कालावधि में कुछ 'विशिष्ट आर्थिक गतिविधियों'[10] के चलते पहली बार स्तरीकरण की लौकिक प्रवृत्ति भी मंच संचालन में सूत्रधार की भूमिका हथियाने की उत्सुकता और दक्षता प्रदर्शित करती है। एक नयी व्यवस्था और नया सिद्धान्त विकल्प के रूप में सामने था।

अधीत कालीन सामाजिक संरचना, चार्तुवर्ण व्यवस्था के आधार पर विभेदीकृत एवं स्तरीकृत, शोषण एवं दमन की अमानवीय स्थितियों का चरम निदर्शन प्रतीत होती है। यहाँ तक कि देवगण भी इस भेदपरक मानसिकता से बचे नहीं रह सके।[11]

वैदिक काल की भाँति वर्ण निर्धारण का आधार कर्म नहीं रह गया था और जन्म के आधार पर वर्ण निर्णयन[12] जाति प्रथा की ओर अग्रसरण का स्वाभाविक साक्ष्य बन बैठता है। तत्कालीन समाज में जातियों के बहुश: उल्लेखों के फलस्वरूप यह अनुमान लगाना आसान हो जाता है कि उस समय जाति व्यवस्था एक सर्व स्वीकृत संस्था के रूप में विद्यमान थी। धर्मसूत्रों में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न जातियों का उल्लेख है।[13] चारों वर्णों के लिए जाति शब्द ही व्यवहृत होता था।[14] पालि बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न जातियों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर[15] तत्कालीन सामाजिक संगठन को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है– 'उक्कट्ठ' अर्थात् उत्कृष्ट तथा हीन। क्षत्रिय और ब्राह्मण जातियाँ उत्कृष्ट जातियों में तथा चाण्डाल, वेण, निषाद, रथकार तथा पुक्कुस इत्यादि जातियां हीन जातियों में गिनी गई हैं। एक अन्य प्रमुख विशेषता इस युग में उभर कर सामने आती है कि विभिन्न जातियां अलग-अलग ग्रामों में बसने लगीं। ब्राह्मण ग्राम,[16] क्षत्रिय ग्राम,[17] वनिय ग्राम,[18] निषाद ग्राम,[19] चाण्डाल ग्राम[20] इत्यादि जातिगत आधार पर बने ग्रामों का उल्लेख मिलता है।

तात्पर्य यह कि बुद्ध युग यानि मौर्य पूर्व युग में जाति भेद अपनी पराकाष्ठा पर था। इसकी 'आक्टोपसी गिरफ्त' में तत्कालीन जन-जीवन की समस्त सामाजिक एवं आर्थिक संरचनाएं घुट रही थीं। सर्वाधिक सोचनीय दशा शूद्रों की थी। द्विजातियों द्वारा मात्र और मात्र अपने लाभ के लिए जो सांठ-गांठ की गयी थी, उसके तहत तमाम अशक्तताएं 'हीन' जातियों पर थोप दी गईं। इन्हें भी शूद्र वर्णान्तर्गत ही रखा गया[2]। कतिपय उल्लेखों के अनुशीलन से यह सम्भावना सहज ही अनुमित हो जाती है कि अस्पृश्यता की भावना भी उस समय की सामाजिक परिस्थितियों में सिर उठाने लगी थी[22]। पाणिनि के द्वारा 'निरवसित' तथा 'अनिरवसित' के रूपों में शूद्रों के वर्गीकरण से भी यह संकेतित होता है कि कुछ जातियाँ विशेष घृणित समझी जाने लगी थीं, इतनी कि, आर्य समाज की सीमा के अन्तर्गत उनका निवास सम्भव नहीं रह गया था[23]। बहुत संभव है, – चाण्डाल एवं पुक्कुस ऐसी ही जातियाँ रही हों। रीज डेविड्ज का 'दीघ निकाय' के हवाले से यह निष्कर्षण कि चाण्डाल एवं पुक्कुस चारों वर्णों अतएव शूद्रों से भी अलग थे,[24] अस्पृश्यता एवं आर्य आबादी से पृथक्करण के सन्दर्भ में उचित ही प्रतीत होता है।

अधीत कालीन सामाजिक संगठन में अशौच की परिकल्पना, उसका प्रबल प्रचार एवं व्यापक स्वीकृति के साक्ष्य विभिन्न धर्मसूत्रों में बिखरे पड़े हैं[25]। उन्हें कुत्तों और कौवों के साथ जोड़ा गया[26]। चाण्डाल को देखने, उसकी वाणी सुनने या समीप आ जाने मात्र से भी अशौच के लगने का उल्लेख देखा जा सकता है, जैसे उस स्थान पर वेद का पठन-पाठन वर्जित है जहाँ कोई चाण्डाल ठहरा हुआ हो[27], या जहाँ से दिखाई पड़ रहा हो[28], या जहाँ से वेद-पाठन की ध्वनि उसके कानों में जा सकती हो[29]।

प्राचीन पालि ग्रन्थों में भी 'हीन जातियों' के रूप में चण्डाल, निषाद, वेण, रथकार और पुक्कुस के अनेकश: उल्लेख मिल जाते हैं[30]। इन हीन जातियों का ब्राह्मण कालीन समाज के अस्पृश्य जातियों से साम्य भी दृष्टिगत होता है[31]। हीन व्यवसायों, कार्यों एवं जातियों की गणना एवं वर्गीकरण प्रो. रामशरण शर्मा के अनुसार मौर्य पूर्व काल की प्रवृत्ति मानी जा सकती है[32]। अपने निष्कर्षण के पक्ष

में उन्होंने विनयपिटक के एक साक्ष्य का हवाला दिया है जिसमें बुद्ध ने निर्देश दिया है कि भिक्षुओं से उनकी जाति इत्यादि पूछ कर उनको अपमानित न करें[33]।

वस्तुत: जन्मना और कर्मणा दोनों ही आधारों पर ये जातियाँ अद्यम समझी जाने लगीं। चाण्डालों के समान निषादों की भी अपने कर्म प्रकृति[34] 'शिकार' के कारण हीन हो गई और ये अपने गाँवों में निवास करने लगे[35]। फिक ने बड़ी ही रोचक तुलना करते हुए बताया है कि शिकारियों का स्थान प्राचीन यूनान में भी निचले पायदानों पर ही रहा[36]। रथकार जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों में अपेक्षाकृत ऊँचा स्तर हासिल था[37], जातकों में कुछ हीनतर स्थितियों में प्रतिबिम्बित किया गया है, क्योंकि सम्भवत: उसने चमड़े पर आधारित शिल्प भी अपना लिया था[38]। लेकिन बौद्ध ग्रन्थों में जिनमें सामान्य रूप से क्षत्रियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, रथकार, जो कि रथ के पहिए भी बनाता था[39], और इसलिए राजा अर्थात प्रकारान्तर से क्षत्रियों के सहायक का ही काम करता था, उसे अधम जाति का माना जाना, क्या लगभग सर्वस्वीकृत इस मान्यता पर कि बौद्ध धर्म क्षत्रियों की वकालत करता है, हमें सप्रश्न नहीं कर देता? प्रो. शर्मा की यह मान्यता ठीक ही प्रतीत होती है कि चूँकि बौद्ध धर्म में युद्धों के प्रति भी उनकी दुर्भावना समझी जा सकती है[40]।

वेणों[41] के सम्बन्ध में भी ऐसी ही पृच्छा प्रकट होती है कि यदि 'वैण' और 'तक्षक' शब्द एक ही अर्थ अभिव्यंजित करते हैं[42] तो जिस तक्षक को वैदिक समाज में एक सम्मानीय दर्जा हासिल था उसे बौद्ध साहित्य हीन जातियों में परिगणित करता है। परवर्ती जातकों में छिटपुट उल्लेखों को छोड़कर चाण्डालों के स्तर तक इनकी हीनावस्था या अस्पृश्यता[43] प्रमाणित करने के साक्ष्य नहीं पाये जाते। अब अस्पृश्यता एवं हीन जातियों पर बुद्ध के विचारों का परीक्षण अनिवार्य प्रतीत होता है, क्योंकि एक शोधार्थी के रूप में मेरी ऐसी धारणा, तमाम अनुशीलनों के उपरान्त, विकसित हुई है कि उन्होंने बिना किसी भेदभाव के मानव मात्र के लिए सम्मान एवं समता के सिद्धान्तों का परिपोषण किया।

भगवान बुद्ध ने कहा कि कोई भी मनुष्य जन्म के आधार पर न तो चाण्डाल होता है न ही ब्राह्मण[44]। उच्च वर्ण में जन्म लेने वाले मरते नहीं क्या? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी तो मरते हैं[45]। उन्होनें चारों वर्णों के लोगों को भिक्षु बनने की संस्तुति की है[46] एवं चाण्डालों तथा पुक्कुसों को निर्वाण प्राप्ति के सर्वथा योग्य बताया है[47]। ज्ञान पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती देते हुए यह प्रतिपादित किया कि शिक्षक बनने की योग्यता किसी जाति विशेष की बपौती नहीं। शिक्षक कोई भी हो सकता है और वह चाण्डाल या पुक्कुस ही क्यों न हो, सर्वथा आदरणीय है[48]। बुद्ध की शिक्षाओं का उद्देश्य क्या था इसका एक उद्धरण विशेष द्रष्टव्य है जिसमें एक ब्राह्मण चाण्डाल से जादू सीखता है परन्तु उसे संकोचवश गुरु की प्रतिष्ठा नहीं दे पाता फलत: अपनी विद्या भूल जाता है[49]। एक अन्य प्रसंग में एक ज्ञानी चाण्डाल द्वारा शास्त्रार्थ में हार जाने के बाद एक ब्राह्मण युवक को उस चाण्डाल के समक्ष नतशीष होना पड़ा था[50]।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. पूर्ण विवरण के लिए द्रष्टव्य: शर्मा रामशरण, शूद्राज इन एंशियण्ट इंडिया: द्वितीय संस्करण, दिल्ली-1980, पृ. 95-98, 315-16
2. शर्मा रामशरण भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ. 158
3. जातक, 3-293 4-276 ये दो उल्लेख मगध क्षेत्र के हैं सुत्तनिपात 1-4। यह उल्लेख काशी क्षेत्र का है। यें सभी बड़े प्रक्षेत्रों के उल्लेख हैं जिन पर ब्राह्मणों का स्वामित्व था।

4. फिक, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम पृ.-314, दत्त: ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट; पृ. 268-69
5. फाइजर, दि प्राब्लम आफ दि सोट्ठि इन बुद्धिस्ट जातकाज (आर्कीव ओरियण्टलानी, प्राग, 22 पृ. 238-265)
6. ओझा आदित्य प्रसाद, प्राचीन भारत में पराधीन समुदाय का सामाजिक स्तरीकरण, हिन्दी कलम, सं. - नीलकान्त, अंक-2, जनवरी-जून-1985, पृ.-87 विस्तृत विवरण हेतु, द्रष्टव्य ओझा, आदित्य प्रसाद, प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, इलाहाबाद 1992।
7. वही, पृ.-87, विस्तृत विवरण हेतु-द्र. वही अध्याय-2।
8. वही, पृ.-87, विस्तृत विवरण हेतु-द्र. वही अध्याय-2।
9. ओझा आदित्य प्रसाद, प्राचीन में सामाजिक स्तरीकरण, आमुख, पृ. 14-15, अध्याय-4।
10. विशिष्ट आर्थिक गतिविधियाँ-लौह तकनीक का कृषि एवं दस्तकारी में प्रयोग, अधिशेष उत्पादन नगरीकरण, शिल्पौद्योगिक अर्थव्यवस्था, मुद्रा अर्थव्यवस्था का सूत्रपात, व्यावसायिक संघों एवं श्रेणी संगठनों का विकास जबरदस्त व्यापारिक एवं वाणिज्यिक गतिविधियों से आशय।
11. काणे, पी. पी., हिस्ट्री आर्फ धर्मशास्त्राज, जि. 2, भाग-1, पृ. 42। अग्नि और बृहस्पतिवार-ब्राह्मणवर्ण के इन्द्र, वरुण, सोम, यम-क्षत्रिय वर्ण के वसु, रुद्र, विश्वेदेवा तथा मसत् वैश्य वर्ण के प्रशण-शूद्र वर्ण के।
12. पाराजिक, पृ. 306, (ब्राह्मणोनाम् जातिया ब्राह्मणे)
13. गौतम धर्मसूत्र, 21.06.90, 18.24. 4.14, बौधायन धर्मसूत्र, 1.9.3, आपस्तम्व धर्मसूत्र, 1.2.4.8.5,।
14. फिक, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम (पृ. 30-31।)
15. पाचित्तिय ग्रामो पृ. 9-10
16. बौद्ध पिटकों में अनेक ब्राह्मणो ग्रामों का उल्लेख आता है। जैसे - खानुमत (दीघ निकाय 1, पृ. 127), एक नाल, (बुक आफ किड्रेड सेइंग्स 1, पृ. 216), सार्लिन्दय, (जातक 3, पृ. 283), जातक 4, पृ. 276, इत्यादि।
17. वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 85-86
18. वही
19. जातक 2, पृ. 36 (जातक 4, पृ. 413, जातक 6, पृ. 71।)
20. जातक 4, पृ. 200 (376, 390, महावंष 4/41।)
21. मिश्र, जी. एस. पी., प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ. 137।
22. आपस्तम्ब धर्मसूत्र। 1, 2, 8-9 बौधायन धर्मसूत्र प्रथम- 1, 5.9.5; 1.5.11.36। गौतम धर्मसूत्र, XIV 30, वषिष्ठ ध0सू0, XXIII, 30 (धर्मसूत्र 14.30; वशिष्ठ धर्मसूत्र 23, 30)
23. अष्टाध्यायी, 2.4.110।
24. टी. डब्ल्यू राइज डेविड्ज, डायलाग्स, ऑफ द बुद्ध, भाग 1, पृ. 99-100, अम्बट्ठसुत्त की भूमिका।
25. देखें-संदर्भ सं.-22।
26. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2, 4, 9, 5 XI 9 गौतम धर्मसूत्र, 15, 24।
27. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.3.9.15; गौतम धर्मसूत्र 19.19, वशिष्ठ धर्मसूत्र, 13.11।
28. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.3.17;
29. वषिश्ठ धर्मसूत्र, 23,34।
30. मझिझम निकाय, 3, 168-78; 2
31. शर्मा, रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 118।
32. शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 118।

33. विनय पिटक, 4, 4-11, शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 118, सन्दर्भ सं.-342।
34. जातक, 2, पृ. 200; 6, पृ. 71, 170 जातक 5, पृ. 110, 337 मनुस्मृति, 10/48, इसकी तिथि आपेक्षाकृत बाद की है परन्तु इसमें निशाद के कर्म में मछली मारना बताया गया है।
35. जातक, 6 पृ. 71।
36. फिपक रिचर्ड,, पूर्वोक्त, पृ. 322।
37. गृह्यसूत्रों में उसके उपनयन सम्बन्धी विधान भी प्राप्त होते है जो निश्चित ही उसकी उच्चतर सामाजिक हैसियत का द्योतक है। यथा भारद्वाज गृह्यसूत्र-I 1; वसन्ते ब्राह्मणमुपनीत वर्शा रथकारं षिषिरे वा; बौद्धायन गृह्यसूत्र II, 5.6, 11, 8.5, जैमिनी मीमांसा सूत्र, 6.1.50
38. जातक, 6, 51; द्र.-पेतवत्थु अठकथा, III, 1.13 बोस, सोषल एण्ड रुरल इकानामी आफ नार्दन इण्डिया, III पृ. 456।
39. अंगुत्तर निकाय, 1, पृ. 111-113।
40. शर्मा आर.एस., शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 120।
41. बोस, पूर्वोद्धधृत, II, पृ.-454-55 जातक, IV, पृ.-251, इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि 'वेण' जनजाति बांस के काम एवं शिकार द्वारा जीवनयापन करती थी।
42. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट XI, पृ.-173 जातक ट, पृ.-306, वेण जाति ति तक्षक जाति।
43. जातक ट, पृ.-306.
44. सुत्तनिपात, 1.7.21; 3.9.57;
45. विमानवत्थु, 5.13.15, पेतवत्थु, 2.6.12;
46. मज्झिझम निकाय, 1, पृ.-211,।।, पृ.-182-84; संयुत्त निकाय, 1.99; विनय पिटक।। पृ.-239 अंगुत्तर निकाय, IV, पृ.-202, दीघ निकाय, III, पृ.-80-98
47. जातक, III, पृ.-194; IV, पृ.-303।
48. जातक, III, पृ.-200।
49. जातक, IV, पृ.-200।
50. जातक, III, पृ.-233-35।

◆

स्थायी शान्ति के लिए गांधीजी के विचारों की प्रासंगिकता

प्रियांशु कुमार कश्यप

इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

शान्ति व्यवस्था की स्थापना आज के युग की कठिनतम समस्या है। आज मानव को ऐसा ज्ञान और संस्कृति उपलब्ध है कि यदि वह उसका सदुपयोग करें तो जगत में शांति, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना स्थापित हो सकती है, लेकिन विज्ञान का दुरुपयोग करके आज सारा विश्व हिंसा से उन्मत और युद्ध की छाया से धूमिल है। यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि युद्ध मानवता के खिलाफ अपराध है और उसके द्वारा कोई मसला हल नहीं हो सकता है। हिंसक साधनों की निरर्थकता आज सिद्ध हो चुकी है, किन्तु अहिंसा की व्यवस्था स्थापना के माध्यम के रूप में स्थापित होना बाकी है। मानव जाति को यह प्रत्यय दिलाना चाहिए कि प्रेम में हिंसा पर विजय पाने और भय तथा द्वेष की जगह सख्यभाव और सहयोग स्थापित करने की क्षमता है।

गांधीजी के विचारों का उद्देश्य मानव समाज में हिंसा की जड़ को काटकर शांति और अहिंसा की नींव पर नया समाज स्थापित करना था। तनावों को मिटाना, हिंसक कार्यों को अंहिसा एवं सत्याग्रह के द्वारा नहीं होने देना, कौमी दंगों का शमन और मानव-मानव के बीच भेद बढ़ानेवाली दीवारों को मिटाना, आज के युग के परिप्रेक्ष्य में गांधीवादी विचारों की प्रासंगिकता महत्वपूर्ण हो गई है। गांधीजी ने सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह का प्रयोग राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति स्थापना के लिए करने को कहा। हमें किसी भी बाहरी आक्रमण का भय नहीं रखना चाहिए और हमारी तैयारियाँ शांति के लिए होनी चाहिए। हमारे पड़ोसी और आस-पास के देशों के वास्ते हमारी मनः स्थिति निर्भय और शांत रहनी चाहिए। सत्य और अहिंसा ही वह औजार है जिससे हम दुनिया को भी बचा सकते है। हमें दिलों को जोड़ने के लिए काम करना पड़ेगा, दिलों को तोड़ने के लिए नहीं। दंगों को रोकने के लिए यदि प्राण देने का भी समय आएगा तो इसके लिए हमें तैयार रहना पड़ेगा। सत्य और अहिंसा वह शांति है जिससे बल मिलता है, ताकत मिलती है, यह दिलों को जोड़ता है, राष्ट्र को जोड़ता है और सारी दुनिया को जोड़ता है।

हिंसा मानव धर्म के विपरीत है। मर कर जीने का नाम जिन्दगी है। किसी को मार कर जीना कोई जीना नहीं है। यही अहिंसा सिखलाती है। महात्मा गांधी ने कहा "मानव जाति के हाथ में अहिंसा सबसे बड़ा बल है। मनुष्य की सूझ ने विनाश के जो प्रबल हथियार तैयार किए हैं उनसे भी यह सबल है। विनाश का कोई धर्म नहीं है। मनुष्य अपने भावों के हाथ जरूरत पड़ने पर मरने को तैयार रहकर आजादी से जीता है उसे मार कर हर्गिज नहीं प्रत्येक हत्या या आघात उसका कारण कुछ भी रहा हो, मानवता के विरुद्ध अपराध है।"- "हरिजन" 20.07.1933

अहिंसक भारत का पुनर्निमाण करने और संधि काल में हिंसा के आन्तरिक उभारों एवं उपद्रवों को अहिंसक ढंग से दूर करने के लिए हमें गांधीवादी विचारों का प्रश्रय लेना पड़ेगा। देश अंतर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष का मुकाबला अहिंसक साधनों से तब तक नहीं कर सकता जब तक उसका आन्तरिक जीवन अहिंसा पर आधारित न हो और उसके नागरिकों ने अपने दिल से नफरत, डर और हिंसा को निकाल न दिया हो। अहिंसा के लिए इस प्रकार की राष्ट्र व्यापी तैयारी एक दिन में नहीं हो सकती। इसमें लम्बा समय लगना अनिवार्य है। अहिंसा के प्रयत्नों से ही आन्तरिक मामलों को मजबूत करके राष्ट्र, राज्य की सीमाओं से ऊपर उठकर हम नि:शस्त्र और शान्तिमय जगत की बुनियाद डाल सकेंगे। इसके लिए हमें सर्वप्रथम आवश्यकता है अहिंसक नागरिकों की सेना की जो अन्दर के झगड़ों को शान्त करने के लिए सहायता करेंगें। हर व्यक्ति अपने आप पर काबू रखें, हर नागरिक अपने आप में अनुशासन रखे, अपने अधिकारों को ध्यान रखने के क्रम में दूसरे के अधिकारों पर अतिक्रमण नहीं करके अपने अधिकारों की अपेक्षा इसे अधिक मूल्यवान समझे। इतिहास हमें ज्ञान देता है कि लड़ाई का अन्त लड़ाई से नहीं हो सकता इसका अन्त अहिंसक कार्यो से ही हो सकता है। इसके लिए ग्राम-ग्राम में ग्राम भावना जागृत करना होगा, एक-एक व्यक्ति को जागृत करके मजबूत करना होगा। देश के हर व्यक्ति को हम रायफल नहीं दे सकते पर अहिंसक कार्यो के लिए उसका मनोबल अवश्य बढ़ा सकते हैं। देश के तमाम नागरिकों को इसके लिए तैयार करना होगा। उन्हें सक्रिय तथा संगठित करना होगा। जाति विशेष का ख्याल किए बिना मानव-मात्र को इसके लिए तैयार करना होगा। अहिंसा हर मनुष्य की शान्ति है और हर मनुष्य का कर्तव्य भी। सत्य और अहिंसा के अतिरिक्त कोई ऐसी शान्ति नहीं है जो मानवता का त्राण कर सके। इस महान कार्य के लिए देश की समस्त अहिंसक शान्ति को एकत्रित और संयोजित होना चाहिए। संकट और परीक्षा के अवसर पर विश्व मैत्री की भावना को अक्षुण्ण रखते हुए राष्ट्रीय एकात्मकता का निर्माण तथा अहिंसक प्रतिकार की क्षमता बढ़ाने के दि्वविध कार्यो में सहयोग देने के लिए अहिंसा में विश्वास रखने वाली समस्त संस्थाओं, प्रवृत्तियों और व्याक्तियों का सहयोग लिया जाना चाहिए।

गांधीजी लिखते हैं "जो अपनी रक्षा आप नहीं करते हैं वे कायर और दोषी हैं। अपनी इज्जत बचाने के लिए जान की भी बाजी लगा लेना उचित है। इसमें कर्तव्य पालन और अहिंसा में कहीं भी कोई भी विरोध नहीं है। अहिंसा को समझना कोई सरल कार्य नहीं चलता, अपितु इसके पालन करने में ही सार्थकता है।"-"यंग इण्डिया" 5.11.1925

यदि आज विश्व को स्थायी शान्ति प्रदान करना है तो व्यक्ति को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में एकरूपता लानी होगी, इन सबकी प्राप्ति के लिए नैतिकता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि नैतिकता की कमी ही जीवन को विभिन्न क्षेत्रों में विषमता को जन्म देती है और उसी से राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं का जन्म होता है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता के अभाव में समाज और राष्ट्र का जीवन भी भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए गांधीजी अपने कार्यक्रम में नैतिकता को विशेष महत्व देते हैं।

विश्वशांति के लिए भ्रातृत्व की भावना का विकास और प्रचार सबसे महत्वपूर्ण है। गांधीजी का विश्व भ्रातृत्व-सिद्धांत वेदान्त दर्शन के आत्मा और परमात्मा के सिद्धांत पर आधरित है। मानवपरिवार का सदस्य होने के नाते हमलोग सब एक हैं। मानव-मानव में कोई भिन्नता नहीं है। यह दूसरी बात है कि देश काल और परिस्थिति के कारण मनुष्य, समाज और उसकी प्रकृति में अन्तर आ जाता है पर यह ऊपरी भिन्नता है, भीतर में सब एक ही तार है। इसी कारण यह बाह्य अन्तर व्यक्ति को

वर्गों में बॉटने में असमर्थ है। महात्मा गांधी ऐसा मानते थे। इसलिए वे कल्याण और उन्नति के विषय में व्यापक, सार्वजनीन और विश्वसनीय भावना रखते थे। उनका विचार था कि देश तथा मानव समुदाय को छोड़कर भारत के लोगों की उन्नति नहीं हो सकती, इसलिए जब सब का कल्याण होगा, सब की उन्नति होगी, मानव समुदाय का उन्नति होगा तभी भारतीयों का भी उद्धार होगा। उनकी दृष्टि में सभी धर्म और विश्वास समान हैं। वे सभी सम्प्रदाय और आचार के लोगों के प्रति आदर भाव रखते थे। धर्म, संप्रदाय, जाति के भेद को मिटाने के लिए मनुष्य के आपसी संघर्ष को समाप्त करने के लिए धर्मिक और जातीय सहिष्णुता परमावश्यक है। जीवन में सुख और सन्तोष पाने के लिए इससे कहीं ऊंची और दूर की चीज चाहिए वह है मानवता के प्रति श्रद्धा। जब तक हम मानव-भ्रातृत्व और अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव को अपने भीतर नहीं लाते तब तक न हम शांतिपूर्वक रह सकते और न दूसरों को ही रहने दे सकते हैं। क्योंकि युद्ध व्यक्ति और समूह की भावनाओं का क्रियात्मक रूप है। अत: जब तक व्यक्ति और समूह से इसके मूल कारण क्रोध, घृणा, लिप्सा, अभिमान, भय, स्वार्थ आदि दोषों का निराकरण नहीं हो जाता तब तक शांति संभव नहीं। अत: विश्वशान्ति के लिए सबसे पहले व्यक्ति और राष्ट्र को नैतिक सिद्धांतों को अपनाना होगा, तभी अंतर्राष्ट्रीय शांति संभव हो सकती है।

स्थायी शांति के लिए गांधीजी ने निर्भयता का पाठ अपनाने को कहा, कायरता ही तमाम बुराइयों की जड़ है। कायरता के लिए उनके सिद्धांतों में कोई स्थान नहीं था। कायरतापूर्वक चुपचाप अत्याचार सहनेवाले की अपेक्षा शस्त्र लेकर क्रांति करनेवालों से उनकी सहानुभूति अधिक थी। यद्यपि यह मार्ग भी उनका अभीष्ट नहीं था। शस्त्र से मुकाबला करनेवाला अपने पर विश्वास भले ही करे किन्तु वह निर्भय नहीं हो सकता। आज छोटे-छोटे राष्ट्रों के मुकाबले विश्व के वे ही राष्ट्र सबसे अधिक भयभीत रहते है जो बृहतर शस्त्र बल से लैस है।

स्थायी शांति के लिए गांधीजी दृढ़लगन को भी महत्वपूर्ण मानते है। दृधलगन के द्वारा हम विश्व की बड़ी से बड़ी शक्ति को झुका सकते है। यदि हमारा लक्ष्य शुद्ध तथा आत्मसंयम से युक्त हो, हम आत्मबलिदान के लिए तैयार रहें तथा संसार के कुछ लोग इस प्रकार कटिबद्ध हो जाएं तो संसार में बिना बल प्रयोग के ही शांति स्थापित हो जायगी।

गांधीजी के पास शस्त्र से सुसज्जित कोई फौज नहीं थी फिर भी उन्होंने विश्व की एक महाशक्ति के ऊपर विजय प्राप्त की। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसके प्रयोग के लिए व्यक्ति नहीं राष्ट्र की आवश्यकता होगी। राष्ट्र दृढ़लगन और अहिंसक तरीकों का प्रयोग कर विश्व संकटों का समाधन कर सकता है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करनेवाली एकमात्र महत्वपूर्ण संस्था यू० एन० ओ० को इस दिशा में विशेष प्रयास करना चाहिए। इसके लिए यू० एन० ओ० चार्टर में सुधार कर इसकी क्रियात्मकता में विशेषाधिकार आदि जो बाधाएँ हैं उसे समाप्त कर देना चाहिए।

विश्व में स्थायी शांति के लिए गांधीजी ने जो अभूतपूर्व मार्ग दिखाया वह है अहिंसा का व्यापक प्रयोग। वे कहते हैं कि "अहिंसा का प्रयोग हमें केवल व्यक्तियों पर ही नहीं करना चाहिए बल्कि समूहों, राष्ट्रों और समाजों पर भी करना चाहिए।" सर्वतों भावेन ऐसा करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। सत्य और अहिंसा पर दृढ़ विश्वास करने को कहते हुए उन्होंने कहा कि बुरे साधनों से अच्छे परिणाम नहीं निकाल सकते। इसलिए साध्य और साधन में एकरूपता होनी चाहिए। अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार सत्य और अहिंसा के साधनों से ही किया जाना चाहिए अन्यथा इसका परिणाम भी घृणा और युद्ध ही होगा। युद्ध में रक्तपात होता है इसके परिणाम सदैव बुरे होते है। गॉधीजी सत्यानिष्ठ और अहिंसक होने के नाते युद्ध विरोधी थे और उसका अन्त चाहते थे। इसलिए उन्होंने

अपनी चिन्ता प्रकट करते हुए कहा "मेरी अंतरात्मा में अहिंसा के विषय में कुछ भी अस्पष्ट नहीं है। युद्ध एक बहुत बड़ी चीज है और इसे समाप्त करना चाहिए। रक्तपात पर आधारित स्वतंत्रता निर्मल नहीं होती है। मेरे सब कार्यों का लोग दोषपूर्ण समझें पर मैंने कभी अहिंसा के विरुद्ध कार्य करने को नहीं सोचा। हमारे जीवन का आधर सत्य और अहिंसा ही हो सकता है। असत्य और हिंसा कभी भी नहीं"- ("यंग इण्डिया" 13/09/28 पृष्ठ 308) विश्व को स्थायी शांति प्रदान करने और मानवता की रक्षा के लिए गांधीजी ने शांतिमय एवं कुछ मानवीय उपायों को खोज निकाला और उनका परीक्षण कर सफलता प्राप्त की। अहिंसा का प्रयोग करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित सूत्रों को सत्याग्रहियों को अपनाने को कहा-

1. आत्मा और उसकी सर्वश्रेष्ठ शक्ति में विश्वास
2. सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा
3. सभी प्रकार के शारीरिक बल का बहिष्कार
4. साधनों की पवित्रता और बुराइयों के साथ असहयोग, असहयोग के द्वारा बुराइयों का निवारण
5. अपने प्रतिद्वन्द्वी के साथ समझौता करने को प्रस्तुत रहना
6. प्रारंभिक शिक्षा और
7. समस्त धर्मों के प्रति समभाव

हजारों वर्षों से रक्तपात से ऊबे हुए विश्व को उन्होंने एक ऐसा मार्ग दिखाया जिसके आधर पर बिना शर्त के ही अन्याय का विरोध किया जा सकता है। यह पद्धति कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नही। इसके अलावा कोई अन्य रास्ता भी नहीं। हमें विभिन्न क्षेत्रों और परिस्थितियों में इसका सफल प्रयोग करने के लिए कुछ आवश्यक परिवर्तन भी करना होगा। स्थायी शांति की प्राप्ति के लिए अहिंसा एवं सत्य को अपनाना ही होगा। इसी के आधार पर विश्व के समस्त राष्ट्रों का सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संगठन किया जा सकता है। अहिंसात्मक विरोध के द्वारा हम अपने व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सभी तनावों का हल शांतिपूर्वक निकाल सकते हैं। आज तक के इतिहास में कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जबकि किसी देश ने अहिंसात्मक प्रतीकार किया हो। यदि किसी देश पर मेरे कष्ट सहन का कोई असर नहीं पड़ता तो इसके लिए हमें अपना आत्मसम्मान नहीं खोना पड़ रहा है, पर निर्भीक भाव से बिना किसी लिप्सा के शस्त्रविहीन स्त्री, पुरुष और बच्चों के द्वारा किया गया द्वेष रहित अहिंसात्मक प्रतिरोध उनके लिए एक नया अनुभव होगा और लोग इस अमोघ शक्ति के आगे अन्ततः झुक जायेंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डी. जी. तेंदुलकर: "महात्मा", खंड 6
2. मोहनदास करमचंद्र गांधी: "आटोबायोग्राफी"
3. के. पोलक: "विश्व भारती कवार्टरली", गांधी शांति विशेषांक
4. "हरिजन"
5. "यंग इण्डिया"
6. लुई फिशर : "गांधी"
7. मोहनदास करमचंद्र गांधी : "हिन्द स्वराज्य"

❖

इतिहास

ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा और वैज्ञानिक इतिहास लेखन

राकेश कुमार झा

नेट उत्तीर्ण

प्रो० जे०वी० व्यूरी ने 1903 ई० में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सत्रारंभ के अवसर पर अपने अभिभाषण में कहा था कि इतिहास विज्ञान है न कम न अधिक। जॉन स्टुअर्ड मिल हमेशा कहा करता था कि जो प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र में संभव है वह हर कहीं संभव है। राऊस का कथन है कि अधिकांश इतिहासकारों ने इतिहास को विज्ञान स्वीकार किया है।[1] अत: यदि इतिहास विज्ञान है तो निश्चित रूप से इतिहास को वस्तुनिष्ठ होना चाहिए। वैज्ञानिक इतिहासकारों की यह मान्यता है कि वे इतिहास के निष्कर्षों को सार्वभौमिक तथा सर्वकालीन बनाने के लिए सतत् प्रयत्नशील है। वास्तव में आधुनिक इतिहासकारों ने जिस प्रकार सामाजिक परिवर्तन के नियमों की खोज की है वह मानव सभ्यता के विकास प्रक्रिया के पैटर्न एवं तरीकों को पता लगाने की कोशिश की है। कार्यकरण सम्बंधों के आधार पर वर्तमान का कारण अतीत में ढूढ़ने का प्रयास किया है, कालक्रम में मनुष्य की स्थिति को जानने के लिए अतीत का अन्वेषण किया है और मनुष्य के विकास यात्रा का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत किया है- इतिहास अनिवार्यत: वस्तुनिष्ठ हो गया है।

अत: आधुनिक मान्यता के अनुसार वस्तुनिष्ठ इतिहास की आत्मा है जैसा कि बटरफिल्ड ने लिखा है कि वस्तुनिष्ठ इतिहास की वाणी है। बाल्स के अनुसार एतिहासिक वस्तुनिष्ठ इतिहास-अनुशासन का अंग है और निष्पक्षता इतिहास की आवश्यकता है। इतिहास में वस्तुनिष्ठ के प्रश्न को स्पष्ट करते हुए बाल्स का कथन है कि अतीत का यथार्थ चित्रण ही इतिहास की वस्तुनिष्ठ है परन्तु इतिहास की वस्तुनिष्ठ एक गंभीर विवाद का विषय है। बियरड ने वैज्ञानिक इतिहास की बात करनेवालों पर करारी चोट की और इसे द नोबेल ड्रिम की संज्ञा दी। शिलर का कथन है कि ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठ एक असंभव परिकल्पना है तथा इतिहास में निर्वैयाक्तिक ज्ञान अर्थहीन होता है।[2] वस्तुत: ऐसा प्रतीत होता है कि परिवर्तनशील समाज में बदलती हुई मान्यताओं के साथ एक व्यक्ति अर्थात इतिहासकार के द्वारा मानव कृत का लेखा-जोखा व्यक्तिगत और प्रवेशगत दबावों के कारण वस्तुनिष्ठता नहीं हो सकता फिर भी इतिहास लेखन के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठा एक आदर्श अवधारणा मानी जाती है यह कहा जाता है कि ऐतिहासिक तथ्यों को प्रभाव देकर ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा को सुरक्षित किया जा सकता है। यघपि ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा एक जटिल समस्या है और असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है परन्तु इसके बावजूद इसमें कोई दो राय नहीं की वस्तुनिष्ठा इतिहास लेखन की प्राथमिक शर्त है अत: इतिहास में वस्तुनिष्ठा की आवश्यकता, समस्या और उसकी आदर्श स्थिति का विवेचन आवश्यक है ताकि एक निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ इतिहास मानव समाज के लिए उपयोगी और श्रेयस्कर साबित हो सके।

इतिहास में वस्तुनिष्ठा का तात्पर्य ऐसे विश्लेषणों मूल्यांकनों और निष्कर्षों से है जो यथासंभव सार्वभौमिक, सर्वकालिक और सर्वमान्य हों, परंतु जिस प्रकार विज्ञान के नियम, सिद्धांत एंव निष्कर्ष की वस्तुनिष्ठा पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगता, वैसी स्थिति इतिहास के साथ नहीं है। इतिहास की वस्तुनिष्ठा सापेक्षित होती है विज्ञान की तरह पूर्ण वस्तुनिष्ठा इतिहास में संभव नहीं है। जब एक वैज्ञानिक इतिहासकार सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों और व्यक्तिगत एंव प्रवेशगत प्रभावों से पूर्णत: मुक्त होकर विश्वव्यापी परिपेक्ष्य में उपलब्ध सभी तथ्यो एवं साक्ष्यो का पूर्ण उपयोग करते हुए तटस्थ भाव से ईमानदारीपूर्वक इतिहास में प्रगति के सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में मानव समाज के विकास को रेखांकित करता है तब ऐसा इतिहास लेखन ही वस्तुनिष्ठा कहलाता है। निश्चित रूप से निर्वैक्तिक एवं निर्पेक्ष इतिहास ही वस्तुनिष्ठ इतिहास होता है, चूंकि इतिहासकार एक र्निविचार यंत्रवत सर्वथा निर्पेक्ष प्राणी नहीं हो सकता और ऐतिहासिक तथ्य भी चयनात्मक प्रकृति के होते हैं इसलिए ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा भी सापेक्षिक होती है जो इतिहासकार के निर्पेक्षता, क्षमता और निष्पक्षता पर निर्भर करता है। इसलिए वाल्स ने कहा है कि एक घटना के प्रस्तुतिकरण में यदि इतिहासकार अतीत का संपूर्ण यथार्थ चित्रण नहीं कर सकता है तो उसे यथार्थ तथ्यों का ही वर्णन करना चाहिए। यही यथार्थता इतिहास की वस्तुनिष्ठ है।[3]

इतिहासकार क्रोशे ने पूरे इतिहास को सांप्रतीक इतिहास कहा है यदि इतिहास समसामायिक और प्रासंगिक होता है तो इतिहास में जो तथ्यों का अपना महत्व है, उसकी अपनी जो अस्मृता होती है उसे इतिहास को समसामायिक और प्रासंगिक बनाने के क्रम में भंग किए जाने की संभावना प्रबल हो जाती है परिणामस्वरूप इतिहास का दुरुपयोग होने लगता है। एक इतिहासकार के अनुसार वर्तमान के हाथो पूरी तरह बिका हुआ इतिहास न केवल घोर पक्षपात का शिकार हो जाता है, बल्कि विनाश की पृष्ठभूमि तैयार करने में भी सहायक होता है। फासीवादियों तथा नाजीवादियों ने राजनीतिक उपकरण के रूप में इतिहास का इस्तेमाल किया और साम्राज्यवादियों ने इतिहास को ही अपना बौद्धिक आधार बनाया ऐसा इतिहास राष्ट्रीय उन्माद, सांप्रदायिक विद्वेष, जातीय घृणा और प्रतिशोध का भी उत्प्रेरक बन जाता है। अत: इतिहास का दुरूपयोग रोकने के लिए उसे मानवता के लिए वरदान साबित करने के लिए और उसे ज्ञान का स्त्रोत एंव शिक्षा का संवाहक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इतिहास में वस्तुनिष्ठा को ऐतिहासिक अनिवार्यता माना जाए जिसके बिना इतिहास की आत्मा ही समाप्त हो जाती है। परन्तु ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा की अनेक सीमाएँ है और इसकी समस्या अत्यंत ही जटिल है। बियर्ड ने ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हुए यह लिखा है कि-

(1) इतिहासकार रसायणशास्त्री की तरह अपने तथ्यों को अपने सामने नहीं देख सकता। उसके तथ्य दस्तावेजों में होते है, जो कितने भी पूर्ण हों लेकिन सभी घटनाओं और सभी व्यक्तियों के पूर्ण दस्तावेज नहीं हो सकतें।

(2) इन सीमित दस्तावेजों में से कुछ ही तथ्य इतिहासकार चुनता है।

(3) ऐसी स्थिति में जिस इतिहास की रचना होती है उसका स्वरूप पूर्वाग्रहपूर्ण नहीं हो सकता। यह कैसे कहा जा सकता है कोई न कोई नैतिक या सौन्दर्य परक विचार तथ्यों को अपने रंग में रंगेगा। किसी न किसी तरह की लोकोत्तरता तो रहेगी ही-ईश्वर की न सही, वह तर्क पदार्थ या प्रकृति सम्बंधी होगी।

(4) इतिहासकार कितना भी नियंत्रण एंव त्याग का परिचय दे वह अतीत को यथावत चित्रित नहीं कर सकता।

(5) इस प्रकार इतिहासकार इतिहास की वस्तुगत सच्चाई तक पहुंचने का लक्ष्य भले ही बना लें वहां तक पहुंच नहीं सकता। जाहिर है कि इतिहास की चयनात्मक एंव वर्णनात्मक प्रकृति होने के कारण एक वैज्ञानिक इतिहासकार भी पूर्णवस्तुनिष्ठा का दावा नहीं कर सकता।

परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत संस्कारों और परिवेश गत प्रभावों से मुक्त नहीं हो सकता। कार्ल मार्क्स के अनुसार मनुष्य सामाजिक प्राणी है और संस्कारों से जुड़ा हुआ है। उसका जन्म, पालन, पोषण तथा विकास, परिवार तथा समाज के परिवेश में होता है। राष्ट्रीय एंव विश्वपरिघटना रात-दिन इसे प्रभावित करती है। इतिहासकार चाहकर भी इन प्रभावों से अपने को अलग नहीं कर सकता।[4] ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा सदिग्ध हो जाती है। जे०पी० गुच के अनुसार हार मांस के बने लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मुद्रित पृष्ठों में होती है। हेनरी पिरेन का कथन बिल्कुल सही प्रतीत होता है कि समय इतिहासकार को तथा इतिहासकार समय को प्रभावित करता है, इसलिए प्रसिद्ध जर्मन इतिहासकार रॉके ने कहा था कि इतिहास लेखन अन्तः चेतना का विषय है।[5] इतिहास की वस्तुनिष्ठा न केवल इतिहासकार के व्यक्तित्व विचारों और वातावरण के प्रभावों से प्रभावित होता है अपितु बदलते युग के साथ मनुष्य की बदलती मान्यताओं ने भी ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा को परिसीमित कर दिया है।

जाति-व्यवस्था, दास-प्रथा, राजतंत्र आदि कभी समाज के लिए अत्यंत उपयोगी माने जाते थे, परन्तु आज इन्हें अभिशाप माना जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्य की उपयोगिता भी बदलते युग के साथ परिवर्तित होती रहती है। इतना तक कि मानव-स्वभाव एंव उनकी रुचियाँ भी परिवर्तनशील हैं। जे०पी० रॉबिन्स ने कहा है कि आधुनिक इतिहासकारों द्वारा संकलित ऐतिहासिक सामग्रियों का उपयोग युग की आवश्यकता के अनुसार होता है। क्रोशे ने इतिहासकारों को यह सिख दी कि उनकी आत्मा अपने युग के प्रति संवेदनशील होनी चाहिए। इतिहास की पुनर्रचना इस आवश्यकता का प्रत्यक्ष परिणाम है। गार्डिनर के कथनानुसार ऐतिहासिक तथ्य की उपयोगिता या अनुपयोगिता विभिन्न युगों में बतलती रहती है।[6] स्पष्ट है कि यदि युग के अनुरूप इतिहास की पुनर्रचना आवश्यक है तो फिर ऐतिहासिक विश्लेषण, मूल्यांकन एंव निष्कर्ष ने सार्वभौमिकता या सार्वकालिकता की तलाश व्यर्थ है।

इतिहास का स्वरूप चयनात्मक होता है। इतिहासकार सर्वप्रथम विषय का चयन करता है, फिर उस विषय से सम्बंध ऐतिहासिक तथ्यों का चयन करना पड़ता है-इस प्रकार का चयन इतिहासकार को पूर्वाग्रही बना देता है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि किसी भी परिघटना से संबद्ध सभी तथ्य एंव साक्ष्य भी उपलब्ध नहीं होते ऐसी स्थिति में चयन की प्रक्रिया को अपनाते हुए अतीत का सर्वांगीण चित्रण असंभव है। वस्तुतः तथ्यों की अपूर्णता और इतिहास का चयनात्मक स्वरूप ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा के लिए बाधक बन जाता है। जैसा कि एल्टन का कहना है कि इतिहासकार की चयन प्रक्रिया वस्तुनिष्ठा इतिहास का बाधक तत्व होता है। वास्तव में विषय के चयन से लेकर तथ्यों के चयन तक इतिहासकार अपनी अन्तः चेतना से कार्य करता है। फिर तथ्यों के उपयोग में भी इतिहासकार स्वतंत्र होता है जाहिर है कि इतिहासकार कितना भी निष्पक्ष क्यों नहीं हो, इतिहास प्रस्तुतीकरण इतिहासकार के व्यक्तित्व के अभिव्यक्ति होती है, विश्लेषण उसके अपने होते हैं, और निष्कर्ष भी उसी का होता है, फिर इतिहास वस्तुनिष्ठ कैसे हो सकता है। दरअसल इतिहास का चयनात्मक स्वरूप इसे व्याख्या प्रधान बना देता है। कॉलिंगवुड के अनुसार तथ्य कुछ भी नहीं होते, व्याख्या ही सब कुछ होती है अर्थात् इतिहास का अर्थ ही व्याख्या होता है। ए० बटर फिल्ड ने इसलिए इतिहासकारों से कहा कि पहले तथ्यों का संकलन करो और तब उनके कारण और परिणाम की व्याख्या करो।[7] व्याख्या के माध्यम से ही इतिहासकार अतीत का परिकल्पनात्मक पुनर्निर्माण करता है। स्पष्ट है कि ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या में इतिहासकार की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

अत: व्याख्या प्रधान इतिहास वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता। इतिहास मूल्य परक भी होता है। रिर्काट का कहना है कि ऐतिहासिक विवरण का समस्त स्वरूप मूल्यों द्वारा निर्धारित होता है। इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए मैन्डेल बॉम ने कहा है कि ऐतिहासिक व्याख्याओं का आधार सांस्कृतिक मूल्यों की वैध मान्यताएँ होती है।[8] चूंकि ऐतिहासिक मूल्यों की प्रकृति परिवर्तनशील होती है इसलिए ऐतिहासिक न्याय भी मानव समाज की बदलती हुई मान्यताओं एंव मूल्यों के साथ बदलते रहते हैं। उस स्थिति में इतिहास की वस्तुनिष्ठा एक गंभीर समस्या बनी हुई है।

अन्तत: विचारधराओं ने विभिन्न युगों में इतिहास की वस्तुनिष्ठा पर गहरा आघात किया है, जिसके फलस्वरूप इतिहास का दुरुपयोग भी बड़े पैमाने पर होता रहा है। इतिहास लेखन सर्वाधिकार विचारधाराओं से प्रभावित होता रहा है जिसके कारण ही कॉलिंगवुड को कहना पड़ा कि संपूर्ण इतिहास विचारधाराओं का इतिहास होता है। यदि विचार ही समस्त मानवीय कार्य-व्यापार का मूल स्त्रोत, उद्‌भव स्थल और प्रत्येक शक्ति है तो नि:संदेह इतिहास लेखनी की विचारों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता विचार प्रधान इतिहास ही कभी जातिवाद का तो कभी नस्लवाद का, कभी फासीवाद का तो कभी साम्यवाद का और कभी सांप्रदायवाद का तो कभी उग्रराष्ट्रवाद का संवाहक बन जाता है। जाहिर है कि ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा विचारों और वादों की दुनिया में खो जाती है।

ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा की सीमाओं और समस्याओं पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहास में वस्तुनिष्ठा जैसी कोई चीज नहीं हो सकती परंतु यह सही धारणा नहीं है। वस्तुत: वस्तुनिष्ठा तो इतिहास की मूल आत्मा है। एतिहासिक प्रस्तुतीकरण में वस्तुनिष्ठा का प्रतिस्थापन इतिहासकार की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करता है। विषय के चुनाव से लेकर तथ्यों के संकलन तक और फिर तथ्यों के प्रस्तुतीकरण से लेकर उसकी व्याख्या तक यदि इतिहासकार इतिहास की मूल आत्मा से कोई खिलवाड़ नहीं करता और अपनी मंशा एंव कर्तव्य के बीच संतुलन बनाए रखता है तो वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन संभव हो जाता है। एक वैज्ञानिक इतिहासकार अपने उद्देश्य की पवित्रता और अपने विषय के अनुशासन तथा मर्यादा का निर्वाह करते हुए यदि इतिहास लेखन करता है तभी उसका लेखन वस्तुनिष्ठ और सार्थक माना जाता है। मैडलबॉम के अनुसार ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा इतिहासकार की योग्यता में निहित है।[9] इतिहासकार की योग्यता का विकास सिद्धांत द्वारा नहीं अपितु अभ्यास द्वारा सम्भव है। इतिहास की कोई आचार संहिता नहीं होती है। रेनियर के अनुसार इतिहास लेखन की आचार-संहिता इतिहास में ही निहित रहती है। इतिहास के नियम एंव अनुशासन इतिहासकार को ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा के लिए सदैव प्रेरित करते रहते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. राउज, ए. एल.: ''द यूज ऑफ हिस्ट्री'' पृ. 33।
2. शिलर, एफ. सी. एस.: ''ऑवर हूमेन ट्रुथ'' पृ. 11।
3. वाल्श: ''एन इन्ट्रोडक्शन टू द फिलास्फी ऑफ हिस्ट्री'' 1967 पृ. 97।
4. डेविड मैकलेलन: ''मार्क्स'' पृ. 40।
5. रांके, गूच द्वारा उद्धत पृ. 1।
6. गार्डिनर पी: ''द मेनेच ऑफ हिस्टोरिकल एकसप्लानेशन'' 1961 पृ. 269।
7. बटरफिल्ड एच.: ''हिस्ट्री एण्ड हयूमेन रिलेशन्स'' 1951 पृ. 2।
8. मैडेलबाम पृ. 95, 98, 120।
9. उपरोक्त पृ. 168।

❖

इतिहास

सभ्यता के विनाश में इतिहास की भूमिका

रणजीत कुमार

नेट उत्तीर्ण

इतिहास आदमी के इंसान बनने के जद्दोजहद का दस्तावेज है। यह अतीत से अनुप्राणित होता है। हमारे पास अतीत की जो गौरव-गरिमा है, रौनक हैं, उपलब्धियां व विफलताएं हैं उसे स्मरण कर इतिहास वर्तमान के संदर्भ में इससे हमारा मार्गदर्शन कराता है तथा भविष्य के प्रति सतर्क रखने का प्रयास करता है। प्रख्यात इतिहासकार E.H.CARR के शब्दों में इतिहास वर्तमान और अतीत के बीच अनन्त परिसंवाद है तथा इतिहासकार का मुख्य कार्य वर्तमान के संदर्भ में अतीत की मानव वृत्तियों का एक मानव अर्थात इतिहासकार विवेचन करता है तब इतिहास की रचना होती है।[1] इतिहास इस ओर प्रयासरत है कि वह मनुष्य को उसके अतीतग्रस्तता से अतीत के प्रति जो उसे मोह है उससे निकालकर इतिहास बोध करावे जिससे वह शिक्षा लेकर अपने स्वर्णिम अतीत को पुनः प्रतिष्ठित कर सके।

इतिहासकार के इतिहास की सामग्री अतीत कालिक ऐतिहासिक तथ्य होते हैं तथा इतिहासकार वर्तमान का प्रतिनिधित्व करता है। इतिहास को हम जिस रूप में लेंगे उसका प्रतिफल वैसा ही होगा। इतिहासकार E.R.Elton ने The practice of History में लिखा है-History is what the historian writes.[2] यह हम पर निर्भर करता है कि हम उसका उपयोग किस तरह करते हैं। कोई भी वस्तु स्वयंमेव अनुपयोगी नहीं होती। अणु शक्ति तथा न्यूक्लीय शक्ति की उपयोगिता असंदिग्ध है परन्तु मनुष्य ने आज इसका दुरुपयोग मानव विनाश के लिए किया तो यह अनुपयोगी हो गया है। इतिहास का दुरुपयोग भी महत्वाकांक्षी व्यक्तियों ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए किया है। इतिहास व्यावहारिक स्तर पर हमारे लिए शुभेच्छा हो सकती है और यह प्रयोग करने वाले पर निर्भर करता है कि वह इसे उपयोगी बनाने का या दुरुपयोगी बनाने का प्रयास करता है। इतिहासकार Henery Ford ने लिखा है कि "History is bunk" तथा महान जर्मन दार्शनिक Hegal ने इसे अनुपयोगी करार देते हुए कहा है इतिहास में शिक्षा के लिए कुछ भी तत्व नहीं है।[3] उपरोक्त धरणाएँ निराधार नहीं है। इतिहास को कोई व्यक्ति ही लिपिबद्ध करता है। वह व्यक्ति अपने परिवेश से प्रभावित रहता है। इतिहासकार पर देश, काल, जन्म, भावना, का प्रभाव पड़ता है। वह अपने को निरपेक्ष ढंग से इतिहास की रचना कर ही नहीं सकता। अतीत की पुनर्रचना पूर्णतः वस्तुनिष्ठ ढंग से हो ही नहीं सकती। इतिहासकार को अतीत के वर्णन-क्रम में अपने परिवेश के साथ-साथ अतीत के पात्रों से भी जूझना पड़ता है। उस समय की जीवन मूल्यों पर उसके दृष्टिकोण तथा मूल्यांकन प्रभाव डालते हैं। हम कह सकते हैं कि इतिहासकार अतीत के जुलूस का एक हिस्सा होता है, जो विभिन्न चौराहों रूपी कालक्रम से गुजरता हुआ विभिन्न परिवर्तित होते हुए रंग-रूपों में आज (वर्तमान)तक पहुंचा है। इस जुलूस में इतिहासकार एक धुंधली आकृति के रूप में अपने-आपको पेश करता है। अर्थात इतिहास का रंग-रूप आकार विभिन्न समय में बदलता रहता है, तब इतिहासकार कैसे निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ हो सकता है।

इतिहासकार ऐसे ही में गलती, भ्रातियाँ, तथा पूर्वाग्रहों का शिकार होकर गलत इतिहास की रचना करता है तथा अपने दृष्टिदोष का दुरुपयोग मानवजाति के लिए करने लगता है।

जब कभी इतिहास की रचना स्वार्थपूर्ति, किसी खास-वर्ग की संतुष्टि, जाति-प्रजाति या क्षेत्रीयता को ध्यान में रखकर की जाती है तो वह इतिहास मानव जाति के लिए अभिशाप सिद्ध होता है। सम्राट के संरक्षण में रचा गया इतिहास, धनलोलुपता के लिए की गई रचना, राजनीतिक प्रभाव, धर्म से ली गई प्रेरणा तथा वर्ग-विशेष के हितों के लिए रचा गया इतिहास, इतिहास को अनुपयोगी बना देता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कार्ल मार्क्स ने की है परंतु उसकी भी वैज्ञानिक व्याख्या एक विशेष वर्ग सर्वहारा की हित-पूर्ति को पुर्नस्थापित करने का प्रयास करता है। वर्ग-विद्वेष का जन्म होता है और यह सामाजिक तंत्र को विषाक्त कर देता है। पूंजीपति वर्ग का विनाश, उत्पादन के साधनों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण, वर्ग-विहीन समाज की स्थापना, शोषण रहित एवं समता पर आधरित मानव समाज की स्थापना मार्क्स के वैज्ञानिक इतिहास का लक्ष्य है पर इन सबके पीछे एक-प्रमुख उद्देश्य साम्यवाद की स्थापना भी रही। महात्मा गांधी ने वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहयोग का विचार देकर आदर्श समाज की स्थापना की बात की। इतिहास जब कभी भी वर्ग-विशेष के लिए लिखा गया इसका दुरुपयोग ही हुआ है। इतिहासकार Kaling Wood लिखते हैं कि इतिहास प्रासंगिक होता है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इसकी रचना वर्ग-विशेष या स्वयं की स्वार्थ सिद्धि के लिए की जाय।

इतिहास जब प्रतिशोध तथा प्रतिस्पर्धा की भावना से लिखा जाता है तब अनायास इसका दुरुपयोग होने लगता है। यह कटु सत्य है कि इतिहास मनुष्य के स्वर्णिम अतीत के वर्णन के साथ-साथ उसके युद्धों, षड्यंत्रों, विनाश, पतन का भी उल्लेख करता है जिससे मानवजाति में प्रतिस्पर्धा तथा प्रतिशोध की भावना बलवती हो जाती है जो संपूर्ण राष्ट्र एवं मानवजाति के लिए घ्रातक सिद्ध होती है। हिटलर का उत्थान अगर द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण बना तो बिस्मार्क द्वारा फ्रांस से ऐल्सेस लोरेन को जबरन अधिकार कर लेने से प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। अरब तथा यहूदियों के बीच संघर्ष का कारण, अतीत का स्मरण ही रहा है। भारत-चीन के बीच सीमा-विवाद, भारत-पाकिस्तान के बीच कूटनीतिक असफलता का प्रमुख कारण दोनों देशों की अतीतग्रस्तता ही रही है। जाहिर है कि यदि इतिहास का प्रयोग शत्रुता एवं प्रतिस्पर्धा की भावना को जीवित रखने के लिए किया जाता है तो इतिहास का दुरुपयोग होने लगता है। आधुनिक काल में रामजन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवाद में दोनों संप्रदायों हिन्दू और मुसलमान के बीच परस्पर अविस्वास का जो माहौल है उसमे इतिहास का दुरुपयोग किया गया है। राष्ट्र संघ की स्थापना उच्च आदर्शों के लिए की गई थी, परंतु संकुचित राष्ट्रवाद की भावना ने उसे मृतप्राय कर दिया। हिगेल ने अपनी रचनाओं से जर्मन राष्ट्रवाद, जर्मन प्रजाति की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप वहां के लोगों में जातीय अहं की भावना का विकास हुआ जिसका खामियाजा जर्मनी को द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में भुगतना पड़ा।

कभी-कभी इतिहास की रचना इतिहासकार अपने विचारों के प्रचार माध्यम के लिए करता है। वह तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर तथा व्यक्तिगत द्वेष तथा भावनाओं को प्रधानता देकर इतिहास की रचना करता है। ऐसे इतिहासकारों की सर्वत्र निंदा होनी चाहिए जो मानव-समुदाय को अपने कार्य-कृत्तियों के द्वारा विनाश की ओर ढकेल रहे हैं। इतिहास की वस्तुनिष्ठता का परित्याग कर उसे अतिरंजित करने का प्रयास इतिहास की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है, तब इतिहास इतिहास नहीं रहकर कोरा प्रचार माध्यम बन जाता है। इतिहास समसामायिक होता है,[5] अर्थात् यह वर्तमान के माध्यम से अतीत के सारे सवालों का उत्तर देता है। प्रत्येक वर्तमान इतिहासकार अतीत का अवलोकन

अपनी दृष्टि से करता है। अतीत को वह उस रूप में नहीं देखता जिस रूप में वह था। वह अपने मस्तिष्क में अतीत का निर्माण कर अपने ढंग से उसे अमली जामा पहनाता है, परिणामत: इतिहास समसामयिक नहीं रह जाता है। वह इतिहासकार के मस्तिष्क से प्रभावित से होता है। जो जैसा चाहता है वैसे उसको प्रस्तुत करता है। दास प्रथा किसी युग की सामाजिक आवश्यकता थी पर अब वह अभिशाप मानी जाती है। इसका चित्रण अब सामाजिक संघर्ष को जन्म देता है।

इतिहास का अध्ययन विचारधाराओं का अध्ययन है।[6] जब तक सामान्य लोगों की उपेक्षा कर, कुछ लोगों की गौरव-गरिमा के लिए इसका प्रयोग किया जायगा तब-तब इसका दुरुपयोग होगा। प्रत्येक घटना, परिघटना, मानव-व्यापार का उद्‌गम स्थल, मानव मस्तिष्क ही होता है। हिगेल, मार्क्स, क्रोचे आदि इतिहासकारों ने अपने हाथों से इतिहास की उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। रूसो के मानव स्वतंत्रता सम्बंधी सिद्धांत, मार्क्स की आर्थिक-व्याख्या, हिगेल का द्वंद्ववाद आदि सिद्धांतों का उपयोग ऐतिहासिक अवधारणाओं के विकास में होता रहा है, परंतु इसके प्रतिफल में विशेष वर्ग का हित सिद्ध हुआ है, जिसने मानव- मानव के बीच की दूरी को चौड़ा कर दिया है। इतिहास की पुनर्रचना प्रत्येक युग में सामाजिक आवश्यकतानुसार होती है। एक ही ऐतिहासिक तथ्य की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता विभिन्न युगों में बदलती रहती है। उपनिवेशवाद, दास-प्रथा किसी युग की सामाजिक आवश्यकता थी, परंतु अभी ये अभिशाप मानी जाती है। इस प्रकार मानव जीवन की रुचियाँ तथा निहित स्वार्थो का स्वरूप प्रत्येक युग में बदलता है अर्थात् युगचक्रवाद इतिहास को प्रभावित करता है। पर इससे ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा पर प्रश्नचिन्ह लगता है। इतिहासकार की दृष्टि अलग- अलग ढंग की हो जाती है तथा तथ्यों की प्रामाणिकता असंदिग्ध हो जाती है। व्यवहार में इसका लगातार दुरुपयोग किया जाता है। इतिहास की धरा अतीत से लेकर वर्तमान तक भविष्य की ओर उन्मुख होती है तब इतिहास की उपयोगिता वैज्ञानिक समझदारी पर ही आधारित रह जाती है।

इतिहास जब कभी धर्म तथा जाति से प्रभावित होता है तब इसका दुरुपयोग होने लगता है। कई इतिहासकार अपने को इससे मुक्त नहीं रख पाते हैं। मध्यकालीन भारतीय इतिहास लेखन में सर-यदुनाथ सरकार जहां औरंगजेब की धार्मिक-नीति तथा मंदिरों को तोड़ने के कारण उसकी कटु आलोचना करते हैं, वहीं फारूकी उसके इस कार्य को औचित्यपूर्ण ठहराते हैं।[7] इसी प्रकार के इतिहास की दुरुपयोगिता अरब तथा यहूदी इतिहासकारों तथा प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक इतिहासकारों में पाए जाते हैं। इतिहास में जब महानायकों के चित्रण को प्रधनता देकर समाज को गौण करके नियतिवाद को मान लेने पर तथा भविष्यवाणी करने पर इतिहास का दुरुपयोग होता है। इससे समाज में गलत नीतियों का विकास होता है। जीवन-मूल्यों में ह्रास आता है तथा नए मानदंड स्थापित करने में कठिनाई होती है। रचनाएं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती हैं, परंतु व्यक्तित्व से इतिहास को दूषित नहीं करना चाहिए।[8]

इतिहास में सामान्यीकरण के द्वारा भी इसका दुरुपयोग होता है। किसी विशेष घटना को हम प्रमुखता देकर उसका उपयोग हमलोग सभी प्रसंगों में करने लगते है। मुहम्मद बिन तुगलक के द्वारा किया गया राजधानी परिवर्तन उस समय ठीक नहीं था पर हम आज के सन्दर्भ में बिना अन्वेषण किये उसे नियति मान लेना एक खतरनाक प्रवृत्ति को जन्म देता है। सामान्यीकरण से व्यक्ति में उदासीनता बढ़ती है। उत्साह कम पड़ने लगता है तथा व्यक्ति कुपमंडुकता की ओर जाने लगता है। इतिहास यहां अनुपयोगी होने लगता है। इतिहास में पुनरावृत्ति की अवधरणा भी खतरनाक बात है। यह लोगों के मन में भ्रांतियाँ, संशय, शक पैदा कर देता है। कोई भी दो घटना इतिहास में समान नहीं होकर समरूप

होती है। उसके परिवेश पात्र बिल्कुल अलग-अलग होते हैं। तो फिर इसे हम इतिहास की पुनरावृत्ति कैसे कह सकते हैं। इतिहास में पुनरावृत्ति की यह धारणा व्यक्ति को अंधेरे रास्ते पर अग्रसर करती है। इतिहास में नियतिवाद की धारणा इतिहास को दुरुपयोगी बनाती है। यह व्यक्ति को अकर्मण्य बनाता है तथा उसे कमजोर बना देता है। मार्क्स की भौतिकवादी नियतिवाद अवधारणा को मान लेने पर रूस में 1917 की क्रांति नहीं होती, वहां के लोग हाथ पर हाथ रखकर क्रांति की प्रतीक्षा करते रहते। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में हम आज भी शायद गुलाम ही रहते और किसी अवतार की प्रतीक्षा करते रहते। इतिहास में नियतिवादी से की गई भविष्यवाणियां इतिहास को दुरुपयोगी बना देती है।

इतिहास जब कभी गलत व्यक्तियों, गलत परिवेश में पड़ा है तब-तब स्वार्थी व्यक्तियों ने इसका उपयोग अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए किया है। इतिहास का यह दुरूपयोग उसकी उपादेयता को असंदिग्ध कर देता है। इसलिए प्रसिद्ध इतिहासकार Ernest Rennar ने लिखा है-

"To forget and I will venture to say to get one's history wrong are essential elements in the making of a nation and thus the advance of historical studies is often in danger to the nationality." परंतु क्या मानव कल्याण के लिए इस विशाल इतिहास को हम भूला सकते है। यह सत्य है कि इतिहास को भूलने वाले राष्ट्र का कोई भविष्य नहीं होता है। अतीत के इस चित्रण का उपयोग हम भविष्य निधि के रूप में करेगें। अतीत के बिना वर्तमान अपूर्ण और अज्ञेय है। जरूरत है वर्तमान सन्दर्भ में वैज्ञानिक इतिहास लेखन के क्रम में वस्तुनिष्ठा का समावेश हो, व्यक्तिगत स्वार्थो की तिलांजलि दी जाए, किसी वर्ग-विशेष, क्षेत्र, राष्ट्र की भावना से हम ऊपर उठकर इतिहास का निर्माण करें, तब इतिहास के दुरुपयोग को रोक सकते है। अतीत के प्रति लगाव अच्छी बात है पर उसे इतिहास के द्वारा जानकर भी उसकी प्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयास नहीं करना इतिहास की आत्मा के साथ परिहास करना है। Renier ने लिखा है, "All past is my past and I want to recapture for my own satisfaction." कोई भी विषय स्वंय अनुपयोगी नहीं होता है इसे अनुपयोगी या दुरुपयोग बना दिया जाता है। इतिहासकार G.R. ELTON का भी कथन है- “History is what the historian writes.”

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ई. एच. कार: ''हावट इज हिस्ट्री'' पृ. 30।
2. जी. आर. एल्टन: ''द प्रैक्टिस ऑफ हिस्ट्री'' पृ. 167।
3. शेक अली: ''हिस्ट्री इटस थयोरी एण्ड मेथड'' पृ. 22।
4. कालिंगवुड: ''आइडिया ऑफ हिस्ट्री'' पृ. 32।
5. उपरोक्त पृ. 130।
6. उपरोक्त पृ. 175।
7. फारूकी: ''औरंगजेब एण्ड हिज टाइम्स'' पृ. 164।
8. रेनियर: ''हिस्ट्री, इटस परपस एण्ड मेथड्स'' पृ. 249।

◆

इतिहास

ब्रिटिश भारत में कृषक आन्दोलन की समीक्षा

सोनी भगत

रिसर्च स्कॉलर, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

भारतीय किसान, जिनमें मध्यकाल के अन्त तक जरा भी आक्रामक प्रवृत्ति नहीं थी, अंग्रेजी शासत काल के दौरान उनमें आक्रामक सैनिक प्रवृत्तियाँ बड़ी तेजी से प्रकट होने लगीं। सत्ता के पारम्परिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन लाये गये थे उनके कारण कृषि व्यवस्था को अनेक प्रसासकीय परिवर्तनों से गुजरना पड़ा और ब्रिटिश नियमों के अन्तर्गत व्यवस्थित होना पड़ा। अब पूर्ववर्ती परिस्थितियों की तुलना में किसानों का अधिक शोषण होने लगा और किसान इसे चुपचाप बर्दाशत न कर सके। नये अंग्रेजी कानूनी प्रावधानों के आगे पारम्परिक मान्यताओं से अनुमोदित ''बैधता'' की संकल्पना समाप्त हो गयी, फलतः किसानों में संशय व्याप्त हो गया। पारम्परिक मान्यताओं से समर्थित कुछ ऐसे रिवाज भी खत्म हो गये जिनसे किसी प्राकृतिक या सामाजिक विपदा के समय किसानों को तत्कालिक सहायता मिल जाया करती थी। अब वे लोभी शोषणकर्ताओं के खुलेआम शिकार बन जाते। इन कानूनी परिवर्तनों को बड़ी कठोरता एवं निर्ममतापूर्वक लागू किया जाने लगा। ऐसी स्थिति में अत्यन्त सरल एवं भीरू किसान भी समय-समय पर निराशाओं का शिकार होकर सशस्त्र विद्रोह में उठ खड़ा होता।

इसके बजाय कि कृषक संघर्षों को कालक्रमानुसार खण्डों में बाँट कर मनचाही तिथियों के चुनाव के आधार पर वर्गीकृत करें- बेहतर तो यह होगा कि कृषक संघर्ष को कुछ ऐसे स्पष्ट चरणों में बाँट कर विश्लेषित कर सकें कि एक चरण की अपेक्षा अगले क्रमिक चरण में क्या-क्या गुणात्मक परिवर्तन हुए, यह स्पष्ट हो जाए। कुछ ऐसे क्रमिक चरण जिनसे हमारे इस उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है-इस प्रकार हैं;

(1) 1855 से 1875 ई0 तक अर्थात संथाल विद्रोह से लेकर दक्कन के दंगे तक। इस काल में कई महत्वपूर्ण आन्दोलन हुए जो अनेक विशिष्ट क्षेत्रों में विशिष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे। संयुक्त रूप से इस काल में हुए आंदोलनों की चारित्रिक विशेषता यह थी कि वे औपनिवेशिक परिस्थितियों में उत्पन्न किये गये तीव्रगति परिवर्तनों के प्रति कृषक जन-समुदाय को प्रतिक्रिया थी।

(2) 1917 से 1935 तक अर्थात महात्मा गांधी के चम्पारण सत्याग्रह से लेकर अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना तक। इस कालावधि के आन्दोलनों में यद्यपि अनेक नयी प्रवृत्तियां मौजूद थीं किन्तु तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं - जैसे- (क) स्वतंत्रता आन्दोलन से किसानों का घनिष्ठ जुड़ाव और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति सहज सम्पर्क। (ख) स्वतंत्र या अर्द्ध-स्वतंत्र किसान संगठनों की स्थापना होने लगी थी जिनमें किसान सभा भी एक थी।

(ग) मोपला विद्रोह जैसे कुछ आन्दोलनों से यह स्पष्ट होने लगा कि कृषक संघर्षों का प्रभाव सीमा एक पारम्परिक समाज में कितनी आंकी जा सकती है जबकि कुछ आदिम भावनाएं ही कृषक संघर्षों को एक आत्मघाती अंजाम तक पहुंचाने के लिए काफी हैं।

(3) 1946-50 ई० वह काल है जब तेभागा और तेलंगाना संघर्षों की शुरुआत हो गई और अनेक शक्तिशाली वैचारिक दर्शनों के साथ राजनीतिक दल उन्हें सहयोग-समर्थन और नेतृत्व देने आ पहुँचे थे। यह इस देश के कृषक संघर्षो के इतिहास में सर्वथा नयी बात थी।

उपरोक्त वर्णित तीनों क्रमिक चरणों की विशषताओं के आधार पर भारत में हुए संघर्षो को चार अवस्थाओं में बांटा जा सकता है:-

प्रारम्भिक अवस्था- इस अवस्था के आन्दोलनों की प्रवृत्ति पूर्वकालिक व्यवस्था की पुन: स्थापना की ओर उन्मुख रही तथा उनका चरित्र सशस्त्र-मंडली या टोलीनुमा रहा। कैथलीन गफ के अनुसार 1857 के युग के पूर्व कई जन विद्रोह हुए। उन विद्रोह की उपरोक्त प्रकृति का कारण यह था कि अकसर ऐसे विद्रोहों में ब्रिटिश पूर्व शासन की पुन: स्थापना की भावना थोड़ा भी समावेश पाकर उसे जन विद्रोह मान लिया है जबकि पुन: स्थापना का योग ऐसे विद्रोहों में किसी न किसी रूप में ढूंढ़ लेना कतई मुश्किल नहीं है। 18वीं शताबदी के अन्त और 19 वीं शताबदी के प्रारम्भ की अवधि में अंग्रेजों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर अपनी राजनीतिक पकड़ को अधिकाधिक कसने लगे थे। पुराने राजा, सरकार और जमीन्दार का शासन ठप्प पड़ गया और वे अंग्रजों की इच्छा पर बने हुए थे, लेकिन इस स्थिति को चुपचाप सहन करने के लिए कई छोटे-बड़े जमींदार एवं सरदार तैयार न थे, वे अंग्रेजों को अपना नया स्वामी स्वीकार नहीं करते और उनके खिलाफ उठ खड़े होते थे। ऐसी स्थिति में किसान भी अपनी विद्रोही स्वामी को समर्थन देने के लिए उठ खड़े होते थे। किसानों का विद्रोह में उठ खड़ा होना मुख्यत: अपने स्वामियों के प्रति पारंपरिक वफादारी की भावना से प्रेरित होता था या नये विदेशी स्वामियों के प्रति स्वाभाविक भय और आंशका से। अगले क्रम में हुए ऐसे विद्रोहों में नेता और समर्थक दोनों को अंग्रेजी शासन का अनुभव हो चुका था और वे वखूबी जान गये थे कि ये नये शासक अपनी लोभी प्रवृत्ति के कारण शोषण की किस सीमा तक जा सकते हैं, कैस-कैसे तरीके अपना सकते हैं।

1769-74 ई० के बीच बीरभूम के राजा ने विद्रोह किया। इस प्रकार, बजीर अली ने 1799 ई० में बनारस तथा गोरखपुर के विद्रोह का नेतृत्व किया, 1803 से 1805 के बीच पोलिगरों के विद्रोह, बेल्लारी, अनन्तपुर, कुद्दापह, कुर्नूल तथा उत्तरी अर्काट सहित भारत के अनेक स्थानों पर फूट पड़े। 1824 में देसाई के उतराधिकारियों ने किल्लूर में विद्रोह का नेतृत्व किया। कैथलीन गफ ने 1765 से 1857 ई० के बीच 29 ऐसे किसान विद्रोहों को ढूंढ़ा है जिनकी प्रवृत्ति पुन: स्थापना की ओर प्रेरित रही थी। इस तथ्य का एक अन्य दिलचस्प पक्ष यह है कि इन 29 किसान विद्रोहों में से कम-से-कम 12 का नेतृत्व आदिवासी कबीलाई सरदारों ने किया था। संपूर्ण राष्ट्रीय जनसंख्या के आदिवासी जनसंख्या के छोटे अनुपात के हिसाब से संघर्षो और विद्रोहों में उनकी भागीदारी का अनुपात कहीं अधिक था।

इन तथ्यों के प्रकाश में यह भी स्पष्ट होता है कि आदिवासी जनसमुदायों में विद्रोह की क्षमता एवं प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक थी। प्रकटत: जैसा कि धनाग्र ने अपने अध्ययन में स्पष्ट किया की आदिवासी समुदायों में अपनी पहचान के प्रति एक अत्यन्त प्रगाढ़ जुड़ाव की भावना मौजूद थी जिसने उन्हें ठीक उसी प्रकार जनआन्दोलनों के लिए प्रेरित किया जिस प्रकार राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना ने

राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रेरणा दी। इसके साथ-साथ, इस कालावधि में हो रहे परिवर्तनों के प्रति आदिवासी जनसमुदायों की सूझ-बूझ भारतीय समाज के अन्य समूहों की तुलना में निश्चित रूप से काफी कम थी। आदिवासी जनसमुदाय ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञातिक रूप से, किसी सामाजिक व्यवस्था की अधीनता की भूमिका, या ताबेदारी की भूमिका में कभी संलग्न नहीं रहे अत: बाहरी लोगों के प्रति उनमें स्वाभाविक संदेह एवं भय था। जमीन की नयी बन्दोवस्ती के बारे में उन्हें ठीक जानकारी न मिल सकी और इस अज्ञानता ने भी उन्हें परिस्थितियों का शिकार बना दिया। आदिवासी जनसमुदाय दुहरे शोषण का शिकार बनते रहे - शासन एवं प्रशासन के साथ-साथ बाहरी भारतीय क्षेत्र से आये बनियों, सूदखोरों एवं ठेकेदारों को - जिन्हें वे अपनी भाषा से ''दिकू'' कहते हैं।

बंगाल में सबसे पहले फूट पड़े किसान आन्दोलन थे - संन्यासी विद्रोह एवं जागीर विद्रोह। इसके पश्चात् लगभग सम्पूर्ण 19वीं शताबदी में आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुए विद्रोह एवं आन्दोलन बंगाल की सरजमीं पर छाये रहे। संन्यासी एवं जागीर विद्रोहों को दस्यु गिरोह की श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है। यदि हम टोब्सबॉउस द्वारा प्रतिपादित इस अवधरणा को स्वीकार कर लें कि ऐसे गिरोह शासन की दृष्टि में अपराधी एवं लुटेरे होते थे जबकि स्थानीय कृषक समुदाय में उनकी छवि नायकों एवं बहादुर उद्धारकर्ताओं जैसे होती थी। कथरीन गाउ ने इस श्रेणी के अन्तर्गत उत्तरी भारत के उन ठगों को भी शामिल दिया है जो 1650 ई० से 1830 ई० के बीच सक्रिय रहे। गाउ द्वारा इस श्रेणी में शामिल किये गये अन्य विद्रोहों के प्रमुख हैं, नरसिम्हा रेड्डी के नेतृतव में कुर्नूल में हुआ 1845-47 का विद्रोह, मिदनापुर एवं दक्षिण-भारत के कल्लार आदिवासियों का विद्रोह। 19वीं शताब्दी के अन्तिम काल तक अंग्रेजों द्वारा बंगाल को प्रशासनिक व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाया था। अत: बंगाल के तत्कालीन संकट के कारक भी इसमें जोड़े जा सकते हैं। वार्षिक क्रियाकलापों का कागज़ी विवरण भी अंग्रेजाी शासन अभी पूरा न कर पायी थी कि 1770 के भयानक अकाल ने बंगाल की एक तिहाई जनसंख्या को मृत्यु का ग्रास बना दिया। नौकरी से छूट गये भूतपूर्व सैनिकों ने गिरोहबन्द लूटपाट शुरू कर दिया था। अन्यायपूर्ण शासन एवं उसे सहयोग करने वालों को ये गिरोह अपना निशाना बनाते थे। धर्मिक विचार दर्शन ने भी इन गिरोहबन्द विद्रोहियों को नैतिक समर्थन दिया कि अंग्रेजों के विदेशी शासत के खिलाफ लड़कर धार्मिक कृत्य जैसा पवित्र कार्य कर रहें हैं। अत: इन विद्रोहियों को भी पूर्वकालिक शासन की पुन: स्थापना की दिशा में उन्मुख कहा जा सकता है क्योंकि वे अपने-नये शासनकर्ताओं को इसलिए उखाड़ फेंकना चाहते थे ताकि पुरानी खामियों को पुन: स्थापित कर सके।

भारत में, अंग्रेजी शासन के इतिहास का प्रारम्भिक काल, सशस्त्र-गिरोह बन्द विद्रोहियों के कारनामों से भरा पड़ा है। लेकिन जैसे-जैसे अंग्रेजी शासन ने राजनीतिक-प्रशासनिक शक्तियों की मोर्चाबन्दी शुरू की तथा पुलिस एवं सैन्य शक्ति के सुसज्जित होती गयी। सशस्त्र - गिरोहबन्द विद्रोह का तरीका कृषक समाजों में अपना प्रभाव खोने लगा। फिर भी, कभी-कभी कुछ दुर्गम भौगोलिक (तराई) क्षेत्रों में, रॉबिनहुड जैसे नायक उत्पन्न हो जाते थे जो सशस्त्र गिरोहबन्द प्रकार के विद्रोह का नेतृत्व करते थे। ऐसे विद्रोहों में, (1922-3ई०) सीताराम राजू के नेतृत्व में हुआ विद्रोह काफी महत्वपूर्ण है। किसी खास शिकायत को दूर किये जाने की मांग को लेकर किसानों में बड़े पैमाने पर हुए आन्दोलन बहुत कम थे और ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल के कुछ समय बाद ऐसे आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। ऐसे दो महत्वपूर्ण विद्रोहों में पगला 1783 में रंगपुर में हुआ था जो भूराजस्व की वसूली-अधिकारी तेबी सिंह के खिलाफ उठ खड़ा हुआ था और दूसरा 1789 ई० में हुआ था जिसमें विष्णुपुर तथा बीरभूमि के सशस्त्र-गिरोहबन्द किसानों ने कुछ समय के लिए एक

इलाके को अंग्रेजी शासन से स्वतंत्र भी कर लिया था। रंगपुर का विद्रोह, काश्तकारों तथा छोटे भूस्वामी-किसानों द्वारा शुरू किया गया जिसको देवी सिंह के आदमियों ने अत्यन्त नृशंस-क्रूरता का प्रदर्शन करके दबाया था। अपने युग के हिसाब से यह विद्रोह अपनी प्रकृति और उद्देश्य में बिल्कुल भिन्न था किन्तु इस काल के बाद ऐसे विद्रोहों की बारम्बारता बढ़ने लगी।

प्रारम्भिक किसान संघर्षों में कुछ बेहद स्पष्ट लक्षणों को पहचान लेना संभव है वे इस प्रकार हैं-

इस काल के विद्रोहों में पूर्वकालिक स्वामियों को पुन: स्थापित करने की एक स्पष्ट भावना अन्तर्निहित रही जो मुगल-काल में हुए विद्रोहों से काफी कुछ मिलता-जुलता है खासकर नेतृत्व के मामले में ये पूरी तरह सामन्तवादी थे। स्वदेशी भावनाओं से परिपूर्ण, ऐसे विद्रोहों में पूर्वकालिक शासकों को पुन: स्थापित करने की भावना बलबती रही तथा विद्रोह, अंगेजों एवं उनके भारतीय पिछलग्गुओं के खिलाफ प्रेरित थी। पुरातन भावनाओं ने इन विद्रोहों में एकत्व की भाव अवश्य पैदा दिया परन्तु वे निर्णायक भूमिका नहीं निभा सके। इन विद्रोहों का संगठनात्मक ढांचा अत्यन्त कमजोर और बिखराव-ग्रस्त था और इस कमी की पूर्ति कभी साम्प्रदायिक पहचान तो कभी धार्मिक भावनाओं या कभी किसी वैचारिक आधार द्वारा की जाती थी। अत: इन विद्रोहों में वैचारिक आधार की बड़ी अस्पष्ट धारणाएं दीख पड़ती है। मजबूत संगठन की कमी तथा वैचारिक आधर का अभाव रहने के कारण ये संघर्ष स्वत: स्फूर्त विद्रोह बन कर रह गये। इसके बावजूद कुछ विद्रोह काफी समय तक सक्रिय रूप से चलते रहे। जैसे संन्यासी विद्रोह।

प्रारम्भिक काल के कृषक विद्रोह, आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों के बदलाव से उत्पन्न निराशोन्मत प्रतिक्रिया थी और जन असंतोष की कुंठित भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए हिंसा सर्वथा उपयुक्त माध्यम था। शिकायतों एवं अपेक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए दूसरे साधनों, माध्यमों का विकास होना अभी बाकी था। ब्रिटिश अस्त्र-शस्त्रों की अपराजेय क्षमता का मिथक अभी स्थापित न हुआ था इसलिए भारतीय जनचेतना को यह आशा थी कि सशस्त्र-विद्रोहों द्वारा उन्हें उखाड़ फेंका जा सकता है। कुछ खास भारतीय क्षेत्र सशस्त्र विद्रोहों के लिए अधिक प्रजननशील साबित हुए जैसे बंगाल एवं बिहार, किन्तु इस सशस्त्र विद्रोहों का हस्र, सम्पूर्णत: उन विस्थापित और असंतुष्ट सामन्तों-सरदारों के दृष्टिकोण पर निर्भर था जो इन विद्रोहों को नेतृत्व प्रदान किया करते थे। भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा स्थानीय सामाजिक सांस्कृतिक छवि के प्रति प्रगाढ़ जुड़ाव की भावनाओं ने भी विद्रोहों के फूट पड़ने में समुचित योगदान दिया था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मजिद एच. सिद्दीकी : ''एगेरियन अनरेस्ट इन नार्थ इण्डिया द यूनाइटेड प्रोविन्स 1918-22'' नई दिल्ली 1978।
2. सी. सी. मेहता : ''द पिजेन्टरी एण्ड नेशनलिज्म'' नई दिल्ली
3. माधव देसाई : ''द स्टोरी ऑफ बारदोली'', अहमदावाद 1957।
4. सुनील सेत : ''एगेरियन स्ट्रगल इन बंगाल'' नई दिल्ली 1972।
5. ए. आर. देसाई (स.) : ''पिजेन्ट स्ट्रगल इन इण्डिया''।
6. एम. ए. रासेल : ''ए हिस्ट्री ऑफ द ऑल इण्डिया किसान सभा'' कलकत्ता 1974।
7. मास्टर हरि सिंह : ''पंजाब पिजेन्ट्स इन फ्रीड्म स्ट्रगल'' खण्ड 2 नई दिल्ली 1984।
8. विपिनचंद : ''भारत का स्वतंत्रता संघर्ष'' नई दिल्ली।

◆

इतिहास

कश्मीर समस्या का अंतर्राष्ट्रीयकरण के प्रभाव

ब्यूटी भगत

रिसर्च स्कॉलर, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

सन् 1947 में प्राप्त आजादी के बाद से अब तक भारत जिन समस्याओं से निरंतर संघर्ष करते आ रहा है वे समस्याएं क्षेत्रीय, भाषाई, राजनैतिक, आर्थिक या अन्य किसी तरह की क्यों न हो वर्षों से भारतीय राष्ट्र को कमजोर करती आ रही हैं। कश्मीर समस्या उनमें से एक ऐसी ही समस्या है जो आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है, जिसे हल करने के तमाम प्रयास बिफल साबित हुए हैं। इस बिशुद्ध राजनैतिक समस्या का समाधन भारत-पाक द्विपक्षीय वार्ता के द्वारा ही संभव है और इसे राजनीतिक रूप से ही हल किया जाना चाहिए। अपनी प्राकृतिक सुन्दरता और राजनीतिक सामरिक महत्व के लिए मशहूर कश्मीर आज पूर्णरूप से आतंक और उग्रवादी कार्यवाहियों से त्रस्त है। अनुपम सौन्दर्य के लिए विख्यात कश्मीर में चारों ओर आतंक का ही बोलबाला है। समस्या के मूल कारणों की छानबीन से पता चलता है कि राजनैतिक कुचक्र, पड़ोसी देश पाकिस्तान द्वारा आतंकवाद का समर्थन तथा पश्चिमी देशों के निहित राजनीतिक स्वार्थ इसे हवा दे रहे हैं।

कश्मीर अपनी भौगोलिक स्थिति और सामरिक दृष्टि से एक महवपूर्ण क्षेत्र है। कश्मीर की सीमाएं चीन, पाकिस्तान, अफगानिस्तान एवं कजाकिस्तान (पूर्व सोवियत संघ) को स्पर्श करती हैं। इस दृष्टि से भी इसका महत्व बढ़ जाता है। कश्मीर में ही गिलगिट् एवं सियाचीन ग्लेसियर जैसे भू-भाग भी हैं जिनका सामरिक महत्व सीमावर्ती देशों के लिए बहुत की अधिक है। ब्रिटिश सरकार सरकार के साथ आजादी सम्बधी हुए समझौते के अनुसार कश्मीर एक संप्रभु राज्य की स्थिति में आ गया था, जिसका विलय भारत में उसके शासक हरिसिंह के साथ स्वतंत्र भारत की सरकार के साथ एक समझौता जो 27 अक्टूबर, 1947 को संपन्न हुआ, के द्वारा हो गया। समझौता वार्ता चल ही रही थी कि 22 अक्टूबर 1947 को पाकिस्तान द्वारा कवायली हमला कर कश्मीर की स्थिति में नया मोड़ ला दिया गया। हरि सिंह के साथ हुए समझौते के बाद कश्मीर भारत का जब अभिन्न अंग बन गया तब भारत सरकार ने कार्यवाई शुरू की, पाकिस्तान की इस अनुचित हमले को विफल किया और कवायलियों को भागना पड़ा।

पाकिस्तान को प्रारंभ से ही यह प्रस्ताव नापसंद था और उसकी मंशा कश्मीर को पाकिस्तान में शामिल करने की थी उसकी प्राप्ति के लिए पाकिस्तान ने हर संभव तरीके, यहाँ तक कि अनैतिक तरीकों से भी कश्मीर को हड़पने और भारत की अंतर्राष्ट्रीय छवि को घूमिल करने का प्रयास करता रहा है। कश्मीर का बहाना लेकर ही 1947, 1965 और कारगिल युद्ध भी हुए जिसमें हर बार उसे पराजित होना पड़ा। अत: अपमानित होकर वह बदले की भावना से लगातार कश्मीर के नवयुवकों को गुमराह करता रहा है और अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें अस्त्र-शस्त्र तथा धन मुहैया कराता रहा है। इस

प्रकार वह इनको प्रशिक्षित कर भारत के खिलाफ एक प्रॉक्सी वार या छद्म युद्ध लड़ते हुए इसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करके भारत की क्षेत्रीय अखण्डता पर लगातार खतरा पैदा करता रहा है।

कश्मीर समस्या का अंतर्राष्ट्रीकरण : कश्मीर के मामले को अंतर्राष्ट्रीय मंच पर बार-बार उठाने के पीछे पाकिस्तान का एकमात्र उद्देश्य भारत की धर्मनिरपेक्ष छवि को बदनाम कर, इसके सांप्रदायिक सौहार्द की नीति को बदनाम कर, अस्थिरता को बढ़ावा देना है। अपने इस ध्येय की पूर्ति के लिए कश्मीर के मामले को पाकिस्तान कभी अंतर्राष्ट्रीय मंचों, सम्मेलनों तो कभी मानवाधिकार के उल्लंघन के नाम पर तो कभी जनमत-संग्रह के नाम पर उठाता रहा है। अपने इस उद्देश्य पूर्ति मे वह इस्लाम का खुलकर दुरुपयोग भी करता रहा है। कश्मीर के लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए पाकिस्तान राजनायिक माध्यम से संयुक्त राष्ट्रसंघ में जनमत संग्रह की मांग भी वह हमेशा से करता रहा है जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक कमिटी ने जनमत संग्रह को खारिज कर चुकी है। विलय सम्बंधी प्रस्ताव को भी वह चुनौती देता रहा रहा है। इस सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका भी काफी विवादास्पद रही है। संयुक्त राष्ट्रसंघ पश्चिमी ताकतों अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन के दबाव में आकर हमेशा कश्मीर के मुद्दे पर एकतरफा पाकिस्तान पक्षीय रूख रखता आया है। 1 जनवरी 1948 को भारत ने पहली बार संयुक्त राष्ट्रसंघ में पाकिस्तान के खिलाफ शिकायत दर्ज कर यह मांग की कि पाकिस्तान घुसपैठियो को मदद दे रहा है। उसकी इस कारवाई को बंद कराया जाय।

सुरक्षा परिषद ने 22 जनवरी 1948 को यह व्यवस्था दी कि कश्मीर की समस्या भारत और पाकिस्तान का आपसी विवाद है जिसमें जम्मू व कश्मीर भी एक तीसरा पक्ष है। यहाँ पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने ऐसा निर्णय कर मामले को और उलझाने का कार्य किया। उसने आक्रमणकारी देश पाकिस्तान की हरकत पर पाबन्दी लगाने के बजाय उसको परोक्ष रूप से इस विवाद का अंतर्राष्ट्रीकरण करने के लिए प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त परिषद ने अपनी व्यवस्था के जरिये परोक्ष रूप से पाकिस्तान का दावा कश्मीर पर मान लिया। इस तरह परिषद ने कश्मीर के मामले को भारत की जमीन पर पाकिस्तानी शह पर हमला का मामला न रह कर पाकिस्तान से भी संबंधित मामला बना दिया गया।। 21 अप्रैल, 1948 को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने यह प्रस्ताव पारित किया कि एक पाँच सदस्यीय आयोग की नियुक्ति की जाय। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में पाकिस्तान को कबायली घुसपैठियों की मदद देना बन्द करने तथा घुसपैठियों को हटने के बाद भारतीय सेना की वापसी तथा वहाँ शांति व्यवस्था स्थापित करने के लिए जनमत संग्रह करवाने की बात की। इसका स्पष्ट मतलब था कि कश्मीर का भारत में विलय सम्बंधी समझौता के मामले में परिषद ने पाकिस्तान का पक्ष ले लिया अर्थात सुरक्षा परिषद् ने पाकिस्तान के जनमत संग्रह की मांग को मान्यता दे दी तथा कश्मीर के विलय समबंधी समझौते को नजरअंदाज कर दिया। परिषद् ने जनमत संग्रह की मांग को विवाद का मुख्य मुद्दा मानकर पाकिस्तान की खुली मदद की। विलय सम्बंधी प्रस्ताव से अति उत्साहित और लार्ड माउन्बैटन की चाल में फँसकर तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने जनमत संग्रह की बात कही थी यह स्वीकृति राष्ट्रसंघ के प्रति भारत की आस्था थी जिसका दुरुपयोग राष्ट्रसंघ ने पाकिस्तान के पक्ष में करना शुरू कर दिया। यह बात उस समय की परिस्थिति के अनुरूप हो सकती थी परन्तु इस परिस्थिति में इस मांग की कोई औचित्य नहीं रहा। अपने पाकिस्तानी पक्ष के कारण राष्ट्रसंघ ने नई परिस्थिति का सृजन कर दिया। यही कारण था कि बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ की कश्मीर मामले पर गठित एक कमिटी ने भी अपनी रिपोर्ट में जनमत संग्रह से इंकार कर इस मसले को सदा के लिए समाप्त कर दिया। पाकिस्तान इसके बाद भी इसे उठाता रहता है।

अमेरिकी नीति : कश्मीर समस्या को हवा देने में अमेरीका का पाकिस्तान को समर्थन प्राप्त है। कुछ समय पहले अमेरिकी सीनेटर डैनियल पैट्रिक ओपनिहन ने दावा किया कि कश्मीर मामले में अमेरिकी नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। लेकिन अमेरिकी सहायक विदेशमंत्री रॉबिन राफेल का यह कथन कि कश्मीर समस्या अफगानिस्तान के समान है तथा अमेरिका कश्मीर के भारत में विलय को विवादस्यद मानता है, अमेरिका की परिवर्तित विदेशनीति का संकेत देता है। ज्ञातव्य है कि प्रारंभ से ही अमेरिकी समर्थन पर पाकिस्तान सुरक्षा परिषद् में इस मामले को उठाता रहा है। अमेरिका भी न सिर्फ पाकिस्तान को अस्त्र-शस्त्र पहुँचाता रहा है बल्कि एक तरह से यदा-कदा कश्मीर में मानवाधिकार की बात उठाकर भारत के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप करने का प्रयास भी करता रहा है। कश्मीर के पीछे अमेरिका का एक मात्र उद्देश्य कश्मीर के गिलगिट का भू-भाग प्राप्त करना है, जिससे पूर्व साम्राज्यवादी ब्रिटेन की तरह वह भी एशिया की निगरानी कर सके। यही कारण है कि अमेरिकी प्रस्ताव हमेशा कश्मीर के विभाजन को लेकर रहा है जिस विभाजित भू-भाग को अमेरिका पाकिस्तान से प्राप्त कर सके।

ब्रिटेन द्वारा कश्मीर समस्या का अंतर्राष्ट्रीकरण : प्रारंभ से ही कश्मीर के मामला पर ब्रिटेन पाकिस्तान का समर्थत करता रहा है। ब्रिटेन के समर्थन से ही पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मंचों से कश्मीर के प्रश्न को उठाता रहा है। इस संबंध में ब्रिटेन हमेशा से अमेरिकी नीति का पिछलग्गू बनता रहा। कश्मीर उग्रवादी नेता कश्मीर में उग्रवाद का संचालन ब्रिटेन स्थित अपने मुख्यालय से कर रहे थे और ब्रिटेन की सरकार परोक्ष रूप से कश्मीर में आतंकवाद को बढ़ावा दे रही थी। घाटी में सुरक्षा बलो द्वारा बरामद किए गए हथियारों पर अमेरिका, चीन व ब्रिटेन के भी मुहर लगे मिले हैं।

कश्मीर समस्या का चीन द्वारा अंतराष्ट्रीयकरण: कश्मीर के सम्बंध में पाकिस्तान की रणनीति में चीन भी शामिल दीखता है। चीन अपने उस भू-भाग को जो पाकिस्तान आधिकृत कश्मीर में 2050 वर्गमील का भू-भाग है बनाए रखना चाहता है ताकि इसकि वापसी की बात नहीं उठे। भारत को अस्थिर करने के लिए चीन पाकिस्तान को कश्मीर के मुद्दे पर धन, अस्त्र-शस्त्र एवं अपने समर्थन से अपरोक्ष सहायता करता रहा है।

कश्मीर पर इस्लामिक शासकों का पाकिस्तान को समर्थन : कश्मीर मामले पर इस्लामिक शासक पाकिस्तान को समर्थन करते रहे हैं, यद्यपि इसमें इन देशों की जनता अपने शासकों के साथ नहीं है। 29 अप्रैल 1993 को इस्लामिक देशों के सम्मेलन में इनके संगठन ने पाकिस्तान को समर्थन देते हुए सदस्य देशों से आग्रह किया कि वे भारत पर कश्मीर में जनमत संग्रह करवाने के लिए दवाव डालें। सम्मेलन की समाप्ति के बाद तत्कालीन पाकिस्तानी विदेश मंत्री फारूक लेघारी ने इसे महत्वपूर्ण कदम बताते हुए कश्मीर के प्रश्न को फिलीस्तीन, दक्षिण अफ्रिका और बोस्निया के मुद्दे के समकक्ष बताया। स्पष्टत: पाकिस्तानी नीति को इस्लामिक शासकों का समर्थत प्राप्त है जिसके बल पर वह इस मुद्दे को यदा-कदा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तूल देने का प्रयास करता रहा है।

कश्मीर मुद्दे पर यूरोपिय बैठक में विचार-विमर्श : नवम्बर, 1993 में कश्मीर के प्रश्न पर यूरोपिय संसद के साम्राज्यवादी सदस्यों के निमंत्रण पर ब्रूसेल्स में एक गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें प्रतिनिधियों ने इसके समाधान के लिए अपने सुझाव दिए। सम्मेलन में पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी एवं जे० के० एल० एफ० के प्रतिनिधियों ने कश्मीर के मुद्दे पर भारत की बड़ी आलोचना की।

कश्मीर मामले के अंतर्राष्ट्रीयकरण से दूरगामी परिणाम: कश्मीर के मामले को यदा-कदा विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मंचों से उठाया जाना ही यह स्पष्ट करता है कि यह कितना गंभीर रूप धारण कर चुका है। कश्मीर के पीछे विभिन्न देशों के अपने-अपने स्वार्थ हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, चीन, फ्रांस जैसे देश अपने-अपने स्वार्थ के लिए पाकिस्तान की पीठ थप-थपाते हैं। कश्मीर घाटी में आतंकवादी कार्यवाहियों को बढ़ावा देकर पाकिस्तान भारत में अस्थिरता पैदा करना चाहता है, वह भारत को विकसित राष्ट्र के रूप में परिणत होते नहीं देख सकता है, देश में व्याप्त धर्मिक सौहार्द्र को नष्ट करना चाहता है। इन सबके लिए वह आए-दिन कोई न कोई शगूफा छोड़ता रहता है।

भारत के लिए सबसे अधिक समस्या साम्राज्यवादी देशों की शह पर इस्लामिक शासक पैदा करते हैं। ये पाकिस्तान को मुस्लिम राष्ट्र और भारत को हिन्दू राष्ट्र मानते हैं। उनका झुकाव भी पाकिस्तान के प्रति ज्यादा है। परिणामत: वे पाकिस्तान द्वारा चलाए गए भारत की अंतर्राष्ट्रीय छवि को नुकसान पहुंचाते है। भारत एवं पाक के बीच सफल कूटनीतिक संबंधों में भी सबसे बड़ी बाधा कश्मीर समस्या ही रही हैं। जिसका प्रमाण है कि आज तक जितने भी कूटनीतिक वार्ता हुई सभी असफल हो गई हैं। पाकिस्तान भारत में आंतकवादियों को प्रवेश कराने से लेकर उन्हें प्रशिक्षित कराने तक का कार्य कर रहा है। दोनों देश एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप का दौर जारी रखे हुए हैं। कश्मीर के मुद्दे पर अमेरिका, चीन, फ्रांस व ब्रिटेन द्वारा पाकिस्तान को अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन देने के कारण भारत का कूटनीतिक सम्बंध इन देशों के साथ उतार-चढ़ाव का रहता आया है। भारत यदा-कदा कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान का साथ देने के लिए इन देशों की कड़ी आलोचना करता रहा है। विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर इन देशों के साथ भारत के मतभेद उभर कर सामने आए हैं जिनसे अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ भी प्रभावित होती हैं।

कश्मीर समस्या के अंतर्राष्ट्रीयकरण से भारत एवं पाकिस्तान के बीच अविश्वास, असहयोग एवं घृणा का माहौल बन गया है जिसका प्रभाव दोनों देशों के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन पर पड़ रहा है। सांप्रदायिक सौहार्द्र नष्ट हो रहे हैं, भाई-भाई एक-दूसरे के दुश्मन बनते जा रहे हैं दोनों देश एक-दूसरे के यहाँ कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं आयोजित कर पा रहे हैं। एक-दूसरे के यहाँ निर्बाध रूप से नहीं आ जा सकते है। एक-दूसरे के यहाँ शांतिपूर्वक खेल-कूद का आयोजन नहीं करवा पर रहे हैं। कश्मीर का मामला राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पेचीदा स्वरूप अख्तियार कर लिया है। आजादी के 60 वर्षो के बाद भी यह मामला ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है। विश्व की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ इस मामले में शुरू से रुचि लेती आ रही हैं। कश्मीर का मामला भारत और पाकिस्तान के बीच अत्यंत ही संवेदनशील मामला हो गया है जिसका समाधन दोनों को आपस में मिल बैठकर करना चाहिए तभी वे विश्व राजनीति में अपनी पृथक छवि बनाकर महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लाल बहादुर : ''द मुस्लिम लीग''।
2. ''हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट ऑफ पाकिस्तान'' 4 खण्ड(पाकिस्तान हिस्टारिकल सोसाईटी)।
3. मेहता एण्ड पटवर्धन : ''द कम्यूनल ट्रिंगल''।
4. सी. एच. फिलिप्स : ''द पार्टिशन ऑफ इण्डिया''।
5. विपिन चंद : ''नेशनलिज्म एण्ड कम्युनलिज्म इन माडर्न इण्डिया'' नई दिल्ली।
6. स. सुमन्त, संजय चौधरी : ''कारगिल का सच''।
7. संसदीय बहस : लोकसभा 5 अगस्त 1998।

◆

इतिहास

इतिहास लेखन की ऐतिहासिक विवेचना

रमेश कुमार गुप्ता

नेट उत्तीर्ण, शोध छात्र, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

पूर्व के दशकों ही नहीं शताब्दियों में इतिहास लेखन को जिस तरह राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा अन्य वैचारिक दबावों के तहत तोड़ा-मरोड़ा जाता रहा है उससे इतिहास को उसके सच्चे स्वरूप में पाठकों के सामने आने की असमर्थता की एक व्यथा कथा चली आ रही है। इस तरह की विकृति को सबसे ज्यादा प्रभावी ढंग से सामने लाने में उपनिवेशवादी शासकों की भूमिकाएं सबसे ज्यादा हानिकारक रही हैं। खासकर भारतीय इतिहास को इस तरह विकृत करके पाठकों के सामने पेश करना जिससे ऐसा लगे कि भारत पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन एक वरदान के रूप में आया है और इसका विरोध करने वाले भारत में जनवाद की शिक्षा, आधुनिक शिक्षा के प्रसार और पश्चिम यूरोप में स्वरूप ग्रहण करने वाली तकनीकी विकास प्रक्रिया, ब्रिटिश शासक भारत को प्रदान कर रहे हैं, जिन्हें राष्ट्रहित में नहीं समझा जाना चाहिए। अपनी इन धारणाओं के आधार पर उपनिवेशवादी इतिहासकार भारत में ब्रिटिश शासन को भारतीयों के लिए वरदान और अंग्रेजों के 'व्हाइटमन वर्डेन' कहा। हालांकि डी.डी. कोस्मवी, रजनी पाण्डव आदि जैसे इतिहासकारों ने प्राचीन और आधुनिक भारत के इतिहास लेखन की व्याख्या एक भिन्न ढंग से की, जिसका आधार ऐतिहासिक तथ्यों के सम्यक् वैचारिक विश्लेषण को आधार बना कर किया गया। क्योंकि सील आदि जैसे साम्राज्यवाद पक्की इतिहासकारों ने जब भारत को एक राष्ट्र के रूप में स्वीकृति से इंकार करके मात्र एक भौगोलिक क्षेत्र की संज्ञा दी तब उन्होंने भारत का एक इतिहास होने की संभावना को ही नकार दिया और यह स्थापित करने का प्रयास किया कि भारत का अगर कोई इतिहास है तब वह ब्रिटिशराज द्वारा निर्मित इतिहास ही है, क्योंकि यह श्रेय अंग्रेजों को ही जाता है कि उन्होंने एक बहुभाषाई, बहुधार्मिकता और बहु-संस्कृतियों को एक का एक राज्य के रूप में भारत को सामने लाया। उनके इन तर्कों का सटीक जवाब डी.डी. कोसम्बी ने इतिहास की परिभाषा करते हुए दिया और लिखा कि अगर इतिहास का मतलब कुछ बड़ी-बड़ी लड़ाइयों और कुछ अहंकारी नामों का वर्णन है तब भारत का प्राचीन इतिहास नहीं है। मगर इतिहास का मतलब यह देखना है कि किसी राज्य के शासन काल में किसान हल को उपयोग करते थे या नहीं, तब भारत का प्राचीन इतिहास है। इस प्रकार इतिहास के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए कोसंबी ने इतिहास को परिभाषित करते हुए कहा–उत्पादन की सामाजिक शक्तियों और उत्पादन के संबंध के बीच खराबी से होने वाला श्रमिक विकास ही इतिहास है। इस प्रकार कोसम्बी ने इतिहास लेखन की एक नई विधा को सामने लाया।

आधुनिक भारत के इतिहास लेखन में एक नई मगर वैज्ञानिक पद्धति का प्रवेश मूलतः कार्ल मार्क्स के उन लेखों से हुआ जिसको उन्होंने 1853 से 1859 के बीच लिखा था और जो न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में डी. डी. कोसम्बी, प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन की भूमिका में देखा जा सकता है।

मार्क्स ने भारत में ब्रिटिश राज के प्रभाव का द्वंद्वात्मक विश्लेषण करते हुए लिखा कि ब्रिटिश राज को भारत में दोहरी भूमिका विध्वंसक, और सृजनात्मक का निर्वहन करना था। मगर उसने सिर्फ पहली भूमिका का यानि विध्वंसक भूमिका को ही निभाया। मार्क्स ने लिखा है कि-यह सत्य है कि भारत में अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इंग्लैण्ड निकटतम स्वार्थों से प्रेरित होकर काम कर रहा था और उन स्वार्थों की पूर्ति का उसका तरीका मूर्खतापूर्ण था। लेकिन सवाल यह है कि क्या एशिया की जनता बिना एक सामाजिक क्रांति किए अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकती है? अगर नहीं तो इंग्लैण्ड ने चाहे जो भी अपराध किए उसने इस क्रांति को लाने में इतिहास के अनभिवेत साधनों का काम किया। मार्क्स के इस विश्लेषण का अर्थ यह लगाना कि मार्क्स ब्रिटिश शासन के प्रति पक्षधरता प्रकट कर रहे हैं, गलत है, क्योंकि उन्होंने आगे लिखा कि ब्रिटिश राज के विध्वंसकारी कृत्यों के द्वारा सामाजिक क्रांति के लिए जो वस्तुनिष्ठ स्थितियां पैदा हुई हैं उनको आगे बढ़ा सृजनात्मक कार्यों को ब्रिटेन नहीं कर सकता, क्योंकि यह कार्य व्यापक तौर पर उपनिवेशवाद विरोधी चरित्र वाला होगा। इस कारण इन कर्तव्यों की पूर्ति का दायित्व भारत की जनता पर स्वयं है और यह दो ही स्थितियों में पूरा हो सकता है- या तो भारतीय जनता औपनिवेशिक सत्ता को समाप्त कर एक समाजवादी जनवादी शासन को भारत में कायम करे या इंग्लैंड का सर्वहारा वर्ग वर्तमान पूंजीवादी शासन को हरा कर स्वयं सत्ता में आ जाए।

मार्क्स की इन स्थापनाओं की वैधानिकता को साम्राज्यवाद परस्त इतिहासकार और राजनेता आज भी उपेक्षित करते दिखते हैं। विडंबना यह है कि भारत के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह जब इंग्लैण्ड के एक विश्वविद्यालय में दिए गए अपने भाषण में भारत में ब्रिटिश राज की परोपकारिता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भारत पर शासन कर इंग्लैण्ड ने भारत के प्रति उपकार किया, क्योंकि इसी ने आधुनिक शिक्षा और जनवाद का पाठ भारतीयों को पढ़ाया। अज्ञानता की इस तह तक जाने वाले व्यक्ति का राजनीतिक कद चाहे कितना भी उच्च क्यों न हो, वह आधुनिक भारत के इतिहास लेखन की व्यथा कथा को उसकी अनिवार्य नियति बना रहा है। वह नहीं समझ सकता कि 1813 में जब ईस्ट इण्डिया कंपनी का भारत के व्यापार पर इजारेदारी की समाप्ति ब्रिटिश संसद द्वारा की गई और विभिन्न व्यापारिक कंपनियों को भारत में व्यापार की अनुमति मिल गई तब उनकी जरूरतें थी कि भारत में आधुनिक शिक्षा में खास कर अंग्रेजी में शिक्षित लोगों को तैयार कर बड़े पैमाने पर लिपिकों की जरूरत को पूरा किया जाए। यही कारण था कि जब ईस्ट इंडिया कंपनी का चार्टर नवीकरण के लिए ब्रिटिश संसद के सामने रखा गया तब संसद ने यह शर्त रखी कि कंपनी भारत में शिक्षा पर एक लाख रूपया खर्च करे।

उपरोक्त आधुनिक भारत के इतिहास लेखन को एक वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित विश्लेषणों को सामने लाने में रजनी पाम दत्त की बड़ी भूमिका रही है। उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज का वर्ग विश्लेषण किया है। अंग्रेजों द्वारा भारत की पराजय के कारणों का वैधानिकता पर आधारित विश्लेषण किया है, साम्राज्यवाद की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए उन्होंने उसके शोषण के तकनीकों में आए बदलावों को रेखांकित किया है और सर्वोपरि तौर पर भारत की जनता के साम्राज्यवाद विरोध के आधार पर विभिन्न वर्ग शक्तियों की एकता के आधार भूमि का पता लगाया है। एक ऐसा भारत जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी को इस कारण नहीं आकृष्ट किया था कि भारत इंग्लैण्ड में निर्मित मालों का विस्तृत बाजार था बल्कि इस कारण आकृष्ट किया था कि भारत में निर्मित मालों को यूरोप के बाजारों में बेचकर कंपनी अकूत मुनाफा अर्जित कर सकती थी। मगर क्यों

कर हुआ कि मात्र 50 वर्षों की अल्पावधि में ही यह सारी प्रक्रिया ही उलट गई और भारत इंग्लैण्ड में बने मालों का बाजार बन गया। इसी तरह अंग्रेजों द्वारा भारत की पराजय के कारणों पर अपने वैज्ञानिक शोध परक विचारों को रखते हुए रजनीपाम दत्त ने स्पष्ट किया है कि अंग्रेजों के भारत आने का काल ऐसा काल था जो विभ्रम का था क्योंकि भारत में वर्णिक पूंजी का संकेंद्रण इस हद और ऊंचाई तक में गया था कि भारत अब वर्णिक पूंजी से औद्योगिक पूंजी के उत्पादन संबंधों में संक्रमण करने के कगार पर खड़ा था। ऐसा काल विभिन्न वैचारिकताओं के बीच अंतर द्वंद्व का होता है और सामाजिक आर्थिक शक्तियां एक विभ्रम की पीड़ा झेलती है। ठीक उसी समय भारत में आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रतिनिधि अंग्रेज भारत में आए और उन्होंने अपने अपेक्षाकृत ज्यादा उन्नति उत्पादन के साधनों और हथियारों के बल पर भारत पर आक्रमण किया, इसके स्वाभाविक विकास प्रक्रिया को अवरूद्ध कर दिया और भारत पर एक ऐसे उत्पादन संबंधों को थोप दिया जो परिवर्तित हो रहे भारतीय समाज के आंतरिक खोल से निकली उत्पादन व्यवस्था नहीं थी, बल्कि भारत पर एक विदेशी शासन द्वारा बलपूर्वक लादी गई एक ऐसी व्यवस्था थी जिसका लक्ष्य शासक वर्ग और शासक देश को लाभ पहुंचाने की तरफ उन्मुख था। इस तरह भारत को पराजित कर, इस पर अपनी राजनीतिक सत्ता कायम कर कंपनी ने वर्णिक पूंजी का ऐसा शासन कायम किया जिसमें भारत का धन इंग्लैण्ड की तरफ बेरोकटोक प्रवाहित होने लगा।

आधुनिक भारत के इतिहास लेखन को रजनीपाम दत्त ने ब्रिटिश राज के वर्ग चरित्र का विश्लेषण वणिक पूंजी का राज, औद्योगिक पूंजी का राज और वित्तीय पूंजी का राज इन तीन श्रेणियों में विभाजित कर उसके शोषण के स्वरूपों का वर्णन किया। उन्होंने बताया है कि भारत की विडंबना यह रही कि शास्त्रीय अर्थ में वित्तीय पूंजी या साम्राज्यवाद, जिसे दूसरे देशों में पूंजी निर्यात की एक प्रक्रिया का धारक माना जाता है, भारत के मामले में ठीक इसने इसके उल्टी प्रक्रिया का अवलंबन किया। कभी भी इंग्लैण्ड से निर्यात होकर भारत आने वाली पूंजी मात्रात्मक रूप में भारत से इंग्लैण्ड की तरफ होने वाले पूंजी बहाव से ज्यादा नहीं रही। इस प्रकार भारत पर एक विचित्र ढंग की शोषण व्यवस्था को थोपा गया जिसमें शोषण का जाल भारत के अतिशय गरीब से लेकर राजकीय पूंजीपति वर्ग तक को अपने जाल में फंसा कर रखा। साम्राज्यवाद विरोध में विभिन्न वर्ग शक्तियों की एकता का यही राज भारत में दिखा।

साम्राज्यवाद विरोध की मौलिक सैद्धांतिकता के आधार पर विभिन्न वर्ग शक्तियों के एक संयुक्त मोर्चा के रूप में, जिसमें विभिन्न राजनीतिक प्रवृत्तियां एकताबद्ध थी, उस आंदोलन को और उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त आजादी को आज भी पट्टाभी सीता रमैया जैसे इतिहासकार यह दर्शाने की कोशिश किए हैं कि आजादी का संघर्ष कांग्रेस द्वारा लड़ा गया और जीता गया जंग है। इस तरह आधुनिक भारत के इतिहास लेखन को विकृत कर पेश किया जाना राष्ट्रीय आंदोलन की वास्तविकता से आने वाली पीढ़ी को महरूम रखना है।

जिस तरह राष्ट्रीय आंदोलन के विकास क्रम में बहुभाषाई, बहुधार्मिकता और बहु-संस्कृतियों वाली आबादी ने जब एक राष्ट्रीय आंदोलन को स्वरूप प्रदान कर दिया और जब भारत को एक राष्ट्र के रूप में अस्वीकार कर दिए जाने संबंधी उपनिवेशवादी इतिहासकारों की दलील को ठुकरा दिया तो उनके पैरों तले की मिट्टी ही खिसक गई तब उन्होंने अपने विश्लेषण संबंधी पैंतरे को बदल दिया। अब वे भारत को एक राष्ट्र नहीं बल्कि महज एक भौगोलिक क्षेत्र मानने की संकल्पना से हट गए और नई दलीलों के साथ सामने आए। अब वे स्थापित करने लगे कि भारत में जो राष्ट्रवाद स्वरूप

ग्रहण किया है, वह अंग्रेजी राज की देन है, क्योंकि इसी ने भारत को एकताबद्ध करके एक प्रशासन के तहत लाया है, संचार साधनों के द्वारा संपर्कों को स्थापित किया है आदि आदि। उनकी इस स्थापना ने कई राष्ट्रवादी इतिहासकारों और नेताओं को प्रभावित भी किया। राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व का वह तबका जिसने यह समझ जाल रखा था कि भारत की गरीबी, दरिद्रता आदि का मूल कारण उपनिवेशवादी सता नहीं है, बल्कि भारत की अशिक्षा, धार्मिक अंधविश्वास आदि हैं और इनसे निजात अंग्रेजी राज के मदद से ही मिल सकती है, वे इसी अवैज्ञानिक दलीलों के शिकार थे। आज भी जब भारत की सरकार वैश्वीकरण में यह सोच कर काम कर रही है कि देश से गरीबी और बदहाली का उन्मूलन साम्राज्यवादी मुल्कों के साथ अर्थव्यवस्था को जोड़कर ही किया जा सकता है, वह ऐसे अवैज्ञानिक मिथकों को पाल रही है।

भूत काल के अनुभवों का वर्तमान काल के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करना इतिहास का एक प्रमुख काम होता है। मगर जो समाज इतिहास बोध की इस प्रक्रिया को नजरअंदाज करता है वह अपने अस्तित्व के प्रति भी चेतन नहीं रहता। क्रौचे ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि इतिहास का या इतिहासकार का काम अलग-अलग तथ्यों को इक्टठा करना ही नहीं है, बल्कि उन तथ्यों का विश्लेषण करना, उनका मूल्यांकन करना और उनके आधार पर भविष्य के लिए दायित्वों का निर्धारण करना भी है। करीब दो सौ साल से भी ज्यादा के औपनिवेशिक शासन का भारत का अनुभव बहुत से फलितार्थों को आज भी सामने ला रहा है, जिनका चरित्र ठीक इसी प्रकार लुभावना दिखता है जिस प्रकार औपनिवेशिक शासकों ने अपने तथाकथित परोपकारिता के आवरण में एक शिक्षित वर्ग को पैदा किया जो मैकाले के शब्दों में रूपरंग और देखने में भारतीय हैं मगर दिमागी और मानसिक तौर पर अंग्रेज हैं। मानसिक गुलामी होती है जो आजादी के संघर्ष में देखा जा सकता है: पट्टाभी सीतारम्मैया की आफ्सियेल टिस्ट्री ऑफ कांग्रेस, को नकारती है। आज वैश्वीकरण के नये दौर में साम्राज्यवाद अपने ज्यादा परिष्कृत शोषण के स्वरूप के साथ नव उपनिवेशवादी शोषण के तरीकों के साथ विकासशील देशों को अपने गिरफ्त में लाता जा रहा है और इतिहासकार, राजनेता और समाज शास्त्री इस विकास प्रक्रिया को एक क्रांतिकारी बदलाव के रूप में अंगीकार करते दिखते हैं। वैज्ञानिक इतिहास लेखन को जिसके प्रबल प्रवक्ता कार्ल मार्क्स, ऐंगिल्स आदि रहे हैं, झुठलाने के नए तरीकों का इजाद किया जा रहा है जो इधर से देखने में क्रांतिकारी तेवर वाला दिखता है मगर अपने अंतिम विश्लेषण में वह साम्राज्यवाद के शोषणकारी स्वरूप की मुखालफत करने से अपने को अलग कर लेता है।

इस तरह की नयी वैचारिकता जो मार्क्सवादी ही नहीं बहुत सारी इतिहास लेखन पद्धतियों के विरोध में लाया गया है उनमें सबाअल्टर्न या उप्रायायवादी या अधीनस्थ इतिहास लेखन पद्धति का वर्णन किया जा सकता है। यह इतिहास लेखन पद्धति यह मानती है कि अब तक जितने भी इतिहास लिखे गए हैं उनकी लेखन पद्धति चाहे जो भी रही हो किसी ने भी दलित जनता का वास्तविक इतिहास लिखा ही नहीं। यहां तक कि बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं का इतिहास लिखते समय भी वास्तविक जनता का जिसने उस घटना को अंजाम दिया, इतिहास उसके नजरिए से कभी लिखा ही नहीं गया। इस उपाश्रयवादी इतिहास लेखन के प्रवक्ता रणजीत गुहा आदि मानते हैं कि इतिहास लेखन में आमजन को या तो उच्च वर्ग के नेताओं और संगठनों के इशारों पर चलने वाला मान लिया गया है या आर्थिक सामाजिक विपत्तियों के कारण कभी-कभार विद्रोह करने वाले ढोर-डांगर के रूप में मान लिया गया है जिनका अपना कोई विवेक नहीं होता। अत: इतिहास लेखन में इनकी चेतना, उनकी समझ का अलग से अध्ययन किया जाना चाहिए।

सबाअल्टन अध्ययन के प्रतिपादक दो प्रकार के नए प्रयोगों पर बल देते हैं। इनमें उनकी पहली स्थापना है कि भारतीय समाज को एक समरूप समाज (होमोजेनस) या प्रतियोगी गठबंधनों के जमघट या बने बनाए सामाजिक वर्गों एवं उत्पादन संबंधों के माध्यम से देखने के बजाय कुलीनों एवं दलितों या अभिजनों उपाश्रयवादियों में बहे समाज के रूप में देखा जाना चाहिए। वे दलील देते हैं कि पूंजीवादी परिणति से पूर्व यानि पाक पूंजीवादी समाजों तथा परिपक्व वर्ग चेतना के उदय के पूर्व किसानों मजदूरों, वकीलों आदि को अलग-अलग एवं अनन्य वर्गों के रूप में देखने के बजाय घनिष्ठ पारिवारिक संबंधों, स्थानीय परस्परता, मिली-जुली लोक चेतना आदि के आधार पर मिले-जुले दलित समुदाय के रूप में देखा जाना चाहिए। इनकी दूसरी स्थापना है कि दलितों को पेट से सोचने वाले जाहिल गंवार लोगों के रूप में देखने के बजाय उनकी चेतना और मानसिकता पर इतिहासकारों को विशेष जोर देना चाहिए।

वास्तव में सबाअल्टर्न वैचारिकता वाले ज्यादातर इतिहासकार मार्क्सवादी विचारधारा से आए हैं और मार्क्सवादी विकास नियम, ऐतिहासिक भौतिकवाद की परिकल्पना को झुठलाने की कोशिश में ये साम्राज्यवादी स्वार्थों के पोषक बन जाते हैं। ये समाज को सुपरिभाषित वर्गों के संघर्षों और अंतर्विरोधों के माध्यम से देखने के बजाय अभिजन और उपाश्रयवादी समूहों के माध्यम से देखने की उनकी संकल्पना का मूलभूत है वर्गतः संघर्ष को त्याग देना। वे तमाम उन वर्गों को जिन्हें वे शोषित मानते हैं, जैसे शोषित असान, कारखाने के मजदूर, सरकारी निम्नवर्गीय कर्मचारी आदिवासी महिलाएं आदि सभी को एक ही वर्ग में लाकर वर्ग की संकल्पना को ऐसा अवैज्ञानिक बना देते हैं कि वर्ग संघर्ष ही बेमतलब हो जाता है।

द्वितीय, वे दलितों की आर्थिक स्थिति को प्रधानता नहीं देते हैं यह नहीं मानते कि व्यक्ति का आर्थिक सामाजिक परिवेश या उसकी भौतिक स्थितियां व्यक्ति की चेतना का निर्धरण करती हैं। वे दलितों की सोच, मानसिकता आदि को इस प्रकार महत्व देते हैं कि वे ही गलबादी आदर्शवादी के वाहक बन जाते हैं।

वास्तव में उपाश्रयवादी सोच मार्क्सवादी इतिहास लेखन की परिष्कृत पद्धति को इस तरह से गड़बड़ करता है कि वर्ग संघर्ष की अवधरणा को समाप्त कर यह प्रमाणित किया जा सके कि शोषण का मूल श्रोत उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था और उसका विकसित रूप साम्राज्यवाद नहीं है बल्कि अभिजन और उपाश्रयवादी के बीच का संघर्ष है। इस प्रकार की स्थापना पर लिखित इतिहास कभी भी वैज्ञानिक नहीं हो सकता।

◆

इतिहास

बिहार और 1857

सामाजार्थिक विसंगतियों से उपजा विद्रोह

मनोज कुमार

शोध छात्र, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

एन॰ ए॰ सिद्दीकी लिखते हैं कि ''भारत में जो इंग्लैण्ड आया वह शेक्सपियर या मिल्टन की पसंद का नहीं था न ही राजनैतिक क्रांतिकारियों और स्वाधीनता संग्राम सेनानियों की परंपरा का। यह नयी वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति की परंपरा का वाहक भी नहीं था, यह दूसरा इंग्लैण्ड था। सामंती क्रूरता तथा प्रतिक्रियावाद की परंपरा का वाहक''[1] बिहार में न तो इसका कोई और चरित्र होना था और न ही सारे देश से इतर यहां कोई और प्रतिक्रिया होनी थी। 1857 के संदर्भ में बिहार पर जब बातें होंगी तो इस प्रथम जन विद्रोह के फैलाव के साथ-साथ इसके बुनियादी कारणों पर भी बातें होंगी। यूरोपीय राष्ट्रों ने बिहार के आर्थिक महत्व को बखूबी समझा एवं अपनी वृत्ति के अनुरूप ही बहुत बेरहमी से अपने वाणिज्यिक हितों के लिए इसका भरपूर दोहन किया। औपनिवेशिक दासता शासन एवं शोषण के प्रत्यक्ष एवं शुरुआती कुप्रभाव बंगाल में दिखे, इससे बिहार भी अछूता नहीं रह सकता था। बिहार एवं उत्तर प्रदेश की एक बड़ी आबादी बंगाल की विविध व्यावसायिक गतिविधियों पर आश्रित थी। बंगाल की खुली लूट ने इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति को तो संभव बनाया परंतु भारत में जो देहाती करण शुरू हुआ, गरीबी, बेरोजगारी एवं भुखमरी बढ़ी उसने भारतीय जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध किया, देशी उद्योग धंधे तो चौपट हुए ही; कृषि पर भी बेतहाशा बोझ बढ़ा, लेकिन वहां भी भू-राजस्व का ऐसा कुचक्र था कि जनता पर दोहरी मार पड़ी।

भारतीय हस्तशिल्प के सामान अपनी कलात्मकता के लिए विश्वप्रसिद्ध थे। इनमें दक्ष कारीगर अपनी आजीविका के लिए इन्हीं पर निर्भर थे, देशी रियासतों की समाप्ति से इनके पारंपरिक खरीदार खत्म हो गए, नये अभिजात वर्ग की रुचियां कुछ और थी। फिर बहुत से कारीगरों को ब्रिटिश कारखानों में जबरिया काम पर लगाया गया, कइयों के हाथ काटे गए इस तरह शहरी हस्तशिल्प तबाह हुआ और शहर भी तबाह हुए। लोग शहर से गांवों की ओर चले, यही देहाती कारण था। विकास की गति यहां उल्टी दिशा में चली। औपनिवेशिक लूट ने जहां इंग्लैण्ड का औद्योगीकरण किया वहीं भारत का देहातीकरण किया।

पटना, मिर्जापुर और मुरादाबाद जैसे हस्तशिल्प के तत्कालीन बड़े केंद्र वीरान होते गए। गोले-बारूद और तोप पर आधारित युद्ध शैली ने हाथी-घोड़ों की उपयोगिता सीमित कर दी। फलतः तीर तलवार या परंपरागत युद्धक साजो-सामान बनाने वाले बरबाद होते चले गए। बेरोजगार शिल्पी-श्रमिकों ने गांवों का रुख किया।

बिहार के विशेष संदर्भ में देखें तो कुछ उदाहरणों से स्थिति कुछ और स्पष्ट होगी। स्वतंत्र प्रांत की हैसियत खो देने के बाद प्रशासनिक केंद्र बदलने व्यवसाय-वाणिज्य की गतिविधियां पहले से न्यून

हुई, 1810 में भागलपुर का तस्सर कारोबार काफी उन्नत व्यापक और गतिशील था। उस समय 3275 करघे काम कर रहे थे परंतु 1877 आते-आते स्थिति इतनी खराब हुई कि मात्र 13 व्यक्ति बचे रह गए जो इस कारोबार में लगे हुए थे। अरवल जो कागज के लिए ख्यात था और बिहार से बाहर बंगाल तक उसके प्रोडक्ट्स की धूम थी, 1870-80 के दशक तक आते-आते वीरान हो चुका था। जहानाबाद में कपड़े का मशहूर कारखाना था। 1960 और 1815 के बीच वहां काफी गहमा-गहमी हुआ करती थी, लेकिन औपनिवेशिक शोषण चक्र में वहां की रौनक भी पिस गई।

थोड़ी दूर चलें और ढाका को देखें 1818 में वहां की आबादी 1,50,000 थी जो 1836 में महज 20,000 रह गई। पटना भागलपुर, छपरा, दरभंगा जैसे शहरों की भी आबादी इसी तरह तेजी से घटी। वहां विभिन्न सामानों के खरीदार ही नहीं रहे, गांव जो उत्पादन कर रहे थे उन्हें शहरों में खपाना मुश्किल हो गया। ब्रिटेन में उत्पादित वस्तुओं की भारतीय बाजार में भारी मांग ने यहां के पारंपरिक शिल्पियों, कारीगरों, दस्तकारों को वैसे भी बेरोजगार कर दिया था।

इन सबका बोझ पड़ा जमीन पर। किसानों की दशा और बदतर हुई, उत्पादन में कोई गुणात्मक वृद्धि हुई नहीं, लेकिन लगान वसूली में कोई रियायत नहीं थी। इसने जमींदारों को भी बेहाल कर दिया, कर्जों के बोझ तले कइयों की जमीन-जागीरें बिकीं। 1793-94 से लेकर 1806-07 के मध्य बिहार की बहुत सी जमींदारियां बिकीं; और कंपनी का तो एकमात्र उद्देश्य था राजस्व की येनकेन प्रकारेण से वसूली। इससे किसानों का जीना दुश्वार हुआ, कुछ ऐसी जमीनें जिन पर लगान में छूट रहती थी उनको भी लगान-व्यवस्था के तहत लाकर उन पर राजस्व लिया जाने लगा, 1780 से 1870 के बीच पटना में धार्मिक-शैक्षणिक या विभिन्न जनहित के कामों के लिए उपयोग में लाई जा रही लगान मुक्त जमीनों से भी राजस्व वसूल किया गया तो 48 प्रतिशत अधिक हाथ लगा। राजस्व की अन्यायपूर्ण लूट का थोड़ा सा भी हिस्सा जनहित में नहीं लगता था, सिंचाई की सुचारू व्यवस्था कैसे हो ताकि उत्पादन बढ़े, इस पर ध्यान नहीं था। जिससे आम जन जीवन बेहतर हो किसी भी तरह के सामाजिक विकास के कार्यों पर ध्यान नहीं था। ऐसे में तो उस व्यवस्था, उस शासन, उस सरकार के प्रति जनाक्रोश फूटना ही था, राजस्व की वसूली संबंधी एक आंकड़ा जान शोर ने बंगाल के बारे में प्रस्तुत किया है जो बताता है कि 1790-91 में यह राशि 268 लाख तक पहुंच गई, आर॰ सी॰ दत्त[2] लिखते हैं कि 1757 से 1765 के बीच कंपनी अधिकारियों की कमाई छः लाख पौण्ड थी जो बंगाल की वार्षिक आय से चार गुना अधिक थी, दरअसल इस बेहिसाब कमाई के पीछे वहशी लूट, क्रूरता और भ्रष्टाचार का तंत्र लगा हुआ था, व्यापारिक हितों के लिए अंग्रेजों ने कुछ नकदी फसलों की जबरिया खेती भी कराई की उपज बुरी तरह प्रभावित हुई, जिससे बिहार-बंगाल में कई लोग अकाल के शिकार हुए।

ऐसा नहीं था कि अंग्रेजों के आने से पहले बिहार में नील की खेती नहीं होती थी, लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद यह अंग्रेजों के व्यावसायिक हितों की पूर्ति के लिए भारतीय जनता की मजबूरी बन गई, यही वह समय था जब नील की खेती का औद्योगिक स्वरूप उभर रहा था,[3] नील की खेती ने निलहे साहबों और जमींदारों को खेती करने वाली जनता के शोषण के निमित्त असीमित अधिकार दे दिए, क्योंकि नील की खेती कानून द्वारा संरक्षित खेती थी और इस आधार पर शोषण भी विधिवत कानून बनाकर किया जाने लगा। 1835 में जो कानून पारित हुआ उसके तहत यदि रैयत नील की खेती से इनकार करे तो निलहे साहबों के द्वारा उन पर आपराधिक मुकद्मा चलाया जा सकता था, यही नहीं 1837 में जब अंग्रेजों को भारत में जमीन खरीद कर स्थायी तौर पर उसका स्वामित्व धारण किए रहने की छूट मिल गई तो तमाम निलहे साहबों ने बिहार में जीरत व्यवस्था को बड़ी चतुराई

और क्रूरता के साथ लागू किया, अंग्रेज अपनी सारी संपदा बेच कर भी भारत में जमीन खरीदने और खेती करने आने लगे। यहां उन्हें करों में भारी छूट दी गई। 1769 में जैसे कच्चे रेशम की पैदावार को बढ़ावा देने संबंधी निर्देश जारी किया गया था और रेशमी वस्त्रों के उत्पादन को हतोत्साहित करने की बात कही गई थी उसी तरह इस समय भी पूरी कृषि ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल पैदा करने में लगा दी गई।

बिहार के शहरों, गांवों में एक जैसी दुर्दशा थी, एक जैसा असंतोष था और उसी अनुपात में आक्रोश फूटा भी, कृषि-व्यवसाय, शिल्पौद्योगिकी, व्यापार, दस्तकारी, औपनिवेशिक लूट में सब बरबाद हो चुका था। इसी बिहार में 1831-33 में कोल विद्रोह तो 55-56 में संथालों की बगावत हो चुकी थी। 1845-46 में ही अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ लामबंदी शुरू हो चुकी थी, कई राजा और जमींदार अंग्रेजी राज के विरुद्ध असंतोष और जनता के बगावती तेवरों को संगठित करने में लगे थे, कुंवरसिंह की इसमें प्रमुख भूमिका थी। अंग्रेज भी उन दिनों सिख-युद्ध में उलझे हुए थे, इसका लाभ भी विद्रोहियों को मिला और उन लोगों ने नेपाल के राजा से भी सहयोग का आश्वासन ले लिया था, यानी 1857 को राष्ट्रीय फलक पर देखें तो लगेगा कि यह कोई क्षणिक उत्तेजना में अचानक उठ गया कदम नहीं था, जनता अंग्रेजों के अत्याचारों से ऊब चुकी थी और वह छिटपुट विद्रोही गतिविधियों का अंजाम भी जान रही थी, यही कारण था कि इस बार की बगावत को थोड़ा सुनियोजित रूप देने की कोशिशें चल रही थीं।

अपनी क्रांतिकारी चेतना और रणनीति के साथ लोग एक दूसरे के साथ संपर्क स्थापित कर रहे थे, कुंवर सिंह बिहार के बाहर निकले। रीवा, बांदा, मिर्जापुर, कानपुर, लखनऊ, आजमगढ़, बलिया और गाजीपुर तक अलरव जगा आए। वह नेपाल के संपर्क में भी थे, पलामू के विद्रोहियों के भी सतत् संपर्क में थे कुंवर सिंह। बिहार के बाहर से भी कई क्रांतिकारी बिहार की गतिविधियों पर नजर रखे हुए थे और अधिकतम संभव क्रांति के बिरवे रोपने के लिए कटिबद्ध थे।

दस्तावेज बताते हैं कि वारिस अली[4] और पीर अली खान[5] क्रांतिकारी चेतना के प्रचार-प्रसार एवं क्रांति की जमीन तैयार करने के अभियान के तहत ही बिहार भेजे गए थे, पीर अली को पटना में क्रांति के नेतृत्व का श्रेय जाता है, ये मूल रूप से लखनऊ के रहने वाले थे, पटना सिटी में आ बसे थे। बहावी आंदोलन से जुड़ कर ये अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह को अंजाम देने में लगे रहे। इन्हें डॉक्टर लायल की हत्या के आरोप में फांसी दे दी गई। उस समय विलियम टेलर, जो पटना डिवीजन के कमिश्नर थे, उन्होंने अपनी पुस्तक ''आवर क्राइसिस आर थ्री मन्थ्स ऐट पटना ड्यूरिंग इंसरक्शन'' में पीर अली के साहस, शौर्य की जमकर तारीफ की है। उन्होंने यह संदेह भी व्यक्त किया है कि लखनऊ का निवासी होने के वाबजूद पीर अली ने स्वयं को पटना में इसीलिए स्थापित किया होगा ताकि यहां षड्यंत्र रच सके। कुल 36 लोग पटना में गिरफ्तार किए गए जिसमें 16 लोगों को फांसी की सजा दी गई, पीर अली के साथ रमजान, पीरबख्श, शेख घसीदा, गुलाम अब्बास, जुम्भन, हाजीजान, नंदलाल, छोटू यादव, सागर अली, वहीद अकी एवं मुहम्मद अख्तर को भी फांसी दे दी गई। इतिहासकार कयामुद्दीन अहमद[6] लिखते हैं कि पीरअली स्थानीय बहावी नेता फरहत हुसैन के भी संपर्क में थे। उन्होंने यह भी बताया है कि पटने में विद्रोही दो गुटों में काम कर रहे थे-एक में पीर अली, यूसुफ अली, इमालुद्दीन और दूसरे मे अली करीम, वारिस अली हालांकि अब धीरे-धीरे इन दोनों गुटों में भी एक साथ काम करने की योजना बन रही थी। पीर अली के घर की तलाशी के क्रम में कई महत्वपूर्ण कागजात मिले जिनसे यह जानकारी मिली कि कानपुर और अवध के

विद्रोहियों से पीर अली के तार गहरे जुड़े हुए थे, अवध के ही एक और विद्रोही नेता मुहम्मद हुसैन ने मोतिहारी, मुजफ्फरपुर और छपरा जैसी जगहों पर विद्रोह के सूत्रपात में सूत्रधार की भूमिका निभाई।

दानापुर में फौज ने बगावत कर दी, वहां से तीन रेजिमेंटों ने कुंवर सिंह से हाथ मिलाने के लिए जगदीशपुर की ओर कूच किया तो रास्ते में आरा पड़ा। यहां उन्होंने चुन-चुनकर अंग्रेजों का सफाया किया, इसके बाद तो बिहार में विद्रोह फैलता गया। मुजफ्फरपुर विद्रोह का एक अन्य महत्वूपर्ण केंद्र था जिसके इर्द-गिर्द पर्याप्त गतिविधियां संचालित होती रही। 1856 में ही मुजफ्फरपुर जेल में पानी पीने वाले एक बर्तन लोटे को लेकर कैदियों और अंग्रेज अधिकारियों के बीच ठन गई। इसी को लोटा विद्रोह भी कहा गया है, हुआ यह था कि 1856 में जेल में कैदियों के लिए पीतल के लोटे की जगह मिट्टी के बर्तनों को संस्तुत किया गया इस आशंका के साथ कि पीतल के लोटे का अंग्रेज अफसरों के विरुद्ध हथियार की तरह भी इस्तेमाल हो सकता है[7]। इस बेवकूफाना संस्तुति का असर आरा जेल में बंद कैदियों तक पर पड़ा, उन्होंने इसका विरोध किया, उन पर गोलियां चलानी पड़ी लेकिन मुजफ्फरपुर में जब जनता सड़कों पर आ गई तो फिर इसे वापस लेना पड़ा।

चंपारण के सुगौली में भी विद्रोह की अग्नि जल चुकी थी। 1816 में ही नेपाल के साथ युद्ध के दौरान यह छावनी स्थापित हुई थी। यह एक प्रमुख छावनी थी, लेकिन मेजर हांस और उनकी पत्नी की हत्या के बाद वहां के हालात बेकाबू होते गए। वहां के न्यायाधीश ने पटना के कमिश्नर टेकर से भी गुहार लगाई। टेलर ने अन्ततोगत्वा अपने अधिकारियों से वह जगह छोड़ने के लिए कह दिया। कलक्टर जैसे ही मुजफ्फरपुर से बाहर निकले कि 31 जुलाई 1857 को सेना की एक पूरी टुकड़ी विद्रोह कर बैठी, ट्रेजरी जेल और रेल पर धावे बोले गए[8]। जुलाई 1857 तक तो कंपनी सरकार ने समस्त विद्रोहियों को कब्जे में ले लेने का आदेश जारी कर दिया था परंतु बाद में भी जितने लोग पकड़े गए सबने यही कहा कि अंग्रेजों की सत्ता समाप्त हो चुकी है इससे महत्वपूर्ण बात यह थी कि तमाम विद्रोहियों को कुंवर सिंह पर यकीन था और सब खुले आम कहते थे कि यहां अब कुंवर सिंह का शासन है, तिरहुत के मजिस्ट्रेट द्वारा पटना के कमिश्नर को लिखे पत्रों में इस बाबत उल्लेख आए हैं, सुगौली से निकली बागी फौज ने भी बाबू कुंवर सिंह के ही कंधों से कन्धा मिलाया।

चंपारण और मुजफ्फरपुर में विद्रोह के संदर्भ में निलहे साहबों की भूमिका बहुत ही क्रूरतापूर्ण थी, उनके लिए यह बेहतरीन अवसर की तरह था जब वे अंग्रेजी राज के प्रति अपनी निष्ठा और वफादारी प्रदर्शित कर सकते थे। एक ऐसे समय में जब अंग्रेजों के खिलाफ जनता सड़कों पर थी निलहे साहबों ने अंग्रेजों की भरपूर सहायता की। सारे निलहे तथा अन्य दूसरे अंग्रेज अफसर भी भारी संख्या में मुजफ्फरपुर पहुंचे एवं पूरी ईमानदारी से अपने उस गढ़ की रक्षा की, गिरीवश मिश्र ने अपने एक आलेख में इसी तरह के एक निलहे मिरेंन विहसन का जिक्र किया है जिसने अपनी किताब में उपरोक्त बातों का जिक्र किया है।[9]

दानापुर में भी फौज ने ही बगावत शुरू की थी और यह लहर मुजफ्फरपुर तक गई। दानापुर उस समय की सर्वश्रेष्ठ फौजी छावनी थी, यहीं पर बंगाल आर्मी की ओ॰ टी॰ रेजिमेण्ट थीं, कुछ तोपची भी थे। इन्हीं के बूते जनील लायर ने संथाली विद्रोह को अत्यंत सफलता पूर्वक कुचल दिया था। सुगौली के घुड़सवार सेना की विद्रोही चेतना ने चंपारण और सारण को भी अपनी जद में ले लिया, दानापुर, जगदीशपुर, आरा, रामगढ़ से होती हुई बगावत की आग हजारीबाग, रांची और संभलपुर तक जा पहुंची। विद्रोहियों ने भोजपुर, बिहार तथा औरंगाबाद जैसी जगहों पर अपनी सैन्य क्षमता बढ़ाने के लिहाज से व्यापक पैमाने पर नई भर्तियां की एवं कुछ पुराने सैनिकों को भी फिर से सैन्य

गतिविधियों में शामिल किया। अंग्रेजों की पिट्ठू रियासतों के बीच संपर्क या आवाजाही रोक देने के लिहाज से पिथौराघाट और रामगढ़ के बीच सड़कों और नहरों को छिन्न-भिन्न कर दिया गया था।

रांची में हुई विद्रोही नेताओं की बैठक में हालांकि उनकी आपसी फूट सतह पर आ गई लेकिन वे तमाम लोग ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ अपनी एकजुटता बनाए रहे। हिन्दुस्तानी, रामगढ़िया और भागलपुरी जैसे तीन गुट अस्तित्व में आए। हिन्दुस्तानी गुट के नेता माधव सिंह थे। इस गुट में बिहारी सिपाहियों की संख्या अधिक थी और शायद इसी कारण वे कुंवर सिंह के साथ संयुक्त रूप से अपना अभियान चलाना चाह रहे थे। रामगढ़िया गुट के नेता विश्वनाथ साही थे तथा इनके गुट में मुंगेर गया तथा शाहाबाद क्षेत्रों के बागी शामिल थे। भागलपुरी गुट जयमंगल पाण्डेय के नेतृत्व तले संगठित था ऐसा लगता है कि इस गुट में ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी। लेकिन उनकी संरचना और समझ जो भी रही हो उनका उद्देश्य एक ही था।

उधर भागलपुर में पांचवी दूर्रेग्युलर कैवेलरी का विद्रोह अंग्रेजों पर काफी भारी साबित हुआ। इस टुकड़ी में विशेष योजना के तहत गांव-देहातों से भर्तियां की गई थीं ताकि उन तक अंग्रेज विरोधी भावना की पहुंच नहीं हुई होगी लेकिन उनका यह आकलन झूठा साबित हुआ। फिर उधर जलपाइगुड़ी और पूर्णिया का विद्रोह एक दूसरे से प्रेरणा और पूर्णता पा रहा था। भागलपुर में मैक्डानल्ड और यूल पर हमला अंग्रेजों के विरुद्ध बागियाना तेवरों की ही उपज था, गया में जीवनधन सिंह, हैदरअली खान इत्यादि के नेतृत्व में पूरा प्रक्षेत्र आंदोलित हो उठा था, मुंगेर की बागी चेतना अपने आप में अंग्रेजी सरकार के लिए समस्या बनी हुई थी। बिहार के बागी और बगावतें महत्वपूर्ण इसलिए रही कि जाने-अनजाने ये विशेष भौगोलिक स्थिति का लाभ ले रहे थे, बिहार का महत्व इसलिए था कि राजधानी कलकता से शेष भारत या दिल्ली का संपर्क मार्ग यही था। सड़क मार्ग के लिहाज से जी॰ टी॰ रोड और जल मार्ग के लिहाज से गंगा नदी दोनों का मार्ग बिहार से ही गुजरता था। यदि सारे बिहार में विद्रोह फैल जाता तो भारत के कई हिस्से राजधानी कलकता से कट जाते।

फिर यह भी देखें कि यह विशेष भौगोलिक स्थिति का ही लाभ रहा कि नाना साहब के नेपाल चले जाने के बाद कुंवर सिंह[10] बहुत आसानी से उनकी टुकड़ियों का नेतृत्व करने तराई में भी उतर गये थे। विशिष्ट भौगोलिक स्थिति का ही लाभ यह भी था कि मुजफ्फरपुर में जब विद्रोही बहुत कामयाब नहीं हो पा रहे थे और उनका प्रतिरोध कुचला जा रहा था तो वे उसे फिर से संगठित करने के लिए नेपाल चले गए। नेपाल के राजा के साथ कुंवर सिंह बहुत दिनों से संपर्क में थे।

19 सितंबर 1858 को 'समाचार सुधा वर्षण' की खबर उसी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति को बयान कर रही है जिसमें यह कहा गया है कि स्टीमर से पार जाते विद्रोहियों में से दो को पकड़ लिया गया है बाकी लोग गोरखपुर पहुंच गए होंगे, उनके नेता भवानी सिंह जो विद्रोह के लिए ताकत बटोर रहे हैं, गोरखपुर के जंगलों में ही कहीं हैं। यह पटना से भेजा गया पत्र बताया गया है। अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के अतिरिक्त 1857 बिहार में कुछ अन्य कारणों से महत्वपूर्ण रहा, एक तो यह कि कोई कहीं भी लड़ रहा था वह कुंवर सिंह के संपर्क में जरूर था, या नहीं तो कुंवर सिंह के पराक्रम से प्रेरणा ले रहा था। कुंवर सिंह ही एकमात्र ऐसे नेता रहे बिहार से, जिन्होंने समझ लिया था कि इस विद्रोह की असली पटकथा कहां लिखी जानी है, शायद तभी उन्होंने बिहार से बाहर जाकर देश-विदेश की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना से संपर्क-सबंध स्थापित किया और बिहार में विद्रोही गतिविधियों को व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया, इतिहासकार पी॰ के॰ शुक्ला[11] इस महत्वपूर्ण तथ्य को उजागर और व्याख्यायित करते हैं कि भू-स्वामी कुलीन वर्ग का तुष्टीकरण विद्रोह के बाद अंग्रेजी

शासन की खास पहचान बन गया, 1857 के बाद बिहार में निलहे काफी शक्तिशाली हो गए, उन्होंने अंग्रेजों का विद्रोह के समय साथ दिया था। अब अंग्रेजी सत्ता उन पर भरोसा कर सकती थी, निलहे साहबों को अपने-अपने क्षेत्रों में मानद मजिस्ट्रेट बना दिया गया, डुमरी, पंडौल, देवरिया, जितवारपुर के बागान मालिक मजिस्ट्रेट के रूप में नियुक्त कर दिए गए। निलहे साहबों के पास नकदी की कोई कमी नहीं थी और वे जमींदारों को अधिक लगान देकर जमीनें अपने लिए ले सकते थे, जमींदार भी स्वाभाविक है पट्टा लिखने में उन्हीं को तरजीह देंगे जो पैसा अधिक दे रहा था। फिर जब 1837 में यहां स्थायी तौर पर जमीन खरीद कर रहने और खेती करने की छूट मिल गई तो अंग्रेजों ने भारी पैमाने पी यही के लूट से यहीं की जमीनें खरीदीं। इस तरह बिहार में नील उत्पाद क्षेत्रों में कंपनी निलहे साहबों एवं स्थानीय जमींदारों एवं रियासतों के राजाओं का जो गठजोड़ बना वह त्रासद तो है ही रोचक भी है। हथुआ के महाराज ने कोल और संथाल विद्रोह को कुचलने में अंग्रेजों की मदद की थी। बनैली के राजा भी सरकार के प्रति निष्ठावान रहे। दरभंगा महाराज महेश्वर सिंह भी अंग्रेजों के प्रति वफादार रहे, राजेन्द्र प्रताप शाही ने भी निष्ठा के ही एवज में शाहाबाद में 20,000 रु॰ आय की जागीरें बख्शीश स्वरूप हासिल की थीं।

यह कुछ सफल कूटनीतिक चालें थी, जिनके आधार पर अंग्रेज 1817 की जन क्रांति के जाल से बच सके, लेकिन जनता अपने राजाओं के साथ नहीं थी, जनता उन्हीं राजाओं के साथ थी जो उसकी आवाज, उसकी व्यथा के लिए अंग्रेजों से लड़ सकता था, जैसे कुंवर सिंह का स्थान इतिहास के दस्तावेजों से अधिक जनता की स्मृतियों में है। जनता गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अकाल झेल रही थी। उत्पीड़न की चरम सीमा सह रही थी तो बगावत भी तो उसे ही करनी थी। हालांकि उसका खामियाजा बिहार बाद तक भुगतता रहा, यहां विकास एवं जनकल्याणकारी कार्यों की घोर उपेक्षा की जाने लगी, प्रशासनिक केन्द्र एवं आथिक गतिविधियां लगभग शून्य कर दी गई।

संदर्भ सूची

1. एन॰ ए॰ सिद्दीकी, लैण्ड रेवेन्यू ऐडमिनिस्ट्रेशन अण्डर दी मुगल्स (1700-1750) पृ॰-13।
2. आर॰ सी॰ दत्ता, इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड एक।
3. प्रभात कुमार शुक्ला, इंडिगो एण्ड दी राज, दिल्ली, 1993, पृ॰ 42।
4. पार्लियामेंटरी पेपर्स, वॉल्यूम-44, 1857, पार्ट-1, पेपर सं॰-363 पृ॰-3-4
5. दि इंग्लिश मैन एण्ड मिलिटरी क्रानिकल, तिथि-15 जुलाई, 1857।
6. कयामुद्दीन अहमद, बहावी मूवमेंट, पृ॰-220।
7. काये एवं मैलसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन म्यूटिनी, वॉल्यूम-1 पृ॰-144।
8. बंगाल डिस्ट्रिक गजेटियर, मुजफ्फरपुर, पृ॰-25
9. गिरीश मिश्र, 1857 की आर्थिक पृष्ठभूमि, नयापथ, 1857 विशेषांक, पृ॰-67
10. रितम्भरा देवी, इण्डियन म्यूटिनी; 1857 इन बिहार, दिल्ली, 1989 पृ॰-146।
11. प्रभात कुमार शुक्ला, इण्डिगो एण्ड दी राज, पृ॰-162।

◆

इतिहास

सिंधु क्षेत्र के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय

डॉ० कुमार विशाल

जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

मानव इतिहास में मनुष्य ने हजारों वर्षों तक आखेटक और खाद्य संग्राहक का जीवन व्यतीत किया। लोग हजारों वर्षों तक आखेटक तथा खाद्य संग्राहक का जीवन व्यतीत करने के पश्चात गांवों में बसने लगे और कृषक तथा पशुपालक का जीवन व्यतीत करने लगे। व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने तथा पशुओं के पालतू बनाने के क्रम में मनुष्य गेहूं, जौ, भेड़ तथा बकरी इत्यादि के संपर्क में आया, जिनके पूर्वज तथा प्रजातियां काफी विस्तृत किंतु व्यतिक्रमीत अवस्था में एशिया के ऊपरी क्षेत्रों में तुर्की तथा अफगानिस्तान में फैले थे। इसके अवशेष सबसे पहले दक्षिण एशिया के मेहरगढ़ में (6000 ई.पू.) पाये गये हैं। ऐसी कोई निश्चित अवधि का पता दक्षिण एशिया में नहीं चला है, जिससे यह माना जाय कि इस समय में आखेटक तथा खाद्य संग्राहक की जीवन शैली छोड़कर लोग कृषि तथा पशुपालन करने लगे थे।

विभिन्न क्षेत्रों में नवपाषाण युग विभिन्न प्रकार से विभिन्न स्तरों पर एक विशेष प्रकार के पत्थर और मृद्भांड की तकनीक तथा अलग-अलग तरह के पशुओं के साथ आया। नवपाषाणीय अर्थव्यवस्था स्थानीय पशुओं को पालतू बनाने को उत्सुक नहीं थी। नवपाषाण संस्कृतियाँ जो जेहलम घाटी, गारो तथा उत्तरी चांचर पहाड़ियों में पायी गयी हैं, वे एक अलग तरह की विचित्रता को दर्शाती हैं, जिससे यह लगता है कि इनका शिल्प कलात्मक संबंध इस महाद्वीप के बाहर स्थित संस्कृतियों से रहा है। दूसरी तरफ, उड़ीसा में हमें उत्तर-पूर्व तथा दक्कन पठारी संस्कृतियों का सम्मिश्रण मिलता है। कुछ संस्कृतियों के बारे में हमें सिर्फ तिथिविहीन तथ्यों पर निर्भर रहना पड़ता है और कुछ में हम जैविक तथा जंतुसमूह संबंध के प्रमाण भी उपलब्ध नहीं पाते हैं। कच्छ मैदानी क्षेत्रों की तरह ही विंध्य पठार की बेलन घाटी तथा गंगा के मैदानी क्षेत्रों में इलाहाबाद का इलाका काफी महत्वपूर्ण है। यहाँ हमें पुरापाषाण युग, मध्यपाषाण युग तथा प्रारंभिक नवपाषाण युग के घटनास्थल एक क्रम में मिले हैं। यहाँ से हमें चावल के अवशेष तथा कूबड़वाले पशुओं के पालतू होने का संकेत भी मिला है।

ताम्रपाषाणिक युग

हमें ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों का एक सिलसिला हड़प्पा सभ्यता के पश्चात् मिला है, जो 2,000 ई.पू. की हैं और जो भौगोलिक रूप से उदयपुर के उत्तर-पूर्व में स्थित बनास तथा बेचान दोआब से होते हुये मालवा और पश्चिम महाराष्ट्र में भीमा घाटी तक गयी हैं। कुछ मुख्य स्थानों–दंगवाड़ा तथा उज्जैन के नजदीक कायथा और प्रवारा के पास दायमाबाद का स्तरित शैल विज्ञान पद्धति द्वारा

अध्ययन करने पर यह पता चला है कि कायथा संस्कृति के बाद बनास, फिर मालवा और तब जोरवे संस्कृति का विकास हुआ है।

प्रारंभिक लौहावस्था

व्यवस्थित ग्रामीण जीवन शैली के उदय ने जिस तरह विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप लिए, वैसे ही लोहे के प्रयोग ने विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न तरीकों से लोगों की जीवन शैली को प्रभावित किया। लोहे के प्रयोग की प्राचीनता को जानने के लिए दक्षिणी एशिया के छह प्रमुख क्षेत्रों से एक सर्वेक्षण किया गया, जिससे यह पता चला कि आर्यों के आने और लोहे के प्रयोग से कोई संबंध नहीं है। जिन क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया गया है, उनसे यह पता चलता है कि यहाँ पर काफी मात्रा में लौह-अयस्क (जो आसानी से पिघलाया जा सकता था) पाया गया है। मालवा क्षेत्र में रेडियो कार्बन पद्धति से पता चला है कि करीब 1100 ई.पू. लोहे का प्रयोग शुरू हो गया था। यह बात इस आधार पर कही गयी है कि मालवा में ताम्रपाषाणिक युग के पश्चात् लौहावस्था आयी थी। प्राप्त साक्ष्य से ज्ञात होता है कि दोनों अवस्थाओं में एक निरंतर संबंध है। मालवा में ताम्रपाषाणिक युग का अंत करीब 1300 ई.पू. का है। प्रथम लोहे के प्रयोग का एक निश्चित स्थान या क्षेत्र खोजना कठिन है, क्योंकि बहुत कम ही रेडियो कार्बन तिथि उपलब्ध हैं। निश्चित रूप से यह बात कही जा सकती है कि किसी एक क्षेत्र-विशेष में लोहे का प्रयोग नहीं हुआ होगा, अपितु कुछ शताब्दियों के अंदर ही बहुत सारे समुदायों ने लोहे का प्रयोग शुरू कर दिया होगा। गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र में यह स्पष्ट है कि लोहे के अनेक प्रयोग मिलते हैं। इन स्थलों पर जनसंख्या का दबाव उत्तरी हड़प्पा की तुलना से ज्यादा था। मगध के राजतंत्रों तथा कोशल और उत्तरी गणराज्यों का उदय ऊपरी लौहावस्था के परिपेक्ष्य में देखा जाता है। 1963 में डी.डी. कौशांबी ने इस बात की घोषणा की थी कि इतने बड़े पैमाने पर जंगलों का काटा जाना तथा कृषि व्यवस्था का गंगा घाटी में अपनाया जाना बिना लोहे के प्रयोग का संभव नहीं हो सकता।

भौगोलिक विस्तार

उत्तर-पश्चिम सीमांत

दो खंडों में यह क्षेत्र बंटा हुआ है। पेशावर तथा तक्षशिला के बीच का क्षेत्र, जिसमें पेशावर घाटी तथा पोतवार के पठार सम्मिलित हैं, और स्वात तथा चित्राल के बीच का क्षेत्र। कोटदीजी से संबंधित जानकारी सरायखोला का नवपाषाणिक स्तर देता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारा क्षेत्र तत्कालीन हड़प्पा से व्यापारिक स्तर पर जुड़ा था। अनेक पुरातात्विक स्थान स्वात-छित्रल क्षेत्र में मिले हैं जो यह दर्शाते हैं कि यहाँ के लोग विभिन्न प्रकार की धातु, पत्थर तथा अन्य चीजों का इस्तेमाल करते थे, जिनमें शंख, मूंगा तथा हाथी दांत संभवतः इस क्षेत्र में सिंधु घाटी से आया था। घनीगई का पत्थरनुमा स्थान जो करीब-करीब 3000 ई.पू. का है, स्वात-छित्रल की आधारशिला के बारे में बताता है। "आद्य ऐतिहासिक कब्रिस्तान" 2000 ई.पू. का इस क्षेत्र से प्राप्त है। ऐसे कब्रिस्तानों का प्रमाण तथा संबंधित बस्तियों को "गांधार कब्र संस्कृति" के नाम से जाना जाता है और ये कब्रिस्तान नम्यतापूर्ण तथा कलश स्वरूप (फलेक्सड तथा अर्न) दफन से तथा ताम्रपाषाणिक युग से संबंधित हैं। कई स्थानों पर कब्रिस्तानों तथा संबंधित बस्तियों का अध्ययन किया गया है, जिनमें मुख्य हैं—अलीग्राम, बीरकोट घुण्डई, लेबनर, खेराटी, लालबटाई, तिमारगढ़, बालाम्बात, कालको-दीरेय तथा जरीफ करुणा जो चित्रल स्वात, दिर, बनर इत्यादि घाटियों में स्थित हैं।

कश्मीर

तीस से अधिक नवपाषाणिक स्थल कश्मीर में पाये गये हैं, जिनमें से ज्यादा बारामूला, अनंतनाग तथा श्रीनगर खंड क्षेत्रों में पाये गये हैं। इसका इतने बड़े क्षेत्रों में फैला होना इस बात की ओर इंगित करता है कि यहाँ की संस्कृति मैदानी क्षेत्रों में पायी गयी संस्कृतियों से भिन्न नहीं है। गुफकराल में कुंडलीनुमा तांबे की बालों की चिमटी तथा बुर्जहोम में कोटदीजी की तरह गोलाकार बर्तन पर "सिंहनुमा देवी" का चित्रण, कश्मीर और सिंधु सभ्यता के बीच आपसी आदान-प्रदान का प्रमाण है। यह गुफकराल का एकरमिक युग यह बताता है कि इस समय तक छोटे तथा बड़े-बड़े रहने वाले कमरों का निर्माण हो चुका था। छिछला तथा बड़े कमरों का निर्माण पहले के युगों में भी पाया गया है। दो कमरों वाला मकान बाद के युगों में भी मिलता है। चटायीनुमा आधार वाले हाथ से बने हुये भूरे रंग के बर्तन कश्मीर के नवपाषाणिक युग की एक विशेष कृति है। गुफकराल तथा बुर्जहोम में इस प्रकार के बर्तन पाये गये हैं। दो हजार ई.पू. के मध्य तक कश्मीर का नवपाषाणिक युग महापाषाणिक युग में परिवर्तित हो गया था।

लद्दाख तथा अल्मोड़ा

यहाँ से पाये गये स्रोत अनिश्चित हैं, क्योंकि अवशेषों की संख्या कम है तथा उनकी तिथियों में काफी विषमता है। फिर भी इन्हें पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता। ये आंशिक स्तर पर कराकोरम के दोनों भागों के बीच के संबंध को बताते हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमांत तथा कश्मीर के बीच संबंध के संदर्भ में हम हिमालय के प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन कर सकते हैं। हम लद्दाख की क्यारी में पाये गये हस्त निर्मित लाल बर्तनों की तुलना बुर्जहोम के द्वितीय नवपाषाणिक युग के बर्तनों से कर सकते हैं। चार घर तथा भेड़ बकरी आदि पालतू जानवर तीन क्रमिक स्तरों में पाये गये हैं। 1000 ई.पू. इसकी तिथि है। उसी भौगोलिक संरचना में स्थित शैक (क्यारी से 10 किलोमीटर की दूरी पर) से छठी शताब्दी ई.पू. की एक रेडियो कार्बन तिथि पायी गयी है।

उत्तर-पूर्व राजस्थान

जोधपुरा का बड़ा-सा टीला सहीबी नदी के तट पर मिला है, जो ज्ञानेश्वर-जोधपुरा संस्कृति का पहला साक्ष्य है। तीसरी-चौथी शताब्दी ई.पू. का यह टीला लगता है। निदानकारी बर्तन-पहियों से बना, गुलाबी तथा कत्थई रंगों से उत्कीर्ण चित्रित तथा अन्य विभिन्न आकारों में—ज्ञानेश्वर में पाया गया है जो दिल्ली-जयपुर रेलवे लाइन के छोटे अरावली पहाड़ों में मिला है। काफी मात्रा में तांबे के औजारों विशेषकर तीरों के ज्ञानेश्वर से मिलने के बाद इस संस्कृति पर ध्यान गया, जो यहाँ पर उत्खनन् में पायी गयी थीं। ज्ञानेश्वर का पुनः खनन पुरातत्वविदों ने किया और वहाँ काफी संख्या में इस तरह के साक्ष्य (करीब 83 की संख्या में) पाये गये जो उत्तर-पूर्व राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों-सिकर, जयपुर तथा चुरू जिलों में स्थित है। तांबे के खनन् तथा संबंधित कार्यों के कारण उत्तर पूर्व राजस्थान का महत्व है। ज्ञानेश्वर, जो 3 या 4 एकड़ से बड़ा क्षेत्र नहीं है, वहाँ से लगभग 2000 तांबा निर्मित साक्ष्य मिले हैं और जब ऐसे-ऐसे 83 घटनास्थल हों तो वहाँ पर तांबे के इस्तेमाल का अनुमान लगाया जा सकता है।

दक्षिण-पूर्व राजस्थान

पुरातत्वविदों ने दक्षिण पूर्व राजस्थान के तीन ताम्रपाषाणयुगीन क्षेत्रों—अहर, गिलुन्द तथा बलथल—का अध्ययन किया है, जो वहाँ की बनास, बेरॉच तथा उसकी सहयोगी नदियों द्वारा जल प्राप्त करते थे।

नब्बे से अधिक अहर या बनास संस्कृति के स्थलों की संख्या है, जो उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा अजमेर, जयपुर तथा टोंक जिलों में और मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले में पायी गयी हैं। समान रूप से संस्कृतियों की गति दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व गिलुंद राजस्थान की ओर तथा बेरॉच एवं बनास की ओर उन्मुख थी। नदियों के किनारे अहर स्थल स्थित थे, जिनका आकार एक-दो एकड़ से लेकर दस एकड़ तक का था और दो भिन्न स्थलों के बीच की दूरी पांच से दस मील की थी। अहर संस्कृति की बड़ी विशेषता है-यहाँ के लोग तांबे की धातु-विद्या से परिचित थे। अहर में उपस्थित खनिज उरेहित मनका, लैपिस-लाजुली तथा रंगपुर जैसे आकर्षक लाल बर्तन इस बात को दर्शाते हैं कि इनका संबंध गुजरात स्थित हड़प्पा संस्कृति से रहा होगा। इस संस्कृति का विस्तार, मालवा की तरफ और दक्कन तक (जैसे अहर में महाराष्ट्र का जोरवे बर्तन) भी था। बहुत पहले अहर और गिलुंद की संस्कृतियों का उत्खनन (अहर 1953-54 और गिलंद 1959-60) हुआ था, किंतु हाल में उत्खनित बलथल (1994-98) ज्यादा साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

◆

इतिहास

बौद्धकालीन शिक्षण पद्धति का स्वरूप

एक विश्लेषण

अमर कुमार

शोध छात्र, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

प्राचीनकाल से शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रही है। महावीर और गौतम बुद्ध ने भी शिक्षा का माध्यम क्रमशः प्राकृत और पालि को बनाया। भगवान बुद्ध ने स्पष्ट रूप से बुद्धवचन को सक्काय निरूति अर्थात् मगधी भाषा में ग्रहण करने की अनुमति प्रदान किये थे। आधुनिक बुनियादी शिक्षा में महात्मा गाँधी ने भी शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा में शिक्षा देने की प्रेरणा दी। जिस प्रकार शिशु के शारीरिक विकास के लिए मातृभाषा का माध्यम सहज, सुबोध, बुद्धिगम्य और ग्राह्य होता है।[1] गौतम बुद्ध ने शिक्षा के प्रचार माध्यम में भाषा के महत्व को परखते हुए प्रचलित बोलचाल की भाषा मगधी को अपनाया। गुप्तकाल में जब संयुक्त भाषा की लोकप्रियता बढ़ी तो समानुकूल बौद्ध धर्मावलम्बियों ने संस्कृत भाषा को बौद्ध धर्म में प्रतिष्ठित किया। बुद्ध काल से लेकर सम्राट कनिष्क के शासन काल तक मगध और कौसल प्रदेश की बोलचाल की भाषा पालि ही बौद्ध शिक्षा का माध्यम बनी रही।

स्त्रोतों से पता चलता है कि शिक्षालयों में मूल रूप से मौखिक शिक्षा देने की प्रचलन था परन्तु लिपि के आविष्कार होने पर शिक्षालयों में वर्णमाला के माध्यम से नवसिखुआ भिक्षुओं को शिक्षा दी जाने लगी। निश्चित रूप से लिपि के विकास ने शिक्षा पद्धति को प्रभावित किया होगा।

मौखिक शिक्षा पद्धति

ब्राह्मण शिक्षा पद्धति की भाँति बौद्ध शिक्षण व्यवस्था में मौखिक शिक्षण पद्धति को महत्त्व दिया गया है। ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था में वेदों को सुनकर स्मरण रखने की परम्परा थी। जहाँ ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था में वेद, वेदांग शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरूक्त आदि पाठ्य विषय थे वहीं शिक्षा व्यवस्था के प्रारम्भ में केवल बुद्ध वचन ही पाठ्य विषय थे। इन बुद्ध वचनों का संकलन और सम्पादन 'त्रिपिटक' के रूप में अशोक के काल तक लगभग पूरा हो चुका था। अशोक ने अपने शासनादेश सम्बंधी अभिलेखों में त्रिपिटिक के कुछ ग्रंथों का आलेख किया है जो भाब्रु लेख में मिलता है।[2] कालांतर में अन्य बौद्ध ग्रंथ भी बौद्ध शिक्षा के लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण पाठ्य सामग्रियों में सम्मिलित हो गये। अभी भी ब्राह्मण धर्मानुयायियों के वेद की तरह त्रिपिटक भी अध्ययन और बौद्ध धर्म के प्रचार के दृष्टिकोण से सर्वोपरी थे। महावग्ग से ज्ञात होता है कि कोई भिक्षु जो पतिमोक्ख का नियम नहीं जानता था उसे नजदीक के भिक्षु से जानने की अनुशंसा थी। उसी तरह जो उपासक महत्वपूर्ण सुत्र जानना चाहता था वह जानकारी भिक्षु को आमंत्रित कर उसे सुनता था तथा याद करता था।[3] इससे प्रतीत होता है कि मौखिक शिक्षा का प्रचलन था। मौखिक शिक्षण पद्धति अनेक रूपों में प्रचलित थे। जिनमें कंठाग्रीकरन, प्रश्नोत्तर पद्धति, शंका समाधान, वाद-विवाद, व्याख्यान पद्धति आदि प्रमुख हैं।

कंठाग्रीकरण पद्धति

कंठाग्रीकरण पद्धति के प्रमाण ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था में पहले से ही मिलते हैं। यह विधि कम उम्र के ब्रह्मचारियों में लोकप्रिय थी। ऋषि-मुनियों और आचार्यों ने वेदों को छन्दों सहित कंठस्थ करनेवाले विद्वान 'क्षोत्रिय' कहलाते थे।[4] बौद्ध शिक्षा पद्धति ने भी कंठाग्रीकरण पद्धति का अनुसरण किया और सदियों तक बौद्ध धर्मावलम्बियों ने प्रभावशाली ढ़ंग से 'त्रिपिटक' को अपने जिह्वा पर जीवित रखा। बौद्ध स्त्रोतों से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम सिंहल शासक बहगामनी के शासनकाल में 'बुद्ध वचन' को लिपिबद्ध किया गया, तब तक कंठाग्रीकरण पद्धति ही शिक्षा के मूल पद्धति बने रहे। कंठाग्रीकरण का अभ्यास बौद्ध विहारों में विनयधर, सोत्रांतिक आदि किया करते थे। बौद्ध विहारों में आर्य चतुष्टय; अष्ठांगिक मार्ग, दस कुशल, दस अकुशल कर्म आदि बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांत का वाचन एवं स्मरण नियमित रूप से प्रब्रजित और उपसम्पन्न भिक्षु किया करते थे और पतिभोक्ख का पाठ पाक्षिक होता था। इसी कारण भिक्षुओं को लगभग ये सब कंठस्थ रहते थे। भिक्षुओं के अध्ययनशीलता तथा कंठाग्रीकरण के सम्बंध में मझिज्म पंचसूदनी में वर्णन मिलता है मझिज्म भाणक रेवात्थेर ने बीस वर्ष के पश्चात् भी बिना अशुद्धि के पूरा मझिज्मनिकाय मौखिक सुना दिया था।[5] पंपचसूदनी के अनुसार ऐसे उपदेश रात भर होते थे जिसे श्रवक बड़े चाव से सुनते थे इसके लिए गाँवों एवं नगरों में संस्थागार होते थे।[6] बौद्ध भिक्षुओं ने पवित्र धर्माग्रन्थों की सुरक्षा बौद्ध शिक्षाओं से अपने को अनुशासित करने तथा अपने ज्ञान गरिमा की वृद्धि के लिए कंठाग्रीकरण की पद्धति को प्रमुखता से अपनाए रखा। जब तक लिपि की लोकप्रियता ने आंशिक रूप से अपदस्थ न कर दिया।

प्रश्नोत्तर पद्धति

ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था तथा बौद्ध शिक्षा व्यवस्था दोनों में प्रश्नोत्तर पद्धति के प्रमाण उपलब्ध है। बौद्ध शिक्षा व्यवस्था में भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक- उपासिका बुद्ध से प्रश्न करते थे तथा बुद्ध उनका उत्तर देकर उनको संतुष्ट करने का प्रयास करते थे। ऐसे अनेक प्रश्न एवं उत्तर जीवन एवं धर्म से सम्बंधित त्रिपिटक में उद्धत हैं। उल्लेखनीय है कि धर्म साधकों ने त्रिपिटक एवं अन्य पवित्र ग्रंथों को सुरक्षित रखने के लिए प्रश्नोत्तर जैसे लोकप्रिय पद्धति का उपयोग किया। भारतीय शिक्षा पद्धति के अनुशीलन से पता चलता है कि वेद, वेदांग, उपनिषद, महाभारत और गीता जैसे ग्रंथों में प्रश्नोत्तर के द्वारा अनेक गुढ़ प्रश्नों का समाधान किया गया है।

उपनिषद में प्रश्नोत्तर की लम्बी परम्परा दृष्टिगोचर होती है। खासकर प्रश्नोपनिषद में तो जीवन और जगत के सम्बन्ध में गूढ़ प्रश्नों की बाहुलता है। बौद्ध धर्मग्रन्थों में भी प्रश्नोत्तर विधि के साक्ष्य मिलते हैं बुद्ध के समय गुढ़ प्रश्नों को रखा जाता था और वे उसका उचित उत्तर देने का प्रयास करते थे। आलवक सूत्र में आलवक यज्ञ बुद्ध से प्रश्न करता है-मनुष्य ओध को कैसे तैरता है, संसार रूपी समुद्र कैसे पार करता है, वह दुख का अतिक्रमण कैसे करता है और वह परिशुद्ध कैसे होता है? बुद्ध उसका उत्तर देते हुए कहते हैं- श्रद्धा से ओध को तैरता है, संसाररूपी समुद्र को अप्रमाद पार करता है, वीर्य दुख का अतिक्रमण करता है, प्रज्ञा से परिशुद्ध होता है।[7] जातक में भी बुद्ध ने वर्तमान एवं अतीत से सम्बंधित जीवन कथाओं का वर्णन प्रश्नोत्तर पद्धति से किया है। इन कथाओं के माध्यम् से नैतिक शिक्षण को रोचक बनाकर बौद्ध धर्मावलम्बियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था।[8] थेर-थेरी गाथाओं में भी प्रश्नोत्तर पद्धति के संकेत मिलते हैं जिसमें अनेक थेर एवं थेरी के अतीत और वर्त्तमान जीवन से सम्बंधित कथायें है। रोहिणी और उसके पिता के संवाद बौद्ध संघ से सम्बंधित प्रश्नोत्तर रूप में है। रोहिणी से जब उसके पिता पूछते है कि श्रवण जन तुझे इतने प्रिय क्यों है? तो वह कहती

है- वे श्रमणशील है श्रेष्ठ कर्म करने वाले हैं, प्रिय हैं।[9] इस तरह विभिन्न स्त्रोतों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्रश्नोत्तर पद्धति के द्वारा विषय-वस्तु को समझने में सुविधा होती थी इसलिए बौद्ध शिक्षा का माध्यम, इस विधि को भी बनाया गया इसके माध्यम से त्रिपिटक से लेकर परवर्ती बौद्ध साहित्य को सुरक्षित रखा गया।

वाद-विवाद पद्धति

इस पद्धति को शास्त्रार्थ पद्धति भी कहा जाता है। बौद्ध धर्म में ब्राह्मण शिक्षा पद्धति की तरह वाद-विवाद विधि काफी लोकप्रिय थी। इसके तर्कशैली को महत्व दिया जाता था। बुद्ध का अधिकांश समय शास्त्रार्थ में बीता था। उन्होंने अलारकलाम पुरणकस्सप, मक्खलिगोसाल, निगण्ठनाथ आदि अनेक आचार्यो से वाद-विवाद किया था जिसका उल्लेख सुत्तनिपात में है।[10] वाद-विवाद के क्रम में दुसरे सम्प्रदाय के विचारों की बड़ी तीव्रता के साथ खण्डन कर अपने विचारों की उच्चता स्थापित कर अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करते थे। हलाँकि बुद्ध ने अनुयायियों को इस प्रकार के व्यर्थ विखण्डावाद के व्यूह में फँसने का निरोध करते हुए चेतावनी दी है। बुद्ध की शास्त्रार्थ को सत्य की तलाश का माध्यम मानते थे न कि आपसी कटूता या कलह का।[11]

वाद-विवाद की शिक्षा-शिक्षालयों में विद्यार्थी के वक्तृत्व-शक्ति के विकास के लिए दी जाती थी। धार्मिक वाद-विवादों के लिए बौद्ध साहित्य में 'संस्थागार' 'कुटागार शाला' का उल्लेख है। वाद-विवाद पद्धति पर मैत्रेय द्वारा रचित सप्तदश भूमिशास्त्र योगाचार्य से इस पर काफी प्रकाश पड़ता है जिसका 44 ई. में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ जो पंद्रह खण्डों में विभक्त है।[12] इस शास्त्रार्थ पद्धति के द्वारा धर्म का प्रचार तो होता ही था साथ ही वाद-विवाद भिक्षु-भिक्षुणियों में सत्यान्वेषण की प्रवृति का भी विकास होता था। सत्य का अन्वेषण वस्तुत: बौद्ध धर्म का मूलाधार है।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषणोपरांत ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ काल से आलोच्य काल तक वाद विवाद पद्धति बौद्ध शिक्षण व्यवस्था का मूलाधार था। क्योंकि शास्त्रार्थ के द्वारा न केवल पाठ्य विषय को प्रस्तुत करने की सुविधा थी बल्कि विषय का खुलासा भी होता था और भिक्षु-भिक्षुणियों को सम्बंधित विषय में आत्मविश्वास भी पैदा होता था।

शंका समाधान पद्धति

धर्मयात्रा के क्रम में गौतम बुद्ध अपने अनुयायियों द्वारा प्रस्तुत शंकाओं का समाधान करते हुए जीवन और जगत के सम्बंध में अनेक उपयोगी तथ्यों का सोदाहरण समाधान किया जिससे भिक्षु-भिक्षुणियों का काफी ज्ञार्नाजन हुआ। शंका समाधान के माध्यम से नीवन तथ्यों की जानकारी होती थी। शिक्षण के क्षेत्र में शंका समाधान सत्यानुवेषी प्रवृति का पुष्टपोषक रहा है। सुत्तनिपात में गौतम के शिष्यों द्वारा अनेक शंकायें प्रस्तुत की गई हैं और उन्होंने इसका बड़ी ही शालीनतापूर्वक समाधान किया है। समियसुत्त[13] में शंका समाधान किया गया है।

सुत्तपिटक के दीर्घ, मज्झिम और अंगुतर निकाय में महापदान सुत्त जो बुद्ध और आनन्द के मध्य, नाम, रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार के सम्बंध में शंका और समाधान के माध्यम से बौद्ध दर्शन के गहन सिद्धांतों का अन्वेषण है।[14] सेलसुत्त[15], राहुलोवाद सुत्त[16] सदृश अनेक सुत्तो में बुद्ध के शिष्यों अतिरिक्त उपासक-उपासिकाओं द्वारा भी शंकाएँ उपस्थित की गई है और उनका बुद्ध ने समाधान किया हैं। वस्तुत: शंका समाधान पद्धति प्रश्नोत्तर पद्धति ही है अन्तर सिर्फ इतना है कि इसमें नये चीजों को उपस्थित किया गया हे।

परीक्षा पद्धति

ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था की भाँति बौद्ध शिक्षा व्यवस्था में भी परीक्षा पद्धति थी परन्तु परीक्षा आज की तरह लिखित नहीं होती थी। प्रव्रजित भिक्षु की अनेक तरह से परीक्षा ली जाती थी। उसके आचार व्यवहार की परख विनयपपिटक में उल्लिखित नियमों के आधार पर होती थी। अत: परीक्षा पद्धति मुख्य रूप से मौखिक ही होती थी। नालंदा विश्वविद्यालय में प्रवेश परीक्षा की व्यवस्था थी जो काफी कठिन था। प्रतियोगियों में दस में से मात्र दो या तीन छात्र ही नामांकन योग्य समझे जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी का जीवन प्रव्रज्या से उपसम्पदा तक एक लम्बी परीक्षा की अवधि थी। भिक्षु-भिक्षुणियों के बौद्धिक विकास तथा चारित्रिक उपलब्धि की परीक्षा होती होगी। बहुत से विषयों में ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था की तरह प्रायोगिक परीक्षा भी ली जाती थी। विनय पिटक में उल्लेख है कि जीवक कुमार भ्रत्य औषधि विज्ञान, बाल्य चिकित्सा और रोग निदान के छात्र थे। आचार्य ने उन्हें ऐसे पौधे को ढूंढ लाने का आदेश दिया जो औषधि की दृष्टि से अनुपयोगी हो।[18] इस तरह परीक्षा पद्धति के द्वारा शिष्यों के मानसिक स्तर और बौद्धिक ज्ञान की परीक्षा ली जाती थी और उसे संघ व्यवस्था में उचित स्थान दिया जाता था।

संदर्भ सूची

1) कपाडिया; एच०आर०; जैव सिस्टम ऑफ एजुकेशन पृ० 227
2) भाब्रु शिलालेख
3) महावग्ग II-17.5.6
4) पाणिनी-अष्टाध्यायी-5.2.84
5) पपंचसूदनी, भाग-2-पृ०-91
6) पपंचसूदनी, भाग-2, पृ० 294
7) सुत्तनिपात, आलवक सुत्त- पृ. 3-4
8) जातकट्ठ कथा-भाग-1 पृ०-1
9) थेरी गाथाएँ, गाथा-67 पृ० संख्या-272-275
10) सुत्तनिपात, समियसुत्त-32
11) वही, सारिपुत्रसुत्त-32
12) वाटर्स, युआनच्वांग जिल्द-1 पृ० 355-56
13) सुत्तनिपात, समियसुत्त-513-517
14) महापदान सुत्त, दीर्घनिकाय
15) मज्झिम निकाय-2.5.3
16) वही 2.1.2, राहुलोवाद सुत्त -पंच धातुओं के सम्बंध में राहुल और बुद्ध के बीच शंका समाधान।
17) वाटर्स- ह्वेन्सांग 11-पृ. 165
18) विनयपिटक पृ.-266-74
19) रीज डेविड्स; बुद्धिस्ट-पृ. 199

◆

इतिहास

1934 का भूकम्प, चम्पारण और राजनीतिक सरोकार

राजकिशोर कुमार

बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

बिहार के इतिहास में 1934 का भूकम्प एक बड़े ही त्रासद अध्याय का सृजन करता है। 15 जनवरी को अपराहन् 2 बज कर 15 मिनट पर आये इस भूकम्प[1] ने 30 हजार वर्ग किलोमीटर भूमि को उजाड़ बना दिया जान माल की भारी क्षति हुई इस समय थोड़ी मानवता का परिचय देते हुए सरकार ने श्री राजेन्द्र प्रसाद को जेल से मुक्त कर दिया एवम् उन्होने 17 जनवरी को अन्य सहयोगियों से मिलकर एक अनाधिकार 'बिहार सेन्ट्रल रिलीफ कमेटी' की स्थापना की तथा बिहार में भूकम्पजन्य परिस्थितियों की सूचना महात्मा गाँधी को 21 जनवरी को तार से दी[2]।

महात्मा गाँधी 11 मार्च की शाम पटना पहुँचे। बिहार में भूकम्प से आयी त्रासदी एवम् अनाधिकारिक राहत कार्य का जायजा लेते हुए 14 मार्च को मोतिहारी पहुँचे। उनकी इस यात्रा से चम्पारण की संत्रस्त जनता में नव-उत्साह का संचार हुआ। जनता को राहत पहुँचाने के उद्धेश्य से पंडित प्रजापति मिश्र की अध्यक्षता में एक 'सेन्ट्रल रिलिफ फन्ड' की स्थापना की गई।

उल्लेखनीय होगा कि 'इलाहाबाद अर्थ क्वेक रिलिफ कमेटी' के आग्रह पर इसके पूर्व 12 फरवरी को ही पंडित जवाहर लाल नेहरू चम्पारण आ चूके थे।[4] देश भर में बड़ी संख्या में कांग्रेसी स्वयं सेवक जिनमें कुछ प्रमुख नेता भी शामिल थे चम्पारण पहुँच चुके थे। 'बिहार सेन्ट्रल रिलिफ कमेटी' का 'सेन्ट्रल रिलिफ कमेटी' के रूप में पूर्णगठन किया गया जिसके साथ अनुसंगी संगठनों के रूप में कई राहत संस्थाएँ जुट गई[5]। 'सेन्ट्रल रिलिफ कमेटी की शाखाएँ प्राय: सभी भूकम्प ग्रस्त जिलों में खोली गई।

गाँधी जी के साथ सुश्री म्यूरियेल लेस्टर, सुश्री हाँग, मीरा बहन, श्री राजेन्द्र प्रसाद तथा श्री कृष्ण वल्लभ सहाय भी बरास्ता लालगंज हाजीपुर एवं केसरिया रात्रि के आठ बजे मोतिहारी पहुँचे।[6] 15 मार्च के प्रात: काल गाँधी जी ने श्री विपिन बिहारी सिन्हा तथा पंडित प्रजापति मिश्र के साथ सदल-बल सदर मोतिहारी तथा ढाका थाना क्षेत्रों की स्थिति का मुआयना किया। 'बिहार सेन्ट्रल रिलिफ कमेटी' की पकड़ीदयाल तथा फेनहरा का निरीक्षण किया। दोपहर में उन्होने मोतिहारी में घूम कर भुकम्प से आयी तबाही देखी[7]।

इस अवसर पर गाँधी जी ने जिलेवासियों को संदेश दिया था कि यह अवसर बाते करने का नहीं तथा फिर भी वे दो बातें कहना चाहते थे। पहली बात यह थी कि 'रिलिफ कमेटी' के पास पैसा था एवम् उसे या तो भिखारी ले जाते अथवा मेहनतकश मजदूर। गाँधी जी चाहते थे कि चम्पारण की जनता भिखारी नहीं बने। वह राहते कार्यो में श्रम करें और रिलिफ कमेटी से पारिश्रमिक लें।

दूसरी बात उन्होने कही की अब वह समय आ गया है, जब अस्पृश्यता का भाव छोड़ कर राहत कार्यो में सभी जातियो के लोग एक जुट होकर कार्य करें।[8]

संध्या प्रार्थना के पश्चात् गाँधी जी ने विभिन्न राहत संगठनों के प्रतिनिधियों से, जिनमें सरकारी पदाधिकारी भी शामिल थे, राहत कार्यो की जानकारी ली। उन्होनें कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं से आग्रह किया कि वे राहत-कार्यो में सरकारी संस्थाओं के साथ सहयोग करें। अगली सुबह गाँधी जी अपने सहयोगियो समेत मुजफ्फरपुर के लिए रवाना हो गये।[9]

चम्पारण की जनता ने पंडित जवाहर लाल नेहरू को अपने बीच एक स्वयं सेवक के रूप में देखा उनकी प्रेरणा से सुगौली कांग्रेस कमेटी ने भूकम्प राहत का कार्य अपने हाथों मे लिया। पंडित राजा जी झा इस राहत समिति के अध्यक्ष बनाये गये।[10] इस समिति ने राहत कार्यो में अपूर्व संलग्नता दर्शायी। इस समिति से जुड़े अन्य महत्वपूर्ण लोग थे- पंडित सुखम मिश्र, पंडित नीलकण्ठ झा, पंडित गोकुल ठाकुर एवम् पंडित रामजी झा इत्यादि। इस समिति ने प्रभावित जनता के बीच वस्त्र, अन्न तथा पैसों का वितरण किया।

इन सब का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस संगठन अब अपने कार्यो के द्वारा जनता के निकट आया एवम् बड़ी संख्या में आम जनता कांग्रेस से जुड़ी। चम्पारण में एक लोक गीत बड़ा प्रचलित हुआ, जिसका मुखड़ा था-

गाँधी बाबा जोगिया,
जवाहर बैरगिया,
राजेन्द्र बाबू ना,
भईले साधू रे फकीरवा।

'बिहार सेन्ट्रल रिलिफ कमेटी' के चम्पारण में 41 केन्द्र थे, जिनमे से 34 मोतिहारी तथा 07 बेतिया अनुमंडल में थे।[11] जिले के 20 थानो में 13 को भुकम्पग्रस्त घोषित किया गया था। पंडित प्रजापति मिश्र चम्पारण में राहत कार्यो का संचालन कर रहे थे। सभी 41 केन्द्रो पर स्थानीय कार्यकर्त्ता राहत कार्यो का संचालन करते थे। कुछ स्वयं सेवक गुजरात, बम्बई, मद्रास एवं अन्य प्रान्तों से भी आये थे।[12] कार्यकर्त्ताओं में अधिसंख्यक कांग्रेस से थे। राहत कार्यो पर इस रिलिफ कमेटी ने चम्पारण में कोई दो लाख रूपये व्यय किये।

मोतिहारी की हिन्दु सभा ने मई 1934 के मध्य से सामान्य राहत कार्य से अपने को खीच लिया तथा अब वह भुकम्प में क्षतिग्रस्त हुए हिन्दु धार्मिक स्थलों का पुनर्निर्माण कराने लगी।[13] इसी बीच श्री विपिन बिहारी वर्मा ने मित्रों के दबाब के आगे उत्तरी तिरहुत के गैर मुस्लिम सीट से चुनाव लड़ना स्वीकार कर लिया। वे लंदन से बार एट लॉं थे, उन्हें संसदीय पद्धति का ज्ञान था। वे एक बार बेतिया नगर पालिका तथा छः बार चम्पारण जिला परिषद् के अध्यक्ष रह चूके थे एवं 1922 से ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे। उनकी उम्मीदवारी का सर्मथन मुजफ्फरपुर के कांग्रेस जनो ने भी किया।[14]

वायसराय के राहत-कोश से भुकम्प में क्षतिग्रस्त मकानों की मरम्मत के लिए रूपया 05 से रु. 20 की सहायता राशि स्थानीय पटवारियों एवम् तहसीलदारों का सिफारिश पर दी जा रही थी। किन्तु इसमें पटवारियों एवं तहसीलदारों द्वारा पक्षपात किये जाने की बात सामने आयी थी।[15] हिन्दु सभा, मोतिहारी ने महासभा के सहयोग से कोई पचास भुकम्प पीड़ित परिवारो को बंगाल प्रान्त से पुर्नवासित कराया।

हिन्दु सभा हिन्दु युवकों को सिलाई सहित कई अन्य सिल्कों का प्रशिक्षण अपने खर्च पर दिलाया। मरवाड़ी रिलिफ सोसाईटी ने 23 जनवरी 1934 को चम्पारण में राहत कार्य प्रारम्भ किया। इस संगठन में पंडित परमानन्द पाण्डेय के निर्देशन में कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षण दिलवाया। इस समिति ने दलितों के लिए एक अध्ययन की बस्ती 'हरिजनपुरी' का मोतिहारी में निर्माण किया जिसका उद्‌धाटन सेठ जमना लाल बजाज ने एक भव्य समारोह में 11 जुलाई 1934 को प्रात: 08:00 बजे किया।[16] हरिजन पाठशाला भी खोली गई।[17]

इस अवसर पर प्रसन्नचित्त श्री राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि महात्मा जी के शिक्षाओं के फलस्वरूप प्रेम से अस्पृश्यता निवारण का यह प्रयास विह्वलकारी एवं प्रेरणादायक है।[18]

यह आलेख इतना तो अवश्य स्पष्ट करता है कि चम्पारण में 1934 के भूकम्प के बहाने से राष्ट्रीय चेतना का विकास और तेजी से हुआ। इस प्रकार राष्ट्रीय नवनिर्माण में चम्पारण ने और प्रकारांतर से बिहार ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

संदर्भ

1. दत्ता, के. के., गाँधी जी इन बिहार पृष्ठ 135
2. वही, पृष्ठ 136
3. वहीं, पृष्ठ 136
4. नेहरू, जवाहर लाल, ऑटोवायेग्राफी, पृष्ठ संख्या 487
5. चौधरी, पी. सी. राय, चम्पारण बिहार डिस्ट्रीक गजेटीयर, पृष्ठ 94
6. प्रसाद, राजेन्द्र, डिबास्टेड बिहार, द प्रॉब्लम ऑफ रिकन्स्ट्रक्सन
7. दत्ता, के. के. गाँधी जी इन बिहार, पृष्ठ 141
8. वहीं
9. तेन्दुलकर, डी. जी., गाँधी इन चम्पारण, पृष्ठ 112
10. दत्ता, के. के. गाँधी जी इन बिहार, पृष्ठ 142
11. झा, आर. सी. स्वाधीनता समर में सूगौली, पृष्ठ 52-53
12. वहीं
13. वहीं
14. द इण्डियन नेशन 31 मई 1934
15. वहीं
16. द इण्डियन नेशन, 03 जून 1934
17. द इण्डियन नेशन, 15 जून 1934
18. द इण्डियन नेशन, 15 जुलाई 1934

◆

इतिहास

प्राचीनकालीन मिथिला समाज में दास व्यवस्था

राकेश कुमार झा

शोध छात्र, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

दास प्रथा मानव जाति के इतिहास में प्राचीनतम संस्थाओं में से एक है। पुराकालीन सभी देशों और तथाकथित उन्नत एवं सभ्य राष्ट्रों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में दास प्रथा एक स्थायी प्रथा के रूप में प्रचलित थी। बेबीलोन मिश्र, यूनान, रोम आदि राष्ट्रों की तरह मिथिला में भी दास प्रथा विद्यमान थी। संभवत: दासता का उदय इतिहास के बर्बर युग में हुआ और तब से सबल पगों से वह निरंतर चली आ रही है। बर्बरकाल से ही मानव समाज में शोषक और शोषित दो वर्ग रहे हैं। और शोषण के रूप में ही दास-प्रथा का विकास हुआ। डॉ० उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि शोषित प्राचीन जगत में दास प्रथा के रूप में जन्मा, मध्यकाल में वह सामंतों के भूदासों के रूप में पोषित हुआ, वही वर्त्तमान युग में श्रमजीवियों के रूप में जीवित है। सभ्यता के तीन युगों में दासता के तीन कलेवर बदले। रूप बदलते गये, परंतु नग्न अथवा ढ़की दासता इन अनविच्छिन त्रैकाव्रिक शोषण का आधार बनी रही।[1]

दास प्रथा मिथिला के सामाजिक और आर्थिक जीवन में भी अति प्राचीन काल से ही एक मान्यता प्राप्त संस्था के रूप में विद्यमान रही है। मिथिला में भी दासत्व की उत्पत्ति सामाजिक और आर्थिक लाभ के लिए एक जाति के लोगों के द्वारा दूसरी जाति के लोगों को युद्ध में बंदी बनाये जाने से हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि जब पशुपालन, खेती, घरेलु हस्तकारी सभी शाखाओं में उत्पादन का विकास हुआ तो मानव श्रम शक्ति को कायम रखने में जितना खर्च होता था, उससे अधिक वह पैदा करने लगा। अब पहले की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति के कार्य भी बढ़ गये, जिसे पूरा करने के लिए अतिरिक्त श्रम शक्ति की आवश्यकता हुई और इसके लिए युद्ध में बंदी बनाये गये लोगों को दास बनाया जाने लगा! इस तरह मानव की पूँजीवादी प्रवृत्ति ने श्रम की उत्पादन शक्ति को बढ़ाकर आर्थात श्रम में वृद्धि करके उत्पादन के वेग का विस्तार करके लाजिमी तौर पर समाज में दास-प्रथा को ले आया!

मिथिला के जन-जीवन में दासता का इतिहास हम जनक युग से ही पाते हैं! बृहदारण्यक उपनिषद में उल्लिखित है कि याज्ञवल्क्य से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के पश्चात राजा जनक ने उनसे कहा, "मैं श्रीमान को विदेह देश देता हुँ! साथ ही, आपकी दासता के लिए अपने को समर्पित करता हुँ"।[2] .वैदिक काल में दास प्रथा इतनी मजबूत थी कि ब्राह्मण ऋषि भी इसके लाभ में पीछे नहीं थे। याज्ञवल्क्य के समकालीन और गुरू उद्दालक आरूणि ने पांचालों की परिषद में स्पष्ट कहा कि–मेरे पास स्वर्ण, गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्रों की कमी नहीं है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि भारत आने पर आर्यों और अनार्यों के संघर्ष हुए जिनमें अनार्यों की पराजय हुई तथा पराजित और बंदी आर्य

तत्कालीन समाज में दास के रूप में स्वीकृत किये गये! किंतु ऋग्वेद में दास और दस्यु दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। और दोनों शब्द शत्रु के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद में एक मंत्र से विदित होता है कि आर्यों और अनार्यों का भीषण संघर्ष हुआ था, जिसमें आर्यों ने इंद्र की स्तुति की थी- "हमें सब ओर से दस्यु घेरे हुए हैं। वे यज्ञ कर्म नहीं करते, न वे किसी वस्तु को मानते है, उनके व्रत हमसे भिन्न है, वे मनुष्यों जैसा व्यवहार नहीं करते! हे शत्रुनाशक, तू उनका वध कर और दासों का विनाश कर।" इंद्र के बारे में यह भी कहा गया है कि उसने दस्युओं को सभी अच्छे गुणों से वंचित रखा है और दासों को अपने वश में किया।[4] इससे पता चलता है कि दास और दस्यु पर्यायवाची नहीं थे और आर्य दस्यु का विनाश निर्ममतापूर्वक करते थे पर दासों के प्रति उनकी नीति नरम थी।

डॉ० शर्मा का विचार है कि दास संभवत: उन मिश्रित भारतीय आर्यों के अग्रिम दस्ते थें जो इन आर्यों से कुछ समय पूर्व भारत आए। शायद इसी कारण आर्यों ने दासों के प्रति मेल-मिलाप की नीति अपनायी और दिवोदास, वलवुथ और तरूक्ष जैसे उनके सरदार आर्यों के दल में आसानी से आत्मसात किये जा सके। अंर्तजातीय संघर्षो में अधिकतर आर्यों के सहायक के रूप में दास शब्द का प्रयोग भारत के आर्येत्तर निवासियों के बीच नहीं बल्कि भारतीय आर्यों से सम्बद्ध लोगों के बीच प्रचलित था। ऋग्वेद के उत्तरवर्तीकाल में दास शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होने लगा जिससे न केवल मूल भारोपीयों दासों के वंशजों बल्कि दस्यु और राक्षस जैसे आर्य पूर्व लोगों और आर्य समुदाय के उन सदस्यों का भी, जो अपने आंतरिक संघों के कारण अकिंचनता या गुलामी की स्थिति में पहुंच गये थे, बोधा होता है।[5] दास शब्द चाहे आर्यों के अग्रिम पराजित दस्ते के लिए प्रयुक्त हुए हो अथवा पराजित आर्यों के लिए, इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन पराजित लोगों ने आर्यों की अधिनता स्वीकार कर ली थी, वे दास के रूप में आर्यों की सेवा में रत हो गये थे। के० दामोदरन का विचार है कि दास शब्द मूलत: जिसका अर्थ शत्रु है, नौकर के अथवा गुलाम के अर्थ में उस समय इस्तेमाल होना शुरू हुआ, जब आर्यों ने अपने पूर्व निवासियों को पराजित कर अपना दास बना लिया।[6] डॉ० वाशम का विचार है कि दास शब्द का मूल अर्थ भारत में आर्यों के प्रथम आक्रमणों के फलस्वरूप विजित जातियों के एक सदस्य से था। कुछ समय पश्चात नि:संदेह इसका गौण आशय यह निकला कि युद्ध भूमि में बंदी बनाये हुए अनेक दासों को सेवक बना लिया जाता था तथा यहीं पर हम संभवत भारतीय दासता का मूल पाते ह।[7]

इस तरह स्पष्ट है कि युद्ध में पराजित लोगों को आर्य विजेताओं ने अपना दास बना लिया और बाद में क्रमश: उन्होने समझा होगा कि पुरानी संस्कृति के किसानों से श्रमिकों का काम लिया जा सकता है और उनसे कृषि कार्य कराया जा सकता है। साथ ही कालांतर में उन्होंने अपनी अशक्य और संपत्तिहीन जनजातियों से भी श्रमिकों का काम लेना शुरू किया होगा और इसी आधाार पर संपूर्ण प्राचीन भारत और मिथिला समाज में दास प्रथा का प्रादुर्भाव और विकास हुआ।

प्राचीन ग्रंथों में कई प्रकार के दास बताये गये हैं। कौटिल्य, मनु और नारद आदि के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में ध्वजाहृत दास; (जो युद्ध में बंदी होने के कारण दासता स्वीकार करते थे) पैत्रिक दास; (परंपरागत दास) आत्मव्रिक्रयी दास; (जो परिस्थितिवश अपने को बेचकर दासता स्वीकार करते थे) उदर दास; (जो अपना पेट पालने के लिए अपने को बेच देते थे) प्रेक्षपानुरूप दास; (जो अपने आप को बंधक रखकर धान लेते थे) दंड दास; (दंड या ऋण आदि न चुका सकने के कारण) गृहज दास; (दासी पुत्र), स्वंय दासता ग्रहण करने वाला, एक निश्चित समय के लिए अपने आप को दास बनाने वाला, दासी के प्रेम-पास में फंसकर अपने को

दास बनाने वाला आदि दासों का अस्तित्व था।[8] दासों के ये प्रकार मिथिला के प्राचीन समाज में अवश्य रहे होंगे! किंतु दासों का आधार भी वर्णगत था। याज्ञवल्क्य और नारद ने स्पष्ट कहा है कि वर्ण के आधार पर और उसके अनुसार ही व्यक्ति अपने स्वामी का दास बन सकता था। ब्राह्मण के क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दास हो सकते थे, क्षत्रिय के वैश्य और शूद्र और वैश्य के केवल शूद्र। किंतु बाह्मण अपने से निम्न तीनों वर्णों का दास नहीं हो सकता था और न वैश्य अपने से निम्न वर्ग का।[9] कात्यायन का कथन है कि ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का दास नहीं हो सकता अगर वह किसी ब्राह्मण का दास बनना ही चाहता है तो वह वैदिक अध्ययन जैसे स्वच्छ कर्म को ही अपनाये, अस्वच्छ कर्म को नहीं।[10] इन विधि–विधानों से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि विशेष परिस्थिति में द्विज भी दास हो सकते थे। किंतु किसी भी हालत में ऐसे लोगों की संख्या अधिक नहीं रही होगी! अधिकांश दास शूद्र वर्ण के होते थे। ऋण क्रय अपनी स्वंय की इच्छा और भय से उत्पन्न दासता की उम्मीद उच्च वर्णो की अपेक्षा निम्न वर्णो से ही अधिक की जा सकती है।[11]

मिथिला के प्राचीन समाज में भी जनक युग से ही दासों का प्रधान कर्म था उच्च वर्णो की सेवा करना। वे विभिन्न प्रकार के सेवा कार्य से अपने स्वामी को प्रसन्न रखने का प्रयास करते थ। प्राय: दासों से कृषि, पशुपालन और घरेलू काम लिया जाता था! जातकों से पता चलता है कि वे खेत, कर्मशाला या दूकान में काम करते थे, कुएं, जलाशय आदि से पानी लाने का काम करते थे, बर्त्तन धोने तथा धान सुखाने का भी काम करते थे! नारद के अनुसार, दासों को गृह के द्वार, मार्ग और पहाड़ी आदि को साफ करने में, शरीर के गुह्यांगों की सफाई करने में, मूत्रादि फेंकने में लगाना चाहिए। स्वामी अगर चाहे तो अपने शरीर की सेवा में भी उसे संलग्न कर सकता है।[12] सब्जी काटना, फर्श सफाई, झाडू लगाना, गाय, बैल और बकरी चराना, घास काटना, अनाज निकालना आदि अनेक प्रकार की पारिवारिक सेवाएं दास किया करते थे।

आज भी मिथिला के उच्चवर्गीय परिवारों में नौकर, ख्वास, चरवाहा, हरवाहा आदि के रूप में दासत्व को देखा जा सकता है।[13] दासों के प्रति किया जाने वाला व्यवहार प्राय: उनके स्वामियों के स्वभाव पर निर्भर करता था। भारतीय साहित्य में दासों के प्रति होने वाले अच्छे एवं बुरे अनेक प्रकार के व्यवहारों के दृष्टान्त है, जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है। वेस्सन्तर जातक के अनुसार, एक ब्राह्मण स्वामी अपने दास और दासियों को अतिशय कष्ट दिया करता था।[14] अंगुत्तर निकाय के एक संदर्भ से विहित है कि हृदयहीन और क्रूर स्वामी के दण्ड से दास–दासिया सर्वदा डरा करती थी और वे अश्रुपूरित नेत्रों से रोया करती थी।[15] मनु जैसे स्मृतिकारों ने भी दासों के अपराध करने पर रस्सी अथवा बाँस की छड़ी से पीटने की बात कही है।[16] इसके विपरित जातक कथाओं से ऐसे भी दृष्टांत मिलते हैं कि अपने दासों के लिए गृहस्वामी भोजन और वस्त्र उचित प्रबंध करते थे। घरेलू दास प्राय: अपनी पत्नी अपने बच्चों के साथ अपने स्वामी के घर में ही रहते थे। कटाहक नामक दास की एक कथा एक जातक में दी गई है, जो अपने स्वामी के पुत्र के साथ ही पला, बड़ा हुआ और उसी के साथ शिक्षा प्राप्त की। वह दो या तीन शिल्पों में भी पारंगत हुआ। बाद में वह उस श्रेष्ठि के घर में भण्डागारिक बना दिया गया।[17] उद्दालक जातक से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण राजपुरोहित का प्रेम संबंध एक दासी से हो गया और उससे उत्पन्न पुत्र उद्दालक अत्यन्त ज्ञानी और तपस्वी हुआ।[18] सुंदर दासियों से कभी–कभी स्वामी विवाह भी कर लेते थे।

वस्तु स्थिति जो भी हो, इतना तो मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारत के अन्य प्रदेशों की तरह मिथिला में भी दासों की स्थिति पाश्चात्य दासों की तुलना में अत्यन्त उच्च एवं मानवीय थी। यही

कारण है कि मेगास्थनीज जैसे विदेशी लोगों को भी भारत में दासत्व का अनुभव नहीं हुआ।[19] भारत के साथ-साथ मिथिला में दासों के साथ मानवीय और सहृदयतापूर्वक व्यवहार किया जाता था। प्राचीन व्यवस्थाकारों ने भी दासों के प्रति अन्मुक्त मस्तिष्क और निर्मल हृदय के साथ विचार किया है। कौटिल्य ने लिखा है कि यदि कोई आर्य जाति का व्यक्ति आत्म विक्रय करके अपने आप को दास बना ले, फिर भी उसकी संतान आर्य कहलाएगी। वह आत्मविक्रयी आर्यस्वामी के कार्य की हानि न करके यदि स्वंय कुछ धन उपार्जित कर ले तो वह धन तथा पैत्रिक संपत्ति प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार दासता का मूल्य चुकाकर वह फिर से आर्य बन जायेगा जो धनिक व्यक्ति उचित निष्क्रय मूल्य पाकर भी दास को आर्यत्त्व न प्राप्त करने दे, उसे बारह पण दण्ड दिया जाय। यदि वह बिना कारण दास को न छोड़े तो उसे कारावास दण्ड दिया जाय।[20]

दिघीनिकाय के अनुसार, दास तीन स्थ्रितियों में मुक्त हो सकता है-या तो वह सन्यास ग्रहण करले, या स्वामी द्वारा मुक्त कर दिया जाय या शुल्क अदा कर दे।[21] जातकों में ऐसा भी उल्लेख है कि स्वामी द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर उसके समस्त दास मुक्त कर दिये जाते थे।[22] नारद के अनुसार अगर स्वामी किसी भयंकर खतरे से दास द्वारा बचा लिया जाता था तो वह दास मुक्ति प्राप्त कर लेने का अधिकारी होता था।[23] याज्ञवल्क्य ने यह व्यवस्था दी है कि जो स्वंय दासत्व स्वीकार करता है या युद्ध भूमि में बंदी बनाया जाता था, वह अपने स्वामी को धन प्रदान करके मोक्ष प्राप्त कर सकता था। पुरानी व्यवस्थाओं को मिथिला के महान विद्वान वाचस्पति मिश्र ने भी स्वीकार किया है और दासों के मोक्ष के प्रति अपनी कोमल भावनाओं को प्रकट किया है।[24]

उपयुर्क्त पंक्तियों से इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन काल में दासत्व वैद्यानिक कर्म समझा जाता था और एक श्रम प्रणाली के रूप में दास प्रथा की वैधता पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया गया था। वे खरीदे और बेचे जा सकते थे, उन्हें उपहार में दिया जा सकता था और उन्हें बंधक रखा जा सकता था। मिथिला में दास प्रथा इस रूप में जड़ जमा चुकी थी कि न तो किसी प्राचीन सरकार ने और न किसी धार्मिक संस्था ने इसे समाप्त करने की दिशा में पहल की। यहाँ तक कि कई शताब्दियों तक प्राचीन भारतीय समाज को अपने मानववादी विचार से प्रभावित करने वाले बौद्ध एवं जैन धर्म ने भी इस प्रथा को भंग करने के संबंध में कोई शब्द न कहे। अहिंसा के समर्थक और बौद्ध धर्म को मानने वाले सम्राट अशोक ने भी लोगों से दासों और भृत्यों के साथ मात्र उचित व्यवहार करने की बात कही।[25]

संदर्भ सूची

1. भ.श. उपाध्याय-भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ.-219-20
2. वृहद् उप.-4/4/23
3. वृहद् उप.-6/4/7
4. ऋग्वेद -10/22/8, 4/28/4
5. शर्मा- शूद्रों का प्रारंभिक इतिहास, पृ. 18-19
6. के. दामोदरन-भारतीय चिंतन परंपरा पृ. 19
7. ए. एल. वाशम- अदभुद भारत, पृ. 125
8. अर्थ० 2/3, मनु० 8/4/15
9. याज्ञ० 2/1/83, नारद० 5/38-39

10. कात्या० 5/722
11. शर्मा- शूद्रों का प्रारंभिक इतिहास, पृ. 88
12. नारद-6/7
13. मो० अकीक- इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ. 104-05
14. अंगुत्तर निकाय-2,पृ. 207-08
15. मनु० 2/299
16. जातक-1, पृ. 451
17. डा० जयशंकर मिश्र- प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 191
18. ए० एल० वाशम- अदभुद भारत, पृ. 125
19. अर्थ० 3/13
20. दीधिनिकाय-1/60-61
21. जातक स०-532
22. नारद-5/31-34
23. याज्ञ०-10/32
24. विवादचिन्तामणि-6, पृ०-293-96
25. मो० अकीक-इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ.-106

◆

इतिहास

वैदिक युग में स्त्री शिक्षा का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० अवध पटेल

किसी भी समाज का आर्दश उसकी शैक्षणिक-व्यवस्था एवं परम्पराओं में ही प्रतिबिम्बित होती है। अत: समाज के किसी विशेष कालावधि के संस्कृति का ज्ञान उस समाज के शैक्षणिक परंपरा एवं शिक्षण- संस्थाओं से सहज ही प्राप्त होता है। प्राचीनकाल में शिक्षा का अपेक्षाकृत विशेष महत्व रहा होगा, क्योंकि अद्यावधि की अपेक्षा उस समय उदीयमान संतति को सामाजिक परंपराओं में ढालने एवं तदनुरूप आचरण हेतु प्रोत्साहित करने के प्रधान एवं संभवत: एकमात्र साधन शिक्षण-संस्था ही थी। प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के समयक अध्ययन हेतु यहाँ के शैक्षणिक परंपराओं का ज्ञान आवश्यक है। एवं इस क्रम में 'वैदिक शिक्षा-व्यवस्था' का विशेष ज्ञान अत्यावश्यक है क्योंकि 'वैदिक युग' एवं 'वैदिक वाङ्मय' संभवत: सहस्त्राब्दियों के सांस्कृतिक परंपराओं के साक्षात् गवाह हैं। शिक्षा शब्द की उत्पत्ति 'शिक्ष्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है- 'देना'। शिक्षा के माध्यम से आचार्य शिष्य को 'वेद' (ज्ञान) उच्चारित कर देते थे एवं इस प्रकार से शिष्य, आचार्य से शिक्षित होकर स्वयं को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते। वास्तव में 'शिक्षा' मनुष्य के जीवनपर्यत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है। इस संदर्भ में एक किंवदन्ती भी है कि, 'विप्र आजीवन अध्यनार्थी ही रहता है।'[1]

भारतवर्ष में शिक्षा को मानवजीवन को संपूर्ण रूप से आलोकित करनेवाली प्रकाशस्त्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है। महाभारत का कथन है कि, ''विद्या के समान कोई अन्य नेत्र नहीं है।''[2] वास्तव में विद्या वह है, जो हमें मुक्ति का मार्ग प्रदान करती है।[3] शिक्षा से जो हमें परिज्ञान प्राप्त होता है, उससे हमारा व्यक्तित्व पूर्णत: परिष्कृत हो जाता है।

इस संदर्भ में ऋग्वेद के एक मंत्र में ऋषि कहते हैं कि, 'यदि कोई किसी से श्रेष्ठ है, तो इसका कारण यह नहीं उसके पास अतिरिक्त हाथ-पैर या आँख होते हैं, अपितु श्रेष्ठतम होने के लिए बुद्धि एवं मस्तिष्क का अधिकाधिक प्रखर होना ही आवश्यक है, जो कि शिक्षा के द्वारा ही संभव हो सकता है।'[4] वैदिक शिक्षा के उद्देश्यों में से एक व्यक्ति को धार्मिक अर्थात 'न्यायप्रिय' बनाना था। आचार्य, पुरोहित का कार्य भी संपादित करने थे। 'साहित्यिक' एवं 'वृत्तिक', 'प्रारंभिक' एवं उच्च कोटि के शिक्षाओं के आरंभ में जिन संस्कारों एवं कृत्यों की व्यवस्था की गई थी, अध्ययनकाल में जिन नियमों का पालन शिष्य हेतु आवश्यक था उनमें दैनिक संध्यापूजन, धार्मिक समारोह जो प्राय: आचार्य के कुल में या आश्रम में हुआ करते थे: उस सबों का एकमात्र उद्देश्य ब्रह्मचारी को ईश्वरभक्ति एवं धार्मिकता की भावना से अनुप्राणित करना ही था। इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का

उद्देश्य छात्र को जीवन के प्रलोभनों के प्रति निस्पृह बनाना भी था। जिस वातावरण में अन्तेवासी रहते थे, वह ऐसा था जो उनके मानस पर पारलौकिक जगत की वास्तविकता की छाप लगा देता था और उसे विश्वास दिला देता था कि, यद्यपि हमारा पार्थिव शरीर प्रकृति के विभिन्न तत्वों से निर्मित है पर हमारे अन्तर्यामाी 'आत्मतत्व' ही हैं, जो आध्यात्मिक जगत की वस्तु हैं। अत: उसी जगत के नियमों से हमारे आचरण, चरित्र एवं आदर्शों का निर्माण होना चाहिए।

वैदिक शिक्षा ईश्वरभक्ति एवं धार्मिकता का वातारण तो प्रदान करती थी, किन्तु उसका उद्देश्य ब्रह्मचारी को पलायनवादी बनाना नहीं था। ब्रह्मचारी द्वारा आचार्य के पास शिक्षा समाप्त करने के उपरांत उन्हें 'स्नातक' से संबोधित किया जाता था। स्नाताकों से प्राय: गृहस्थ होने की आशा की जाती थी एवं अधिकांश ब्रह्मचारी आचार्य से सम्यक् शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत गृहस्थ-जीवन का ही पालन करते थे। ऐसे बहुत कम ही शिष्य होते थे, जो आजीवन ब्रह्मचारी रहकर आध्यात्मिक शोध में संलग्न रहते थे। संपूर्ण शिक्षा चाहे वह साहित्यिक हो अथवा व्यावहारिक, का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मचारी को समाज का एक धर्मनिष्ठ एवं न्यायप्रिय नागरिक के रूप में प्रस्तुत करना था।

व्यक्ति में ज्ञान केवल सैद्धांतिक रूप तक ही सीमित नहीं रहती थी। वैदिककाल में शिक्षा व्यक्ति को व्यवहारवादी बनाती थी। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को अपनी आजीविका चलाने हेतु सुयोग्य बनाना भी था। एक किंवदन्ती है कि, यदि कुछ शब्दों के कंठाग्र एवं जिह्वाग्र कर लेने से ही 'शुक' भी भोजन प्राप्त कर लेता है, तो एक विद्वान भला अपनी आजीविका क्यों नहीं चला सकता है।[5]

नैतिक भावनाओं के सम्यक् विकास से चरित्र निर्माण वैदिक शिक्षा का अन्य उद्देश्य था। वेदों (ज्ञान) का संरक्षण सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था, लेकिन इस सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य चरित्र निर्माण था। मनु ने भी कहा है कि, मात्र वेदों में पांडित्य प्राप्त विद्वान से वह सुच्चरित्र व्यक्ति श्रेष्ठतर है, जिसे केवल 'सावित्री' का ज्ञान है।[6]

शिक्षण-विषय के चुनाव की स्वतंत्रता थी। उस समय तक व्यवसाय एवं जीविका के साधन स्वयं निर्धारित करने की सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक दोनों स्वतंत्रता थी। कालांतर में जाति-व्यवस्था के विकास के कारण अधिकांश व्यक्ति अपने पैतृक व्यवसाय का ही वरण करने थे, परन्तु व्यवहार में इस नियम के अपवाद भी थे।

वैदिक शिक्षा-पद्धति के उद्देश्यों में संस्कृत के संरक्षण तथा उनका प्रचार-प्रसार भी विशेष उल्लेखनीय है। यदि शिक्षा उदीयमान संतति को उत्तम प्राचीन परंपराओं को स्वीकार कराकर तदनुरूप आचरण करना नहीं सिखाती, तथा अगली पीढ़ी तक इस परंपरा को नहीं बढ़ा देती तो अपने मुख्य उद्देश्य में वह असफल है। वैदिक ग्रंथों का स्थूल दृष्टि से अध्ययन करने वाले पाठक भी इस बात से अप्रभावित नहीं रहे होंगे कि, वैदिक विचारक एवं मनीषी संपूर्ण साहित्यिक, सांस्कृतिक, और व्यावसायिक परंपराओं के तथा उसके अविच्छेद संचरण के लिए कितनी गंभीरतापूर्वक चिंतित थे।

वैदिक युग में शिक्षा को अंतर्ज्योति का साधन माना गया था एवं आशा की जाती थी कि, शिक्षा व्यक्ति को जीवन की कठिनाइयों एवं समस्याओं को पार करने हेतु सुयोग्य बनाएगी। अत: उस समय यह सामाजिक आग्रह था कि, शिक्षा ठोस एवं कार्यसाधक हो। वैदिक शिक्षा का उद्देश्य अनेक विषयों का केवल साधारण ज्ञान मात्र करा देना ही न था, अपितु इसका आदर्श विभिन्न क्षेत्रों में उच्च कोटि के विशेषज्ञ निर्माण करना भी था। संभवत: मुद्रण सामग्री के समुचित प्राप्ति न होने के कारण इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता था कि, ब्रह्मचारी के स्मृति को इस ढंग से शिक्षित एवं विकसित किया जाय कि, वह अपने आचार्य से जो भी शिक्षा ग्रहण करे, ताकि आजीवन उसे स्मरण रहे।

शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वैदिक युग में शिक्षा का सामान्य जन में व्यापक प्रचार-प्रसार सहज ही अभीष्ट था। मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि अध्ययन मुख्य रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ग तक ही सीमित था।[7] किन्तु ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि, 'पंचजनों' (आम व्यक्ति) ने अग्निहोत्र में भाग लिया था।[8] यास्क के निरूक्त से ज्ञात होता है कि 'पंचजनों' में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के अतिरिक्त निषाद की भी गणना की जाती थी।[9] संभवत: निषाद ऋग्वेदकाल में समाजिक यप से वयवस्थित नहीं हुए थे। 'पंचजनों' जिनमें अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु, पुरू एवं यदु जन थे से भी ज्ञान होता है कि उस समय शिक्षा संभवत: सबों को प्राप्त करने का अधिकार था, न कि, किसी खास वर्ण एवं जाति कि लिए। कालांतर में 'पंचजन' के अंतर्गत भरत, त्रित्सु एवं श्रृंजय जनों की भी गणना की जाती थी एवं तदन्तर आमजन के लिए संभवत: 'पंचजन' शब्द प्रयुक्त किये जाते थे। वाजसनेयि संहिता में शिक्षा के अधिकारी सभी वर्ण के लोग माने गए हैं।[10] ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवक्ता महिदास ऐतरेय, जो 'इतरा' नामक शूद्र का पुत्र था, ने भी शिक्षा प्राप्त की थी। सत्यकाम जाबाल जिसका अज्ञात गोत्र था, ने भी शिष्यत्व ग्रहण किया था।

इस प्रकार हम पाते हैं कि वैदिक विचारकों की सामान्य धारणा थी कि, उन सभी व्यक्तियों के लिए, जो शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो, शिक्षा मिलनी चाहिए। स्मरणीय है कि, मातंग भी अपने समय में वैदिक वाङ्मय के विशिष्ट विद्वान माने जाते थे, जो चांडाल समूह से थे। वास्तव में वैदिक युग में समाज में साक्षरता का प्रतिशत अधिकतम नहीं तो कम-से-कम संतोषजनक अवश्य रहा होगा, क्योंकि उपनिषद् कालीन एक राजा गर्व से घोषित करता है कि उसके जनपद में कोई भी मूर्ख नहीं है।[11] अर्थात जनपद में शैक्षणिक प्रचार-प्रसार के प्रति शासक वर्ग भी सचेष्ट रहते थे। शिक्षा-शास्त्रियों ने यहाँ तक नियम प्रतिपादित किया कि, केवल संतति उत्पादन से ही पितृ-ऋण से मुक्ति नहीं मिल सकती अपितु पितृऋण-मुक्ति हेतु संतति सम्यक् रूपेण शिक्षित करना भी परामावश्यक है।[12] अर्थात् प्रत्यंक आर्यजन इस काल में कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य प्राप्त करते थे। भले ही उनका स्वरूप धार्मिक हो, साहित्यिक हो अथवा लौकिक।

स्त्री शिक्षा

स्त्रियों की महत्ता वैदिक युग में काफी थी। वे जीवन रथ के एक पहिए के सदृश थीं, जिसके बिना मानव जीवन अपेक्षित गति को पाने में असफल थी। माँ ही बच्चे की प्रथम आचार्या एवं प्राथमिक विद्यालय है। माता की इस महत्ता का गुणगान वैदिक विचारकों ने काफी उदार भाव से किया है।[13] माँ की महत्ता वैदिक युग में इतनी अधिक थी कि, बच्चे मातृ उपनास से भी जाने जाते थे।[14] विद्वान आचार्यों की वंश सूचियों में भी अनेक आचार्य के मातृ उपनाम प्राप्त होते हैं।[15] माताएँ वैदिक युग में केवल 'जननी' ही न थी, बल्कि अपेक्षित स्तर तक पढ़ी-लिखी, पंडिता, ऋषिका एवं आचार्या भी हुआ करती थीं। वैदिक युग में नारी की महत्ता एवं आवश्यकता के कारण इसका नाम 'कन्या' अर्थात् सबके द्वारा वांछनीया कहा गया है।[16] ऋग्वैदिक पिता जहाँ पुत्रों के साथ सम्पूर्ण आयु व्यतीत करने में सुख का अनुभव करता है, वहीं वह पुत्री की भी उपेक्षा न करके इसके साथ भी सम्पूण आयु व्यतीत करना चाहता है और दोनों को सुवर्णवत मानता है।[17] मनु भी पुत्र एवं पुत्री को समान महत्व प्रदान करते हैं।[17।]

ब्रह्मचर्य अर्थात् अध्ययन का विधान बालक एवं बालिका पर समान रूप से व्यवहृत था।[18] आश्वलायन के अनुसार पुत्र और पुत्री दोनों का ब्रह्मचर्यकाल समान ही है।[18।] अनुपनीत कन्या अयोग्य समझी जाती थी। उनका जीवन उत्साह-रहित होता था। ऋग्वेद के अनुसार, उपनीत स्त्रियां अनेक

कठिन कार्यों का सम्पादन समुचित ढंग से कर सकती है।[19] धर्मसूत्रकारों ने कन्या के पननयन संदर्भित कर्मकाण्डों का भी विधान किया है। हारीत धमसूत्र ने ब्रह्मवादिनियों के लिए उपनयन संस्कार का विधान करते हुए कहा है कि, वे वेदों का अध्ययन तथा अग्निहोत्र कर्म के साथ-साथ अपने घर से भिक्षा भी प्राप्त करे।[20] गोभिल के अनुसार यज्ञोपवीत धारण कर चुकी नारी ही यज्ञ के आचमन आदि कार्यों को सम्पन्न करे।[21] वे विवाह काल में यज्ञोपवीत धारण की गई नारी से मंत्रोच्चार भी करवाते हैं।[22] यम स्मृति के अनुसार, पुत्र के सदृश उनका भी मेखलाबंधन विहित था।[23] पारस्कर गृह्यसूत्र में स्त्रियाँ उपनीत एवं अनुपनीत दोनों प्रकार में उल्लिखित हैं।[24]

हारीत धर्मसूत्र भी दो प्रकार की नारी यथा-ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवधू का उल्लेख करते हैं।[25] सद्योवधू नारियाँ शैशवावस्था से ही संस्कारशून्य, अशिक्षित एवं शूद्रवत होती थीं, जबकि 'ब्रह्मवादिनी' अपेक्षित स्तर तक पढ़ी-लिखी होती थी। हारीत के अनुसार, जिस प्रकार शूद्र आजीवन अशिक्षित एवं संस्कारशून्य रहता है, उसी प्रकार स्त्रियों के लिए ऐसा अनुचित है।[26] यदि स्त्रियाँ अपनी शैशवावस्था में यथेष्ट शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रही हों, तो भी विवाह के समय में उपनयन करवा कर उन्हें उत्तम संस्कार से युक्त कर देना चाहिए।[27] अर्थात् विवाह योग्य स्त्रियों को अपेक्षित स्तर तक ज्ञानवान होने की अपेक्षा समाज द्वारा की जाती थी। नारी की शिक्षा-दीक्षा को 'हारीत' ने पुरूषों से अधिक महत्त्व देते हुए कहा है कि, 'क्योंकि उसके गर्भ से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुण से सम्पन्न संतति प्राप्त होते हैं। अत: नारी का सभी संस्कारों से अवश्य सम्पन्न होना चाहिए।'[28] बृहदारण्यकोपनिष्द् से ज्ञात होता है कि, वैदिक युग में माता-पिता भावी संतति के रूप में कन्या के जनन हेतु तथा उसमें दीर्घायु एवं पंडिता गुण आरोपित करने हेतु गर्भाधान काल से ही प्रयासतर रहते थे।[29]

अथर्ववेद से भी ज्ञात होता है कि, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाली स्त्रियाँ अपेक्षित काल तक अध्ययन अवश्य करती थी।[30] ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि, विवाह के समय तक सूर्या नामक कन्या 'रैभी' एवं 'नाराशंसी' नामक ऋचाओं के ज्ञान से सम्पन्न थी एवं उस पर उनका पूर्ण अधिकार था।[31] स्त्रियां सभा में संभाषण करने में भी निपुण होती थीं।[32] अनेक महिलाएँ वैदिक मंत्रों की द्रष्टा भी थीं। लोपामुद्र ने वैदिक मंत्रों का दर्शन किया था। अपाला-आत्रेयी[33], विश्ववारा-आत्रेयी[34], घोष-काक्षीवती[35], सूर्यसावित्री[36], दक्षिणा[37], जुहू[38], यमी[39], शची-पौलोमी[40], सार्पराज्ञी[41] नामक विदुषी ने भी मंत्रों का दर्शन किया था। इन्द्राणी, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, श्री, वाक्, श्रद्धा, मेधा, रात्रि आदि ऋग्वैदिक विदुषियों का उल्लेख शौनक ने भी किया है।[42] उपनिषद् काल में गार्गी एवं मैत्रेयी की विद्वत्ता सर्वज्ञात तथ्य है। जनक के विद्वत्सभा में वाचक्नवी-गार्गी ने अपने तर्कपूर्ण प्रश्नों से याज्ञवल्क्य की कठिन परीक्षा ली थी, जिससे याज्ञवल्क्य काफी असमंजस में पड़ गए थे।[43] कई ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग में महिलाएँ अध्ययन कार्य भी संपादित करती थी। वैदिक-वाङ्मय में इनके विद्यांश के भी साक्ष्य मिलते हैं। वागम्भृणी नामक विदुषी ने शुक्ल यजुर्वेद के आदि प्रवक्ता विवस्वान-आदित्य से इसका नियमित अध्ययन किया था, जिसे बाद में उसने कश्य-नैध्रुवि आदि शिष्यों को नियमित रूप से अध्यापन करवाई। बाद में आचार्य वंश परम्परा से शुक्ल यजुर्वेद का ज्ञान क्रमश: शिल्प कश्यप, असित वार्षगण, जिह्वावान बाध्योग, वाजश्रवा कुश्रि, उपवेशि, अरूण एवं उद्दालक से वाजसनेय याज्ञवल्क्य को प्राप्त हुई।[44]

अनेक महिलाओं का वेद ज्ञान इतना अधिक विस्तृत था कि, उनके शिष्यों-प्रशिष्यों का भी नाम उनसे ही जाना जाता था। उनके नाम से वैदिक शिक्षण संस्था तो प्रचलित हुई ही साथ ही उनके नाम से ब्राह्मण आदि ग्रंथों का भी प्रचलन हुआ। सुलभा नामक ऋषिका, जिनका जनक के साथ ब्रह्मविद्या

विषयक संवाद का उल्लेख महाभारत, शांतिपर्व में भी हुआ है, के नाम से वैदिक शाखा भी प्राचलित हुई थी। सौलभ ब्राह्मण नामक ग्रंथ का उल्लेख भाष्य में है।[45] आवश्वलयनादि गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण में भी सुलभा का नाम आया है।[46]

विवेच्य युग में स्त्री शिक्षा की जो सामान्य प्रथा थी, उसके प्रमाण वैदिकेतर साहित्यों से भी प्राप्त होते हैं। पाणिनी और पतंजलि दोनों ने वैदिक चरणों में अध्ययन करनेवाली स्त्रियों का उल्लेख किया है।[47] इस संदर्भ में पाणिनी ने सूत्र भी प्रतिपादित किये है,[48] जिसमें जाति की परिभाषा के अन्तर्गत महाभाष्यकार ने 'गोत्र' और 'चरण' दोनों का ग्रहण किया है।[49] कठचरण में अध्ययन करनेवाली छात्रा 'कठी' और ऋग्वेद के बह्वच-चरण की 'बह्वची' कहलाती थी।[50] अर्थात् छात्रों के नामकरण के जो नियम थे, वही छात्राओं के लिए लागू थे, जिससे सहज ही अनुमान होता है कि, 'स्त्री-अध्येतृ' की संख्या नाममात्र की ही न थी, क्योंकि अगर ऐसा होता, तो उनके नामकरण संबंधी सूत्र के उल्लेख नहीं मिलते। पंतजलि ने नियमित अध्ययन करनेवाली इन छात्राओं को 'अध्येतृ' कहा है।[51]

पंतजलि के महाभाष्य में छात्राओं के नामकरण के प्रकरण से ज्ञात होता है कि, तत्कालीन समाज में स्त्रियों की उच्च शिक्षा आम बात थी एवं जिसकी पृष्ठभूमि काफी प्राचीन थी। पाणिनी ने तो इन अध्येत्रियों के रहने के संदर्भ में भी संकेत दिए हैं, जिसे 'छात्रीशाला' (Girls Hostel) कहा जाता था।[52] 'कठीवृन्दारिका' जैसा शब्द कठशाखा की उस छात्रा के लिए भाषा में प्रयुक्त होता था, जो अपने 'चरण' में विशेष कीर्ति या अग्रपद प्राप्त करती थी।[53] स्त्री-शिक्षा की सुलभता वदिक युग में नहीं होती तो गीत, वाद्य, नृत्य आदि चौंसठ कला[54], जिसमें निष्णात होने की अपेक्षा कुलीन स्त्रियों से सहज ही की जाती थी, का विकास कोई आकस्मिक घटना नहीं रहीं होगी, बल्कि इसके विकास की एक युग-युगीन प्रक्रिया वर्त्तमान होगी। वेश-विन्यास से आजीविका चलानेवाली, स्मर दीप्त करनेवाली[55] धोबिन, रंगरेजिन[56], नेत्रांजन लगानेवाली, मृतवत्सा[57], युवती, शिथिल देहवाली[58] श्वेतकशिनी, अस्थिमात्र शरीर वाली[59] स्त्रियों को विशिष्ट कार्यों में नियाजित करने का जो निर्देश है, उससे भी ज्ञात होता है कि वैदिक युग में स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न कलाओं की शिक्षा विशेष रूप से प्रदान की जाती होगी। स्त्रियों द्वारा वस्त्र-निर्माण कला की सूचना हमें अथर्ववेद से प्राप्त होती है।[60] स्त्रियाँ अपने संतान के लिए ऋग्वैदिक युग में स्वयं कपड़े तैयार करती थी।[61] विवेच्य युग वस्त्र-निर्माण कला की इतनी महत्ता थी कि, उनकी इस कार्य-तकनीक की तुलना ऋषियों के मनन-कार्य से भी की जाती थी।[62]

वैदिक युग में समाज के सभी वर्ग शिक्षा के अधिकारी थे।[63] सत्यकाम जाबाल के प्रसंग,[64] महिदास ऐतरेय के आख्यान[65] तथा कवष ऐलूष के योगदान[66] दर्शाते हैं कि, शिक्षा-विषयक योगदान में दलितों का भी अवदान उल्लेखनीय स्तर तक था। सुधन्वा के पुत्र ऋभु, विभ्वा एवं वाज के तकनीकी कौशल वैदिक वाङ्मय के अक्षुण्ण अध्याय हैं।[67] महाभारत से भी ज्ञात होता है कि विवेच्य युग में दासीपुत्र महात्मा विदुर अपने न्याय संबंधित विशेष ज्ञान के बल पर ही महामंत्री के पद पर आसीन थे। स्वयं कृष्णद्वैपायन वेदव्यास भी धीवरकन्या के गर्भ से उत्पन्न थे एवं आचार्य परम्परा से शिक्षा प्राप्त कर कालजयी हुए। शूद्र आचार्यों के उल्लेख धर्मसूत्रों में भी मिलते हैं।[68] यजुर्वेद से भी ज्ञात होता है कि विभिन्न शिल्पों एवं व्यवसायों के विशेषज्ञ मुख्यत: निम्न वर्णोत्पन्न ही थे।[69]

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संबंधित शिक्षा भी वैदिक युग में चरमोत्कर्ष पर थी। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा वैदिक साहित्य एवं अन्य साहित्य में प्राप्त होती है। इनमें पाढ़्पक्रम, वैज्ञानिक आचार्य के विवरण दिए गए है। ऐसा लगता है कि विज्ञान एवं तकनीकी के शायद ही कोई पक्ष हो,

जिसकी चर्चा इन ग्रंथों में नहीं हुई हो। आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तक भी वेदों को साधन स्त्रोत के रूप में प्रयुक्त कर रह हैं। भूगर्भ, भूतल एवं खगोलीय विज्ञानों के पृष्ठभूमि वैदिक साहिन्य से प्रमाणित हो रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि, वैदिक साहित्यों में जो ज्ञान-विज्ञान का उल्लेख सूत्रबद्ध रूप में हुआ है, वह आज भी प्रासंगिक है।

सन्दर्भ-सूची

1. अनंत सदाशिव अलतेकर, प्रचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० 2, पादटिप्पणी-याज्जीववमधाीते विप्रः।
2. महाभारत, 12/339/6, नास्ति विद्या समं चक्षुः।
3. विष्णुपुराण, 1/19/41, सा विद्या या विमुक्तये।
4. ऋग्वेद, 10/7/17, अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः
5. अनंत सदाशिव अलतेकर, प्रचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० 6-पादटिप्पणी-सद्‌विद्या यदि का चिन्ता वरोकोदरपूरणे। शुकोऽप्यशन-माप्नोति राम रामेति ब्रुवन्।।
6. मनुस्मृति, 2/118, सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयंत्रित। नायंत्रितस्त्रिवेदोपि सर्वाशी सर्वविक्रयो।।
7. मनुस्मृति, 1/88-91,
8. ऋग्वेद, 1045/6, विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमातः। वीलुं चिदद्रिमभीनत पराञ्ना यदग्निमयजन्त पञ्च।।
9. निरूक्त, 6/7
10. वाजसनेयिसंहिता, 26/2, यथेमांवाच कल्याणीमावादानि जनेभ्यः ब्राह्मराजन्यामे। शूद्राय। चार्याय च स्वाय चारणाय च।।
11. छांदोग्योपनिषद्, 5/11/5, न में स्तनोजनपदे...... नानाहिताग्निर्नाविद्वान।
12. बृहदारण्यकोपनिष्द्, 1/5/7, तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः तस्मादेननुशास्ति।
13. बृहदारण्यकोपनिष्द्, 4/1/3, यथा मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् ब्रूयात् तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत् ....।
14. छांदोग्योपनिषद्, 4/4, (सत्यकाम जाबाल की कथा)
15. शतपथब्राह्मण, 14/9/4/30-32, तदिदं वयं भारद्वाजीपुत्राद् भारद्वाजीपुत्रो वात्सीमांडवीपुत्राद्, वात्सीमांडवीपुत्रः पराशरीपुत्रात् .... कार्शकेयीपुत्र प्राश्नीपुत्रात्। : बृहदारण्यकोपनिष्द्, 6/5/1-2, अथ वंशः। पौतीमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् .... प्राश्नीपुत्रादासुरिवासितः।
16. निरूक्त, 4/2, कन्या कमनीया भवति।
17. ऋग्वेद, 8/31/8, पुत्रिणा तु कुमारिना विश्वमायुर्व्यश्नुतः। उभा हिरण्यपेशसा।।

17।. मनुस्मृति, 9/130, यथैवात्मा तथा पुत्राः पुत्रेण दुहिता समा।

18. वही, 7/152, कन्यानां सम्पद्रानं च कुमारणां च रक्षणाम्।

18।. प्रशांत कुमार, वैदिक साहित्य में नारी, पृ० 19-सामनं ब्रह्मचर्यम्।

19. ऋग्वेद, 10/109/8, भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धा तद्याति परमे व्योमन्।
20. हारीत धमसूत्र, 21/22, तत्र ब्राह्मवादिनीनाम् उपनयनं अरिनीधम् वेदाध्ययनम् स्वगृहे भिक्षा चर्येति।
21. गोभिल गृह्मसूत्र, 1/1/2, यज्ञोपवीतिनाचान्तोदकन कृत्यम्।
22. वही, 2/1/9, प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयन्जपंत् सामाऽददत्।
23. प्रशांत कुमार, वैदिक साहित्य में नारी, पृ० 20-पुराकल्पेषु नारीनां मौजीबन्ध-नमिष्यतें।
24. वही, स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च।
25. वही, द्विविधाः स्त्रियो ब्राह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च।

26. प्रशांत कुमार, वैदिक साहित्य में नारी, पृ० 20–न शूद्रसमा: स्त्रिय:।
27. हारित धर्मसूत्र, 21/20/24, सधोवधूनां तूपस्थिते विवाहकाले कथंचिदुपनयनं कृत्वा विवाहकार्य:।
28. प्रशांत कुमार, वैदिक साहित्य में नारी, पृ० 21–न हि शूद्रयोनौ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या जायन्ते तस्माच्छन्दसा स्त्रिय: संस्कार्या:।
29. बृहदारण्यकोपनिषद्, 6/4/17, अथ च इच्छेद् दुहिता में पंडिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्त मश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै।।
30. अथर्ववेद, 11/5/18, ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
31. ऋग्वेद, 10/85/6, रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
32. वही, 1/167/3, गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक्।।
33. ऋग्वेद, 18/91
34. वही, 5/28
35. वही, 10/39, 10/40
36. वही, 10/85
37. वही, 10/107
38. वही, 10/109
39. वही, 10/154
40. वही, 10/159
41. वही, 10/189
42. बृहद्देवता, 2/85–86, इन्द्राणी चन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी। लापामुद्रा च नद्यश्च, यमी नारी च शश्वती।। श्री: लक्ष्मी सर्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिण। रात्री सूर्या सावित्री ब्रह्मवदितन्य इारिता:।।
43. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/8, अथ ह वाचनव्युनाच ब्राह्मणा भगवन्तों हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि...
44. शतपथ ब्राह्मण, 14/9/4/33, याज्ञवल्क्य उद्दालकाद् उद्दालकोऽरूणादरूण उपवेशेरूपवेशि: कुश्रे: कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगात् ..... हरित: कश्यप: शिल्पात् कश्यापाछिच्ल्प: कश्यप: कश्यपान्नैध्रुवे: कश्यपोनैधुविर्वाचो वागम्भिण्या आम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।।: बृहदारण्यकोपनिषद्, 6/5
45. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतंजलिकालीन भारत पृ० 442
46. वही, पृ० 458
47. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनीकाल भारतवर्ष, पृ० 278
48. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, 4/1/63, जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्।
49. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनीकाल भारतवर्ष, पृ० 278
50. वही
51. वही
52. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, 6/2/86, छात्र्यादय: शालायाम्।
53. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनीकाल भारतवर्ष, पृ० 278
54. कामसूत्र, 1/3रू16
55. यजुर्वेद, 30/9, निष्कृत्यै पेशस्कारीं ...... प्रकामोद्यायोपसदं......
56. वही, 30/12 मेधायवास: पल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम्।।
57. वही, 30/15, शीलजाञ्जनीकारी...... यमायासूम।।

58. वही, 30/15
59. वही
60. अथर्ववेद, 14/1/45, या अकृतन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त। तास्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः।
61. ऋग्वेद 5/47/8 वि तन्बते द्विया अस्मा अपांसि वस्त्रा पत्राय मातरोवयन्ति
62. वही, 10/5/3, ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती। विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य क्वेश्चित् तन्तुं मनसा वियन्तः।।
63. वाजसनेयी संहिता, 26/2, यथेमां वाच कल्याणीमावदानि जनेभयः ब्रह्मराजन्यामो शूद्राय। चयार्य च स्वाय चरणाय च।।
64. छांदोग्योपनिषद् 4/4
65. वही, 3/16
66. ऋग्वेद, 10/30, 10/31 : ऐतरेय ब्राह्मण, 3/1
67. ऋग्वेद, 1/20, 1/110, 1/111
68. आपस्तंब धर्मसूत्र, 1/2/40/1, अब्राह्मणदध्यायमनापदि। सुश्रूषाऽनुब्रज्या च यावदध्ययनम्।। : बौधायन धर्मसूत्र, 1/1/2/43, अब्राह्मणद् अध्ययनमापदि
69. युजर्वेद, अध्याय 30

❖

इतिहास

ब्रिटिश भारत में ग्रामीण–ऋृणग्रस्तता

तथ्यात्मक विश्लेषण

डॉ० प्रवीण चन्द्र

मोदीघी कला, वैशाली

ग्रामीण–ऋृणग्रस्तता एक सर्वव्यामी घटना थी और अनेक सूत्रों के अनुसार, भारत में ब्रिटिश–शासन के दौरान यह लगातार बढ़ती गयी। बी० चौधरी ने ‘‘कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया’’ में लिखें अपने निबन्ध में यह विचार प्रकट किया है सामान्य धारणा के ठीक विपरीत, ग्रामीण–ऋृणग्रस्तता भारत में ब्रिटिश–शासन के पहले भी अच्छा–खासा मौजूद था। लेकिन आगे वे कहते हैं कि इस सन्दर्भ में आँकड़ों की अनुपस्थिति एवं तथ्यों की

अनुपलब्धता के कारण कोई ठोस और सर्वमान्य निष्कर्ष निकालना कठिन है। जबकि दूसरी तरफ,ब्रिटिश–शासन–काल में ग्रामीण–ऋृणग्रस्तता एक सर्वव्यापी एवं आम घटना हो गयी औरा इस सम्बन्ध में कोई दो राय नहीं है। वर्ष 1769–70 एवं 1787 के भयंकर अकालों के बाद किये गये सर्वेक्षणों में ऋृणग्रस्तता की घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। वर्ष 1794–1801 ई० के दौरान खाद्यान्न–विभाग की जाँच–पड़ताल के कागजों में यह उल्लेख मिलता है कि बर्दवान और जेसौर के लगभग 50% किसान अग्रिम राशि पर निर्भर थे। बूकानन एवं चार्ल्स–मेटकॉफ रपटों जैसे प्रारम्भिक रपट–प्रतिवेदनों में भी पूर्वी भारत के ग्रामीन में मौजूद ऋृणग्रस्तता के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं।

तथापि, 1880 ई० के ‘‘फेमीन कमीशन’’ (अकाल समिति) की रपटों से शुरू होकर, हमें अन्य कई रपटों–प्रतिवेदनों की जानकारी मिलती है। जिनका दृष्टांत देकर श्री आर० पी० दत्त ने ऋणग्रस्तता के स्तरों का निर्धारण किया है। फेमिन कमीशन की रपट में पाया गया कि भू–स्वामी वर्ग के दो–तिहाई लोग ऋणग्रस्त थे तथा इनका एक–तिहाई अत्यधिक एवं असहाय ऋण के बोझ से दबा हुआ था। वर्ष 1911 में मैकलेगन द्वारा किये गये अध्ययन में कृषि–क्षेत्र की कुल ऋण–राशि लगभग 300 करोड़ रूपये आंकी गयी। डार्लिग के अध्ययन (वर्ष 1923–24)में ऋ–राशि की अनुमानित रकम, लगभग 600 करोड़ रूपये आंकी गयी है। वर्ष 1931 के ‘‘सेन्ट्रल बैंकिग इन्कवायरी कमीटी’’ के अनुसार ऋण–राशि बढ़कर 900 करोड़ रूपये हो गयी। वर्ष 1928 ई० की कृषि–समिति (एग्रीकल्चर कमीशन) भी ग्रामीण ऋण–ग्रस्तता में हुई बढ़ोरतरी के तथ्य को स्वीकार करता है। ‘‘एग्रीकल्चर क्रेडिट डिपार्टमेन्ट’’ ने 1937 ई० में ग्रमीण–ऋग्रस्तता की जाँच पड़ताल में पाया कि ऋण–राशि लगभग 800 करोड़ रूपये है। अत:, उपरोक्त तथ्यों के आधार पर एकमात्र निष्कर्ष यही निकलता है कि ब्रिटिश शासन के दौरान, ग्रामीण–ऋण–ग्रस्तता लगातार बढ़ती गयी।

साम्राज्यवादी व्याख्याकारों ने इस घटना का सम्बन्ध, भारत के ग्रामीणों की फिजुलखर्ची, लापरवाह–अदूरदर्शिता एवं सूदखोर–महाजनों द्वारा लिये जाने वाले सूद की अत्याधिक ऊँची दरों से जोड़ा है। लेकिन, राष्ट्रवादी इतिहासकारों तथा मार्क्सवादी व्याख्याकारों ने भारत की तत्कालीन

ग्रामीण-ऋण-ग्रस्तता का सम्बन्ध प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से औपनिवेशिक शोषण-दोहन एवं तत्सम्बन्धी नीतियों से जोड़ा है।

सूदखोर-महाजन भी, अपने तत्कालीन स्वरूप में, औपविवेशिक संरचना के ही उपांग थे। ब्रिटिश कानून एवं प्रशासन भी ऋणों की वसूली को सम्पूर्णत: वैध एवं आवश्यक मानता था और न केवल किसानों की दयनीय स्थिति वरन् सूदखोर-महाजनों द्वारा किये जानेवाले छल-प्रपंचों की तरफ भी आँखें बन्द करके देखता था। वर्ष 1959 ई० के 'सिविल प्रोसेड्योर कोड' ने भी सूदखोर-महाजनों की स्थिति मजबूत की। वस्तुत: ब्रिटिश सरकार ने ऋण-ग्रस्त ग्रामीण जनसमुदाय को कर्ज के कमरतोड़ बोझ से मुक्ति दिलाने के लिए काई प्रायस नहीं किया; कम-से-कम उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इस दिशा में ब्रिटिश-शासन ने कोई कोशिश नहीं की। यहाँ तक कि 1899 ई० के अधिनियम का भी कुछ खास प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि उसमें बचाव के अनेक रास्ते मौजूद थे या फिर, साधारण-सामान्य कृषकों में या क्षमता नहीं थी कि वे इस अधिनियम के सहारे अपना बचाव कर सकें क्योंकि अत्यधिक खर्चीली कानूनी उपचार-व्यवस्था उनकी पहुँच के परे था।

इस ऋणग्रस्तता का सर्वाधिक मौलिक कारण निश्चितरूप से आर्थिक प्रकृति का था। कुछ इतिहासकारों ने ऋणग्रस्तता के कारणों को दो शीर्षकों के अन्तर्गत सूचिवद्ध किया है। वे शीर्षक हैं- (अ) ऋन-लेने योग्य बनानेवाले तथा (ब) ऋण लेने को विवश करनेवाले। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ से ही जमीन के सन्र्दभ में निजी सम्पत्ति की अवधारणा लागू कर दी गयी फलत: जमीन की कीमत बढ़ने लगी और किसानों में, जमीन के आधार पर ऋन-लेने की एक नयी क्षमता विकसित हो गयी। यह बड़ी दिलचस्प बात देखने को आयी कि वर्ष 1860 ई० में कपास की कीमत में हुई सहसा वृद्धि के पश्चात जब पुन: कपास की कीमतों में गिरावट आयी तो किसानों पर ऋण अचानक बेतहाशा बढ़ गया। ग्रमीण सामुदायिक सत्ता का सूदखोरों पर कड़ी नजर रखनी शुरू कर दी ताकि उनके हाथों किसानों को सम्भावित शोषण से बचाया जा सके।

दूसरी तरफ, भू-लगान एवं पट्टे की दरों का आर्थिक बोझ, और कभी-कभी, सूद अदा करने की जरूरतों ने किसानों को ऋण लेने के लिए विवश किया। कृषि उत्पादन में वस्तुत: ऐसी गतिहीनता या निष्क्रियता बनी रही कि वर्ष 1901 से 1951 ई० तक कृषि उत्पादनों की वार्षिक वृद्धि दर मात्र 0.66 प्रतिशत रही। प्राकृतिक विपदाओं का निरन्तर आगमन होता रहा। यहाँ तक कि व्यक्तिगत उपभोग की आवश्यकताओं तथा कृषि के लागत मूल्य में होनवाली वृद्धि ने भी, किसानों को ऋण लेने के लिए विवश किया। किसानों की तथाकथित फिजूलखर्ची जो वे जन्म, मृत्यु एवं विवाह जैसे अवसरों पर करते थे, उनकी ऋणग्रस्तता के अनेक कारणों में एक कारण था; लेकिन उनकी ऋणग्रस्तता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि उनके पास ठोस एवं निर्भर हो सकने योग्य आर्थिक आधारों का अभाव था। एक आम भारतीय किसान का आर्थिक आधार बेहद कमजोर एवं अतिशय परिवर्तनशील था। ब्रिटिश-शासन की वैधानिक व्यवस्था किसानों के हित-स्वार्थों की सुरक्षा करने के बजाय उन्हें बेहद खर्चीली, निरर्थक एवं लम्बी अवधि तक चलनेवाले मुकदमों में शामिल होने को विवश करती थी फलत: उनकी आर्थिक स्थिति और भी दयनीय होती गयी। अक्सर ऋण के रूप में ली गयी कोई बहुत छोटी और मामूली राशि, ऊँची ब्याज दरों से गुणित होकर एक इतनी बड़ी रकम बन जाती थी, जिसे चुकाने में गरीब किसान सर्वधा असमर्थ होते थे ; यहाँ तक कि कोई कर्तव्यपरायर्ण पुत्र जब अपने पिता द्वारा लिये ऋण को चुकाने का दायित्व पुन: उसे अपने पुत्र को सौंपना पड़ता था, और यह क्रम शायद ही कभी खत्म हो पाता था। नैतिक-तत्वों से रहित

सूदखोद-महाजन, किसानों की अशिक्षा और अज्ञानता का भरपूर लाभ उठाते और कागजों दस्तावेजों में जालसाजी-धोखाधड़ी के सभी हथकण्डे अपनाते थे।

ग्रामीन-ऋणग्रस्तता का तात्पर्य था, सूदखोर-महाजनों द्वारा किया जानेवाला एक ऐसा नियंत्रण जो सरकार और जमींदारों के नियंत्रणों से भिन्न एक अलग, प्रभाव रखता था। सूदखोर-महाजनों का समूह वस्तुतः मिश्रित किस्म का एक ऐसा वर्ग था जिसमें लेनदार-देनदार का संबंध वस्तुतः कृषि-भूमि के पट्टे से किसान के सम्बन्धों को पुनः व्याख्या करता था। किसान एवं उनकी भूमि पर, सूदखोर-महाजनों के नियंत्रण के दो मुख्य स्त्रोत थे जिनके फलस्वरूप किसानों की उपज पर वे अपना अधिकार रखते या कभी-कभी उनकी जमीन पर भी कब्जा जमा लेते। फिर भी, सूदखोर- महाजनों द्वारा किसानों पर रखे जानेवाले दबाव और नियंत्रण की कुछ सीमा भी थी। सामान्यतः महाजन, किसानों को कर्ज के बोझ से निरन्तर दबाये तो रखना चाहते थे किन्तु जमीन से उन्हे बेदखल करने की कोशिश नहीं करते थे।

ग्रामीण-ऋणग्रस्तता भी कभी-कभी, कृषि के व्यापारीकरण का एक कारण बनता प्रतीत होता है-बेशक। कृत्रिम एवं दबाव डालने वाला कारण। औसत साधारण किसानों की कमजोर माली-हालत को कर्ज और ब्याज ने उसी तरह कमजोर और खोखला बना दिया जैसे घुन लगने पर लकड़ी। कृषि उत्पादन में गतिहीन-ठहराव आया और किसानों की गरीबी बढ़ती गयी। जब-कभी ऐसी स्थिति में दुःख-कष्टों में हो रही अनवरत वृद्धि किसानों की सहनशीलता की अन्तिम सीमा-रेखा भी पार कर जाती, तो, किसान-विद्रोह की शक्ल में उनका गुस्सा फूट पड़ता। वर्ष 1875 ई० का 'दक्कन-दंगा' वस्तुतः रैयतवाड़ी-क्षेत्र में हुई ऐसी ही घटना थी जिसके फलस्वरूप 1879 ई० में 'डेक्कन एग्रीकल्चर रिलीफ अधिनियम' पारित हुआ। इस अधिनियम द्वारा सूदखोर-महाजनों द्वारा की जानेवाली धोखाधड़ी और हड़प नीति पर कुछ रोक लगी तथा तमाम तत्कालीन ऋण-राशियों की उगाही पर रोक लगा दी गयी। इस अधिनियम द्वारा, जमीन से किसानों को बेदखल करने पर भी रोक लगायी गयी। लेकिन, 1879 ई० अधिनियम नाकाफी साबित हुआ। ऋण और उससे सम्बन्धित ताबाही-बर्बादी पर रोक लगाने के लिए 1930-40 के बीच अनेक कानून बनाये गये जिसमें कई कॉग्रेस द्वारा गठित प्रान्तीय सरकारों ने बनाये थे वर्ष 1934 ई० में ''बंगाल मनीलेण्डर्स अधिनियम'' तथा वर्ष 1936 में ''बंगाल एग्रीकल्चरल डेटर्स अधिनियम'' पारित किया गया।

ऋणों की जाँच-पड़ताल और निपटारे के लिए ''डेट सेटलमेंट'' बोडो का गठन भी किया गया। लेकिन ये सुधार और परिवर्तन काफी देर से हुए और इनका कुछ खास प्रभाव भी नहीं पड़ा क्योंकि किसानों का ऋण-लेने की आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं था। ग्रामीण-ऋणग्रस्तता वस्तुतः गम्भीर सामाजिक-आर्थिक रोग का लक्षण था जिसने भारतीय कृषि-व्यवस्था में, बिंटिश शासन के दौरान, महामारी की भाँति फैलकर अपना प्रभाव डाला।

संदर्भ-सूची

1. वियान, जी० ''एग्रीकल्चर ट्रेन्ड्स इन इण्डिया'' 1891-1974
2. देसाई ए० आर० ''पिजेन्ट् स्ट्रगल इन इण्डिया''
3. चन्द्र विपिन ''द राईज एण्ड ग्रोथ ऑफ इकोनॉमिक नेशनलिग्म इन इण्डिया'' नई दिल्ली' 1966
4. दत्त आर० सी० 'इकोनॉमि हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' लंदन
5. ए० के० वागची : ''प्राइवेट इन्वेस्टमेह इन इण्डिया 1900-39''
6. डी० आर० गाडगिल : ''इंडस्ट्रीयल इमोत्यूशन ऑफ इण्डिया इन रिंसेट टाइम्स'' 1944

* * *

इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के बदलते आयाम

उमेश कुमार उन्मुक्त

शोध छात्र, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन का कार्य इस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के बाद 18वीं शदी में शुरू हुआ। इस्ट इण्डिया कम्पनी आरंभ में एक व्यापारिक कम्पनी थी धीरे-धीरे उसने भारतीयों की कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली। कंपनी के अधिकारियों की बढ़ती हुई प्रशासनिक जिम्मेवारियों तथा ब्रिटिश शासन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए शासितों का परम्परा, रीतिरिवाज, विधि-व्यवस्था आदि का ज्ञान आवश्यक प्रतीत हुआ। और इसी क्रम में भारतीय इतिहास का अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। 1784 ई0 में कलकता में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना हुई। तत्पश्चात 1804 ई. में बम्बई में एशियाटिक सोसायटी एवं 1823 में बीसवीं शताब्दी के प्रारंम्भिक काल तक भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में चिन्तत की तीन प्रवतियाँ देखने में आती है। इन्हें प्राचविदों, उपयोगितावादियों और राष्ट्रवदियों की विचारधात कहा जा सकता है।

प्रारंम्भ में प्राच्यविदों (orientalists) या भारतविदों (Indologists) ने भारतीय इतिहास की व्याख्या प्रस्तुत की। उनमें से जिन लोगों ने संस्कृत का अध्ययन किया, वे आर्य भाषाभाषी जनगण की संस्कृति के उत्साही प्रतिपादक बन गए। उन लोंगो ने भारतीय-यूरोपीय मूलस्थान तथा संस्कृत और यूनानी संस्कृतियों की समान पूर्वज परंपरा का सिद्धान्त विकसित किया। वैदिक युग को बढ़ा-चढ़ाकर आँका गया और प्राच्यविदों ने प्राचीन भारतीयों को खुशहाल ग्राम्य समाज के लोगो के रूप में देखा। तनाव भरी बातों को नजरअन्दाज कर दिया गया और गौरव के पक्ष पर जोर दिया गया। प्रारंम्भिक भारतविदों में विलियम जोंस की विशिष्ट भूमिका रही। किन्तु प्रारभ्कि भारतविदों में सबसे प्रसिद्ध मैक्समूलर था। मैक्समूलर ने अपरिवर्तनशील भारतीय ग्रामीण समुदाय के बारे में लिखा। उसने भारतीयों को दार्शनिकों का देश करार दिया। उसके विचार में भारतीय आध्यात्मिक या पारलौकिक समस्याओं में ही डूबे रहे और वे ऐहलौकिक समस्याओं की चिन्ता नहीं करते थे।

मैक्समूलर ने कहा था- 'यूनानियों के लिए जीवन उमंग और वास्तविकता से परिपूर्ण है, हिन्दुओं के लिए वह स्वप्न और माया है।' लोएस डिकिन्सन ने भी इसी तरह के विचार व्यक्त किए है- हिन्दु इतिहासकार नही हुए है। अपने विचार का उन्होंने भारतीय जलवायु एवं भौगोलिक परिवेश के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार भारत मे मनुष्य स्वयं को प्रकृति के समक्ष तुच्छ और असमर्थ पाता है और तत्परिणामस्वरूप उसमें अपनी नगण्यता तथा जीवन की व्यर्थता की भावना जन्म लेती है उसे जीवन की अनुभूति एक भयानक दुःस्वप्न के रूप में होती है और दुःस्वप्न का इतिहास नही हो सकता- ऐसा उनका तर्क है।

कुछ इसी प्रकार का विचार टीलहार्ड द शार्डिन का है जिनके अनुसार भारतीय अपने माया और कर्म के सिद्धांतो में विश्वास के कारण अध्यात्म में हीं डूबे रहे और अपनी अतिशय निष्क्रियता एवं निरपेक्षता की भावना के कारण उनमें विश्व निर्माण की क्षमता का अभाव दिखाई पड़ता है। वस्तुत: इन तथाकथित प्राज्यवादियों द्वारा भारत के महिमा-मंडन के पीछे उनके अपने हेतु छिपे हुए थे। इन प्रेरक हेतुओं में सबसे प्रकट हेतु वह है कि बहुत से प्राज्यविद ऐसे लोग थे जो खुद अपने समाज से बेगाने पड़ गए थे और खासतौर पर औद्योगिकरण के फलस्वरूप यूरोप में जो ऐतिहासिक परिवर्त्तन हो रहे थे, उनके बारे में उनके मन में संशय की गहरी भावना भरी थी। इसलिए वे आदर्शलोक की कहीं और तलाश करते थे और उनमें से अनेक यह समझते थे कि ऐसे आदर्शलोक प्राच्य जगत की प्राचीन संस्कृतियों में मौजूद है। प्राच्यविदों ने भारत की प्राचीन संस्कृति का जो समर्थन किया था, उसका एक दूसरा कारण यह था कि उपयोगितावादियों के साथ संघर्ष में वे मात खा रहे थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश दार्शनिकों के एक दूसरे समूह का उद्‌भव हुआ। इन दाशनिकों में जेम्स मील और बैथम जैसे विचारको के इन समूह को उपयोगितावादी विचारको के नाम से जाना जाता है। उपयोगितावादी विचारक प्राच्यवादियों के तीखे आलोचक के रूप में उभरे क्योकि उनके विचार में प्राच्यवादियों में भारतीयता के लिए एक प्रकार का सनकीपन (Indomania) देखा जा सकता था। बदले में, उपयोगितावादियों ने भारतीय पद्धति को निकृष्ट करार दिया। उनका यह पक्का विश्वास था कि भारत में अंग्रजों का आगमन एक दैवी संयोग है क्योंकि ब्रिटिश प्रशासन और कानून से भारत का पिछड़ापन खत्म हो जाएगा। उससे अब तक के निरंकुश शासकों का अटूट सिलसिला समाप्त हो जाएगा और भारत के जनगण में नई चेतना का संचार होगा। इस तरह उपयोगितावादियों के विपरीत प्राच्यवादियों ने भारतीय दुभीति (Indophobia) जैसी चेतना को प्रोत्साहित किया। भारतीय ऐतिहासिक चिन्तन को प्रभावित करने की दृष्टि से उपयोगितवादियों में सबसे विशिष्ट नाम जेम्स मील का है। मिल के ब्रिटिश भारत का इतिहास (History of British India) का सबसे महत्वपूर्ण पहलू शायद यह था कि एक दृष्टि से उसने भारतीय इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या की नींव डाली और इस तरह द्विराष्ट्र के सिद्धान्त के लिए ऐतिहासिक औचित्य प्रस्तुत किया। वह पहला इतिहासकार था जिसने भारतीय इतिहास को तीन कालों में विभाजित करने की प्रस्थापना विकसित की और इन तीन कालों का उसने नाम दिया हिन्दु सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता एवं ब्रिटिश सभ्यता किन्तु मिल द्वारा प्रदत इस नामकरण में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोनों प्रकार का दोष देखा जा सकता है।

ब्रिटिश विचारकों का भारतीय इतिहास लेखन के क्रम में एक महती उद्‌देश्य था और वह उद्‌देश्य था भारत में ब्रिटिश राज एवं उसके द्वारा भारतीय स्त्रोतों के शोषण का ऐतिहासिक औचित्य सिद्ध करना। इसके बावजूद साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का यह महत्व रहा कि इसके द्वारा भारतीय इतिहास के सुव्यवस्थित लेखन की शुरूआत की गई।

प्राचीन भारतीय इतिहास का संबंध में ब्रिटिश विचारधारा का अनिवार्यत: उन भारतीय विद्धानों की चुनौती का सामना करना पड़ा, जो जाने अनजाने भारत के सुधारवादी नेताओं के साथ-ही-साथ प्रबल राष्ट्रीय भावना तथा राजनैतिक जागरण से प्रभावित थे। रामकृष्ण परमंहस ने इस बात पर जोर दिया कि हिन्दू धर्म ने सभी धर्मो को अपने में समाविष्ट कर लिया है। उनके शिष्य विवेकानन्द और बाद में एनीबेसेण्ट ने हिन्दू धर्म का वर्चस्व सिद्ध करने का प्रयास किया। बंकिमचन्द्र ने बतलाया कि राष्ट्र के रूप में भारत के उत्थान के लिए हिन्दुत्व का पुनरूद्धार बहुत आवश्यक है। तत्पश्चात् बीसवी शताब्दी के शुरू के इतिहासकार लाजिमी तौर से राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित थे। वे ज्यादातर

प्राज्यविदों की रचनाओं का ही सहारा लेते थे और उन दिनों फिर से प्राचीन भारत का, जिसे तब प्राय: हिन्दु भारत पुकारा जाता था, काफी बढ़ चढ़ कर गौरव गान होने लगा था। जहाँ राष्ट्रवाद के साथ उपनिवेशवाद तथा एक साम्राज्यवाद-विरोधी स्थिति भी जुड़ी हो, वहाँ अतीत का गौरव मंडन वर्तमान की अपमान जनक स्थिति में एक प्रकार को सांत्वना का भी काम आता है। इसलिए जो भी अतीत के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास करता उसे गरीब-करीब ऐसी नजर से देखा जाता जैसे वह राष्ट्रवादी ध्येय पर हमला कर रहा है। विदेशी प्रभुत्व से स्वतंत्रता, जनवादी संस्थाओं, राजनीतिक प्रतिनिधित्व आदि जैसे मूल्यों की जो राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए आवश्यक थे खोज की जाती थी और पहले ही वह मान लिया जाता था कि प्राचिन काल में उनका अस्तित्व मौजूद था। इस प्रकार राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का भी अपना योगदान रहा। भारतीय विद्धानों ने राजव्यवस्था और राजनीतिक इतिहास का गंभीर अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि भारत का राजनीतिक इतिहास है और भारतीय को प्रशासन की अभिज्ञता थी।

1923 ई. मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पॉलिटिकल थ्यूरीज' में यू.एन. घेषाल ने बड़े कुशल ढंग से मेक्समूलर और ब्रूमफील्ड के इस मत का खण्डन किया कि अपनी कुछ चरित्रगत प्रवृत्तियों के कारण हिदू लोग राज्य जैसी किसी चीज की परिकल्पना नही कर सके और उनकी योजना में राज्य के हित की कोई व्यवस्था नहीं है। के.पी. जायसवाल और एस.एस. अल्लतेकर जैसे कुछ विद्वानों ने देश को शकों और कुषाणों से मुक्त कराने में भारतीय राजवंशों की भूमिका बढ़ा-चढ़ाकर दिखाई है फिर भी के. पी. जायसवाल का सबसे बड़ा श्रेय है कि भारतीय तानाशाही की कपोल कल्पना को उन्होंने धवस्त कर दिया। इसके बावजूद राष्ट्रवादी इतिहासकारों की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही कि उन्होंने मील के काल-विभाजन को चूनौती नहीं दी। एक हद तक इसका कारण यह था कि राजनीतिक और राजवंशीय इतिहास का अधययन तो जारी रहा, लेकिन सामाजिक और आर्थिक इतिहास के अधययन को करीब-करीब त्याग दिया गय।

अत: साम्राज्वादी इतिहास-लेखन को वास्तविक चुनौती मार्क्सवादी चिंतको के द्वारा मिली। डी. डी. कोसम्बी ने अपनी पुस्तक 'एन इन्ट्रोक्शन टु द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री' में इस दिशा में पहल की। यह पुस्तक राजनीतिक इतिहास से अराजनीतिक इतिहास की दिशा में एक भारी मोड़ है। वे अपनी विवेचना इतिहास की उस भौतिकवादी व्याख्या के संदर्भ में करते है जो मार्क्स द्वारा अवधारित है। वे प्राचीन भारतीय समाज, अर्थतंत्र और संस्कृति के इतिहास को उत्पादन की शक्तियों और संबंधों के विकास के अभिन्न अंग के रूप में देखते है। वस्तुत: मार्क्स ने इतिहास को मात्र अलग-अलग घटनाओं या महान व्यक्तित्वों के क्रियाकलापों की सूची के रूप में न देखकर समाज के आंतरिक संगठन तथ बदलाव को अनावृत करने के उद्‌देश्य से देखा एवं अध्ययन किया।

इस तरह मार्क्सवादी दृष्टिाकोण ने इतिहास-लेखन को एक नयी दिशा दी। परिणमत: राजवंशाीय इतिहास का महत्त्व कम होता गया। मार्क्सवादी लेखक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं पर अधिक जोड़ देते हैं और उनका संबंध-राजनीतिक गतिविधियों से जोड़ने का प्रयास करते है। वे मूलग्रंथों के स्तरण (Stratification) को देखते है और उनके पारम्परिक स्वरूप को नृवैज्ञानिक साक्ष्यों से मिलाते हैं। साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों को बढ़ाने और समझने के लिए नृतत्वशास्त्र के कुछ संबद्व निष्कर्षो का सहारा लिया गया और साथ ही साथ जलवायु और पर्यावरण संबधी कारकों को भी महत्त्व दिया गया। इस सारी प्रगाति के फलस्वरूप सहित्यिक स्रोतों के विश्लेषणात्मक अध्ययन में काफी अभिवृद्दि हुई है और इससे प्राचीन अतीत पर नया प्रकाश पड़ने लगा।

अत: प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन में बहुत-सारी परंपरागत मान्यताएँ ध्वस्त हो गई। मगध साम्राज्यवाद के उद्‌भव के पीछे कतिपय शासकों के व्यक्तिगत पराक्रम के बदले सुस्पष्ट भौतिक कारकों का तलाशा गया। उसी तरह ईसा पूर्व छठी शताब्दी में विरोधी धार्मिक पंथों के उद्‌भव को उत्पादन अधिशेष की स्थिति से जोड़ कर देखा जाने लगा। अशोक की 'धम्म नीति' को उसके उदार दृष्टिकोण को प्रतिफलन मानकर राज्य मशीनरी के सामाजिक दर्शन के रूप में मूल्यांकन किया जाने लगा। गुप्तकाल के संबंध में स्वर्णयुग एवं हिन्दु पुनर्जागरण जैसे मिथक को कपोल-कल्पित करार दिया गया। इस विषय में डी.एन झा का मत है ''उच्च वर्गो के लिए इतिहास के सभी युग स्वर्ण युग ही रहे हैं, लेकिन आम जनता के लिए वे कभी स्वर्णयुग नहीं रहे। जनता का वास्तविक स्वर्णयुग अतीत के गर्भ में नहीं बल्कि भविष्य के गर्भ मे निहित है।''

इन सबों का समन्वित परिणाम यह हुआ कि मिल के काल-विभाजन से संबंधित आधारभूत मान्यता खंडित हो गई। इसके साथ नई मान्यता यह आई कि इस्लाम के आगमन के साथ नहीं, बल्कि छठी शताब्दी के गुप्त-साम्राज्य के पतन के साथ मध्यकाल का उद्‌भव हुआ। इस मध्ययुग की अपनी कुछ विशेषताएँ थीं जो निम्नलिखित हैं- राजनीतिक क्षेत्र में सामंतवाद, आर्थिक क्षेत्र में वाणिज्य-व्यापार का पतन, मुद्रा अर्थ-व्यवस्था का पतन तथा स्वावलंबी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास, सामाजिक क्षेत्र में उपजातियों का विकास, ब्रहाणवादी वर्चस्व में वृद्धि एवं वैश्यों की स्थिति में गिरावट तथा उनका शूद्रों के समकक्ष हो जाना धर्म के क्षेत्र में तंत्रवाद एवं भक्ति का उद्‌भव, दर्शन के क्षेत्र में पारलौकिक दृष्टिकोण पर बल (शंकर का मायावाद), भाषायी क्षेत्र में क्षेत्रीय भाषाओं का उद्‌भव आदि। इस तरह मार्क्सवादी इतिहास लेखन ने कई संभावनाओं के द्वार खोल दिए इतिहास का विकास अब समाज के विकास तथा आर्थिक सदर्भो में की जाने लगी। कतिपय व्यक्तियों द्वारा इतिहास का निर्माण अब बीते दिनो की बात हो गयी। इतिहास इन सबसे निकलकर एक नए रूपान्तरण के राज्य सामान्य जन का इतिहास बनने की ओर उन्मुख हुई।

संदर्भ-सूची

1. लोएस डिकिन्सन 'ऐन एसे आन द सिविलाइजेशन आफ इण्डिया एण्ड जापान'
2. टीलहार्ड द शार्किन 'द फेनामेनन आफ मैन'
3. मैम्स मूलर 'द सेक्रेट बुब्स ऑफ इस्ट'
4. जेम्स मील 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया'
5. यू० एन० घोषाल 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दु पॉलिटिकल थ्यूरीज'
6. डी०डी० कोशम्बी 'एन इन्ट्रोडन्शन टु द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री'
7. काल मावर्स 'ए कन्ट्रीव्यूशन टू द फास्टर क्रिटिक एण्ड पॉलिटिकल इकोनामी'।
8. वी० शेक अली 'हिस्ट्री इटस श्योरी एण्ड मेथड'
9. गोविन्द चन्द्र पांडे 'इतिहास स्वरूप एंव दर्शन'
10. बुद्ध प्रकाश 'इतिहास दर्शन'

◆

इतिहास

मध्यकालीन बिहार प्रशासनिक व्यवस्था का समीक्षात्मक अध्ययन

चन्दन कुमार

यू०जी०सी० नेट उत्तीर्ण, रामजयपाल कॉलेज, छपरा

मध्यकाल में मुगलों के आगमन के साथ बिहार के इतिहास में प्रशासनिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन परिलक्षित होते है। वाबर और हुमायूँ के समय तक तुर्क अफगान शासन प्रणाली प्रचलित रही, प्रशासनिक क्षेत्र में कोई बदलाव नही आया। मुगलों के भारत में पुनर्स्थापना के बाद प्रथम वार अकबर के काल में बिहार को एक पृथक सूवे के रूप में मान्यता मिली। बिहार का प्रशासन मुगल प्रशासन के अधीन चलाया जाने लगा। चूँकि, बिहार भी मुगल साम्राज्य के सूबे में एक था, इसलिए, यहाँ भी एक 'सिपहसालार', एक 'दीवान', 'एक बख्शी', एक 'मीर अदल', एक 'सद्र', एक 'कोतवाल', एक 'मीर-ए-बहर' एक 'बाकियानवीश' नियुक्त किया जाता रहा।[1] बिहार के शासन का प्रमुख अधिकारी सूबेदार था, जिसे नाजीम भी कहा जाता था। बाद में इसे नाजीम-ए-सूबा भी कहा गया जिसका अर्थ था व्यवस्थापक या मुनतजीम।[2]

नाजीम कोई साधारण व्यक्ति नहीं होता था। वह सर्वाधिक योग्य, अनुभवी और बादशाह का विश्वासपात्र होता था। सूबेदार की नियुक्ति के लिए बादशाह की कृपा आवश्यक थी जो शाही फरमान निकाल कर सूबेदार या नाजीम की नियुक्ति करता था। अकबर के काल से ही यह नीति प्रचलित रही कि बिहार-बंगाल, दक्कन या गुजरात जैसे महत्वपूर्ण सूबों के सूबेदार पद पर, या तो साम्राज्य के सबसे विश्वस्त एवं महत्वपूर्ण व्यक्ति या शाही परिवार के शाहजादाओं को नियुक्त किया जाता था। इस काल में उमरा भी इस पद पर नियुक्त किये गए। योग्यता और उपयुक्तता के आधार पर ही सूबेदारों की नियुक्ति की जाती थी।[3] सूबेदार के सहयोग के लिए एक अतालीक की नियुक्ति की जाती थी। इस काल में जब मुगल साम्रज्य अयोग्य उत्तराधिकारियों के हाथों में आया,तब अल्पबुद्धि वाले और कमजोर सूबेदारों की सहायता अतालिकों ने की। सच पूछा जाए तो अतालीक ही सूबेदार का वास्तविक काम करते थे। इस काल में सूबेदार की सहायता के लिए परामर्शदायी समिति भी गठित की जा चुकी थी।[4] सूबेदार कब तक अपने पद पर बना रहेगा यह कहना मुश्किल था। चूँकि उसकी नियुक्ति बादशाह द्वारा होती थी, इसलिए बादशाह की कृपा और अकृपा पर ही सूबेदार अपने पद को पाने और खोने का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य प्राप्त करता था। वास्तव में निश्चित नीति के तहत ही अक्सर सूबेदारों का तबादला विभिन्न सूबों में होता रहता था। साधारणतया सूबेदार को किसी सूबे में तीन वर्षो से अधिक समय तक नहीं रखा जाता था। इस काल में बिहार में पद की अवधि की यह सीमा भी नहीं रही और यह पद तेजी से आगे-पीछे होता रहा। सूबेदार विभिन्न कार्यो का निष्पादन करता था। प्रान्त में यह बादशाह का प्रतिनिधि था और जिस तरह केन्द्र में बादशाह सर्वोपरि था उसी तरह प्रान्त में सूबेदार सवोपरि था। चूँकि प्रान्तीय शासन का वह सर्वोच्च

अधिपति था; इसलिए व्यवहार और दैनिक जीवन में उसे आदर्श उपस्थित करना पड़ता था। लेकिन, 1707 ई0 के बाद सूबेदार के पद का यह आदर्शवाद समाप्त हो गया और वह अनेक दुर्गुणो से ग्रस्त होने लगा। सूबेदार का पद स्थायी नहीं होता था और बादशाह की इच्छा होने पर या सूबेदारों द्वारा मनमानी करने पर और विद्रोहियों का साथ देने पर उसे वापस भी बुला लिया जाता था। वह बादशाह की तरह शान-शौकत नहीं कर सकता था, बादशाह के दरबार की नकल नहीं कर सकता था, हाथी के पैरों के नीचे कुचल कर किसी को दण्ड नहीं दे सकता था। संक्षेप में ये सभी अधिकार का प्रयोग सूबेदार नहीं कर सकता था जिनका उपयोग बादशाह किया करता था।[5]

सूबेदार के अनेक अधिकार और कर्त्तव्य थे। प्रान्तों में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखना उसका प्रमुख कार्य था। वह प्रान्तीय कर्मचारियों की सुरक्षा, भूमि कर की वसूली, शाही फरमानों को राज्य में लागू करने आदि का काम भी किया करता था। वह अपने कार्यों के सम्पादन में अन्य राज्यधिकारियों का सहयोग लिया करता था।[6] अपने प्रान्तीय शासन के निम्नतम पदों पर कर्मचारियों को नियुक्त करता था और उन्हें पदोन्नति भी देता था। लेकिन, अगर उच्चधिकारियों की नियुक्ति का प्रश्न उठ खड़ा होता था तब वह केन्द्रीय सरकार से परामार्श लेता था। लेकिन उसे स्पष्ट निर्देश था कि वह ऐसे व्यक्तियों को ही प्रान्तीय शासन में नियुक्त करे जो योग्य, विश्वसनीय और ईमानदार हो। सूबेदार केन्द्रीय नीति का पालन करता था, जासूसों को नियुक्त करता था, जमींदारों से राजकर वसूल करता था, न्यायाधीश का काम करता था तथा जागीर की भी देख भाल करता था।[7] उत्तर मुगल काल में बिहार का सूबेदार इन अधिकारों से समवित होकर भी उनका उपयोग नहीं कर पाया। वह संदैव गृह-कलह और उपद्रवों के चक्र-व्यूह में फँस कर अपने अधिकारों के उपभोग करने में असमर्थ रहा। इस काल में उमराओं की शक्ति अधिक बढ़ गई थी। उत्तर मुगल बादशाहों की कमजोरी के कारण उमराओं ने अपनी शक्ति और प्रभाव में निरन्तर वृद्धि की। वास्तव में इन बादशाहों की शक्ति इतनी शून्य हो गई थी कि वे उमराओ की कृपा पर निर्भर रहने लगे थे।

प्रान्तीय शासन में सूबेदार के बाद दीवान का महत्व था। उसे दीवान-ए-सूबा भी कहा जाता था। सूबेदार की तरह दीवान भी सूबा में बादशाह का प्रतिनिधि होता था। दीवान के पद का सृजन अकबर के काल में हुआ जो इस काल तक रहा। इसकी नियुक्ति भी बादशाह स्वयं करता था। दीवान-ए-सूबा के कई काम थे। प्रान्त के कर्मचारियों जैसे मुंशी, हुजूरनवीस, सूबानवीस, मुहर्रिर-ए-खालसा आदि छोटे अधिकारयों की नियुक्ति करने का उसे अधिकार था। वित्त तथा आय से सम्बन्धित कागजात उसके ही कार्यलय में रहते थे। चूँकि दीवान वित्त विभाग का अध्यक्ष था इसलिए राजस्व विभाग के सभी कर्मचारी उसके अधीन काम करते थे। अत: उसके कार्यों की तालिका लम्बी होती थी।[8] खालसा महालों की मालगुजारी वसूल करना, बकाया धन और वसूल किये गए धन का हिसाब-किताब रखना, प्रान्तीय अधिकारियों का वेतन वितरित करना, कृषि कार्य में प्रोत्साहन देना, प्रान्त के शाही खजाने पर नजर रखना, प्रान्तीय कर्मचारियों को निषिद्ध कर नहीं वसूलने देना, बजट तथा व्यय आदि का ब्यौरा तैयार करना आदि उसके कार्य थे।[9] दीवान का कार्यालय इन कार्यो से सम्बन्धित बहुतेरे अभिलेख रखता था।

प्रान्तों में सूबेदार और दीवान के कार्य इस बात की ओर संकेत करते है कि प्रान्तों में दो समानान्तर सरकारें चलती थी। बिहार में यह तथ्य और भी उजागर हो गया था। दीवान सूबेदार से अपने को कम नहीं समझता था और दोनों ही अपने अधिकार-सत्ता की वृद्धि और उसके दुरूपयोग के लिए बदनाम थे। यही कारण है कि बिहार में सूबेदारों और दीवानों के बीच कभी भी नहीं बनी[10]। प्रत्येक प्रान्त में सद्र हुआ करता था।[11] सद्र का काम था धार्मिक कार्यो का निष्पादन करना। वह सदैव इसके लिए

प्रयत्नशील रहता था कि उसके प्रान्त में इस्लाम के नियमों की अवहेलना न हो और इस्लाम का हितवर्द्धन हो। इसके लिए वह धार्मिक संस्थाओं और शिक्षालयों को आर्थिक अनुदान देता था और भूमि के रूप मे भी अनुदान देता था जिसे क्रमश: 'मदद-ए-माश' तथा 'अयेमा' कहा जाता था। उसके पास प्रान्त के धार्मिक व्यक्तियों की सूची होती थी जिनसे वह सम्पर्क रखता था। औरंगजेब तथा उसके उत्तरधिकारियों के काल में अन्य प्रान्तों की तरह बिहार में भी सद्र की शक्ति और अधिकार बढ़ गए; चूँकि औरंगजेब इस्लाम का कट्टर हिमायती था और उसके उत्तराधिकारी भी उसके ही पद-चिह्नों पर चलते थे, अत: इसके काल में इस्लाम की प्रधानता बढ़ जाने से प्रान्तीय सद्र के अधिकार और कार्य बढ़ गए थे। धार्मिक मामलों में सद्र न्यायाधीश का भी काम करते थे और झगड़ों तथा फैसलों की सूचना सूबेदार को भेज दिया करते थे।

अन्य अधिकारियों में 'काजी', 'मीर अदल' 'वाकयानवीस' तथा 'मीर बहर' 'मोतवाल' आते थे। यद्यापि इन अधिकारियों और इनके पदों का सृजन अकबर के काल में ही हो गया था,लेकिन उनकी निरंकुशता 'प्लासी की लड़ाई' तक बनी रही थी। काजी-ए-सूबा न्याय का काम करता था जिसकी नियुक्ति केन्द्र के 'काजी-उल-कुजात' की संस्तुति से बादशाह करता थ। काजी प्रान्तों के मुसलमानों के वैवाहिक तथा सम्पति सम्बन्धी मुकदमों का फैसला करता था और अपने कार्य में 'मीर अदल' 'मुफ्ती' 'स्थानीय काजी' 'मुहत्शीव और 'दरोगा-ए-अदालत' की सहायता लेता था।[12] 'मीर अदल' का पद सल्तनत काल से ही थी। मुगल काल में यह न्यायपालिका से जुड़ गया। ओरगंजेब के काल में मीर-अदल का काम बदल गया,जों कुछ भी मामले अदालत में आए, उनकी जाच-पड़ताल करना मीर-अदल का काम था जाच-पड़ताल करने के बाद वह अपनी रिपोर्ट काजी की सेवा में प्रस्तुत करता था जिसके आघार पर न्याय कार्य का सम्पादन किया जाता था। बख्शी सेना का प्रबंधक था। प्रान्तीय सेना का देखभाल करता था। वाकयानवीश गुप्तचर का काम करता था।[13] मालगुजारी की वसूली, सैनिक अभियान, सूबों की शान्ति एवं सुव्यवस्था और व्यापारियों की सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में वह सरकार को सूचना भेजा करता था। बिहार में मीर-अदल, बख्शाी या वाकयानवीश के पद की महत्ता जाती रही, क्योंकि यहाँ सूबेदार और दीवान सर्वाधिक प्रभावशाली हो गए।

प्रान्त में 'कोतवाल' की नियुक्ति की जाती थी, जो लगभग पुलिस का काम करता था। इसे मघ्यकालीन परम्परा और महत्वपूर्ण पद के होने के कारण आज के पुलिस थाने का कोतवाली थाना कहा जाता है। कोतवाल का पद मघ्य-काल में केन्द्र और प्रान्त दोनों में ही महत्व का था। कोतवाल अपने अधिकारों का गलत उपयोग कर निरंकुश और अत्याचारी भी हो सकता था। इसलिए इसकी नियुक्ति के समय सावधानी बरती जाती थी, ताकि वे अपने अधिकारों का दुरूपयोग न करें।[14] वह प्रान्त के नगरों और आस-पास के भू-भागों की सुरक्षा का ख्याल रखता था। उसके पास रजिस्टर होता था, जिसमें प्रमुख सड़कों और मकानों की सूची रहती थी, वह नौका घाट, फेरी, नाविक-कर आदि पर भी घ्यान रखता था, नगर में आने-जाने वालों की सूची भी रखता था और यात्रियों को ठहरने के लिए सरायों का प्रबन्ध भी करता था। सूबेदारों के आदेश से वह कसाइयों, शिकारियों, मेहतरों, शव ढोने वालों आदि को अलग-अलग भागों में बसाता था। रात में वह सतर्क होकर घूमता था ताकि चोरी और डकैती की घटना न बढ़े। उसका काम यह भी था कि वह यह निगरानी रखे कि प्रान्त में गुलामों को न बेचा जाए, जानवरों की हत्या न हो और अनिच्छुक विधवा को सती होने के लिए बाघ्य न किया जाय। कोतवाल की कचहरी लगती थी और वह दण्डाधिकारी भी था।[15] फौजदारी के मुकदमें कोतवाल के अधीन होते थे, तलाक, लड़ाई-झगड़े धमकी आदि से सम्बन्धित मुकदमे भी कोतवाल की कचहरी में जाते थे।

इस काल में बिहार के प्रशासन के विभाग और पदाधिकारी नए नहीं थे, मुगल शासकों ने विशेषकर अकबर ने प्रशासन में जिन विभागों का सृजन किया था और राज्यअधिकारियों के पद को जन्म दिया था,वे ही लगभग भारत में ब्रिटिश सत्ता के कायम होन तक बने रहे। बिहार के प्रशासन के संचालन में सूबेदार, दीवान, सद्र, काजी, मीर बहर, वाकयानवीश आदि प्रशासकों का महत्त्व रहा लेकिन 1707 ई० बाद को शासन में सूबेदार,दीवान और कुछ हद तक सद्र ही महत्त्वपूर्ण रहे। अन्य अधिकारी महत्त्वहीन हो गए थें। चूँकि इस काल मे परिस्थितियाँ बदल गई थीं और अन्य प्रान्तों के प्रशासन में भी कई दूगुर्ण आ चुके थे। अपनी स्वतन्त्रता तथा अहमन्यता को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए प्रान्त के बड़े अधिकारियों के इति-वृत का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

इस काल मे बिहार सूबा कई सरकारों में विभक्त था और प्रत्येक सरकार परगनों में विभक्त था। सरकारों की संख्या 7 थी- बिहार, मुंगेर, तिरहुत, रोहतास, हाजीपुर, सारण और चम्पारण। बिहार का यह प्रशासनिक विभाजन अकबर के काल में किया गया था; किन्तु यह सिलसिला उत्तर मुगल काल में भी चलता रहा।[16] परगनों की संख्या लगभग 200 थी। 1707 ई0 तक सरकारों की संख्या में वृद्धि हो गई और बिहार में 15 सरकार हो गए। और इसी प्रकार परगनों की संख्या बढ़कर 200 से 246 हो गई। सरकार का शासक फौजदार होता था और कई कार्यकारिणी अधिकारी परगनों के शासन के लिए उत्तरदायी थे।[17] फौजदार, नागरिक पुलिस और सैनिक सम्बन्धी कार्यो का सम्पादन करता था और उसे जिलाधीश, आरक्षी अधीक्षक और मिलिट्री कमान्डेंट के भी काम करने पड़ते थे। लगान सम्बन्धी कार्यो का भी वह सम्पादन करता था और अप्रत्यक्ष रूप से वह लगान अधिकारी और अमलगुजार की सहायता करता था। लेकिन सेना और पुलिस के मामलों में उसे प्रत्यक्ष रूप से अधिकार प्राप्त थे।[18]

कई परगनों को मिलाकर पुलिस थाना बना हुआ था, जो फौजदार के ही अधीन होता था। कोतवाल शहरी ऑफिसर होता था जो पुलिस और नगर के शासन का प्रधान अधिकारी था। वह मजिस्ट्रेट, पुलिस का अध्यक्ष और म्यूनिसिपैलिटी का ऑफिसर भी था।[19] कोतवाल के कई काम थे। नगर की सुरक्षा करना मजिस्ट्रेट और न्यायपति के कर्त्तव्यों को निर्वहन करना, आप नागरिकों में नैतिक जिम्मेदारी के गुणो का प्रचार-प्रसार करना, अनुचित टैक्स और मुद्रा पर नियन्त्रण रखना, बाजार और वस्तुओं की कीमत पर नियन्त्रण रखना, उत्तराधिकार-विहीन सम्पति पर घ्यान रखना, नाविक और फेरी की आय पर नियन्त्रण रखना, सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं पर घ्यान रखना, ये सारे कार्य कोतवाल के थे। निश्चित रूप से बिहार में कोतवाल के काम अधिक थे।[20] बिहार के प्रमुख नगर पटना के कोतवाल का ऑफिस आलमगंज मुहल्ले में था। इसी प्रकार मुहताशीव बाजार का ओवरसियर था और लोगों के नैतिक जीवन के लिए उत्तरदायी था। परगना में फौजदार और कोतवाल कार्यालय स्थित थे। परगना का सवोच्च अधिकारी सिकदार कहलाता था जो फौजदारी न्याय और पुलिस विभाग का प्रभावी भी होता था। परगना के काजी और अमीर क्रमशः दीवानी न्याय और राजस्व प्रशासन की देख भाल करने वाले अधिकारी थे जहाँ परगना राजनीतिक इकाई था वहीं महाल राजस्व और अर्थव्यवस्था की इकाई था। कभी-कभी परगनों को मिला कर चकला बना दिया जाता था। प्रत्येक चकले में एक अमीन और एक फौजदार हुआ करते थे।[21]

बिहार में विधि, न्याय और जेल की भी व्यवस्था थी। वास्तव में यह व्यवस्था शेरशाह के काल से ही चली आ रही थी।[22] शेरशाह ने बिहार की सफल प्रशासनिक प्रसिद्धि पाई। अकबर ने भी बहुत कुछ उस व्यवस्था का अनुशरण किया जो इस काल में भी कायम रही। हिन्दुओं के धार्मिक और सामजिक मामलों का निर्णय उनके अपने कानून के अनुसार होता था, जबकि मुसलमानों के धार्मिक

और सामाजिक मसलों के निर्णय इस्लामी कानून के अनुसार होते थे। दूसरे मामलों में हिन्दुओं और मुसलमानों के मुकदमों का फैसला इस्लाम के कानून के अनुसार ही होता था जो अच्छा नहीं था।[23] इसके अतिरिक्त गाँव के झगड़े को निपटाने के लिए ग्राम पंचायत न्याय का काम करती थी, लेकिन भयंकर अपराध, हत्या और डकैती जैसे मामलों का निपटारा ग्राम पंचायत नहीं करती थी।

बिहार की राजधानी पटने में साम्रज्य के काजी द्वारा नियुक्त एक काजी होता था। बड़े नगरों में एक काजी के अतिरिक्त एक सरकार हुआ करती थी। प्रत्येक नगर और गाँव में स्थानीय काजी हुआ करते थे। जिनकी नियुक्ति प्रान्त का काजी ही किया करता था। प्रत्येक परगने के मुख्यालय में एक काजी होता था, जो मुस्लिम कानून के अनुसार मुफ्ती की सहायता से फौजदारी मुकदमों का निपटारा किया करता था। 'सद्र' न्यायपति और धार्मिक दान तथा भेंट में दी गई भूमि तथा अन्य उपहारों का अधिकारी था। सैनिकों के लिए अलग काजी हुआ करते थे जिन्हें काजी-ए-अशकर कहा जाता था।[24]

18वीं शताब्दी के अन्त में न्याय विभाग के कायदों के संचालन का ज्ञात विवरण भागलपुर कमिश्नरी के रेकार्ड से मिलता है। इसके शाीघ्र बाद ही कम्पनी के न्यायलय कायम हूए। उस समय मुंगेर सरकार के अधीन भागलपुर परगना था, जहाँ जिला काजी रहा करता था। भागलपुर के काजी को बिहार के काजी की सनद मिलती थी। इस समय बिहार में तीन काजी हुआ करते थे-एक बड़ा काजी और दो छोटे काजी। इस काल में 'राजमहल ' एक पृथक जिला था और उसका अपना काजी था। उसकी नियुक्ति बिहार के प्रमुख काजी ने की थी। जिला के काजी को प्रमुख केन्द्रों में अपने सहायकों की नियुक्ति करने का अधिकार था। इसका अर्थ यह हुआ कि भागलपूर जिला में अपने चार नायब काजी चार जगहों के लिए थे। वे जगहें थीं-भागलपूर,कहलगाँव, बिहपूर और गोगरी।[25] नायब काजियों ने सहायक काजियों की नियुक्ति की। भागलपुर के नायब काजी के अन्दर विभिन्न जगहों पर काम करने वाले पाँच सहायक काजी थे, जबकि कहलगाँव, बिहपूर और गोगरी के नायब काजियों के अधीन तीन-तीन सहायक काजी हुआ करते थे।[26]

इस प्रकार एक जिला (परगना) में 19 काजी हुआ करते थे, जो नैयायिक प्रशासन का कार्य करने के साथ-साथ विवाह तथा मृत्यु संस्कार सम्बन्धी धार्मिक कार्यो आदि का भी सम्पादन करते थे। बिहार के लगान प्रशासन का भी इतिवृत मिलता है। बिहार में आय का मुख्य स्त्रोत राजस्व था। उर्वर क्षेत्रों की भूमि पर प्रत्यक्ष रूप से कर लगाया जाता था और स्थानीय अधिकारी राजस्व वसूल करके केन्द्रीय सरकार को भेज दिया करते थे। बिहार में राजस्व प्रशासन की अच्छी व्यवस्था शेरशाह ने स्थापित को थी। मुगलों के काल में प्रान्तीय दीवान की नियुक्ति की गई। पहले दीवान सूबेदार के अधीन हुआ करते थे। अकबर ने पहली बार दीवान को सूबेदार की अधीनता से हटा कर पृथक स्वतन्त्र अधिकार दिया। औरंगजेब के समय में राजस्व अधिकार से दीवान के कार्य अधिक बढ़ गए थे। बिहार के मुंगेर,छोटानागपूर, रोहतास, तिरहुत आदि से अधिक राजस्व की वसूली होती थी। 'अलीवर्दी' और 'जानकी राम' के काल में लगन के मद से अधिक रूपये वसूल किये गए। 1750 और 1765 ई0 के बिहार में दीवानी के क्षेत्र में सुधार हुए और 'मोहम्मद रजा खाँ के काल में (1765 ई0) बिहार की दीवानी 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' को मिल गई। लेकिन इस काल में आय और व्यय का सुनिश्चित लेखा-जोखा नहीं रहा।

बिहार में स्थानीय शासन की भी व्यवस्था की गई थी और स्थानीय शासन की इकाई परगना था। कई गाँवों को मिला कर एक परगना बनाया जाता था। मुगल शासकों ने स्थानीय शासन मे कभी भी हस्तक्षेप करने की कोशिश नहीं की। गाँव के प्रशासन के लिए प्राचीन परम्परा बनी रही। इस काल में स्थानीय शासको को केवल सचेत किया गया कि वे गाँवो या अन्य स्थानीय क्षेत्रों में उपद्रव पैदा

न होने दें और वहां शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखें। गांव का एक प्रधान होता था जिसे मुखिया और चौधरी कहा जा सकता है। दक्षिण में मुखिया को चेट्टी व पश्चिम में पटेल कहा जाता था। उसके अधीन चौकीदार, पासवान या दुसाध रहा करते थे जो गाँवो में अपराध न होने देने के लिए प्रयास करते थे।[27]

संदर्भ संकेत

1. अकबर नामा : बेवरीज भाग - 3 पृ 413
2. युदनाथ सरकार; सूबेदार अरबी के सूब शब्द से बना है, जिसका अर्थ है दिशा, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 181
3. परामात्मा शरण; पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 181
4. मीराज-ए-अहमरी; पृ० 113
5. उपरिक्त् पृ० 1417
6. परमात्मा शरण; पूवोक्त ग्रन्थ, पृ0 185-86
7. उपरिक्त् पृ० 187.
8. उपरिक्त् पृ० 191/कुरैशी पृ० 230
9. आशीवादी लाल श्रीवास्तव; अकबर दि ग्रेट, भाग-2, पृ० 120-122
10. कुरैशी; पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 173
11. अकबरनामा; बेवरिज, भाग-3, पृ० 413/परामात्मा शरण; पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 193.
12. परमात्मा शरण; पृ० 197/ आईन-ए-अकबरी, गैरत तथा सरकार, भाग-2 पृ० 42-43/ वशीर अहमद; एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस, पृ० 180
13. इरफान हबीब; एग्रेरियन सिस्टम, पृ० 296
14. इब्न हसन; दि सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दि मुगल- प० 87/परमात्मा शरण; मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 199-210
15. ट्रैवर्नियर; ट्रैवल्स इन इण्डिया, पृ० 92/मनूची, भाग-2 पृ० 292
16. आर०आर० दिवाकर/ बिहार/थ्रू दि एजेज, पृ० 511
17. उपरिवत्
18. उपरिवत्
19. उपरिवत्
20. उपरिवत्
21. के आर० कानूनगो; शेरशाह एण्ड हिज टाईम्स, पृ० 442.
22. उपरिवत्
23. फतवा-ए-आलमगीरी; पृ० 137
24. आर०आर० दिवाकर; पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 512
25. उपरिवत्, पृ० 512-513
26. उपरिवत्, पृ० 513-514
27. उपरिवत्, पृ० 516

◆

इतिहास

बौद्ध धर्म

एक विश्लेषण

डॉ० रूपक कुमार शर्मा

अतिथि व्याख्याता, प्राचीन भारतीय एवं संस्कृति विभाग, एस०एम०वी० कॉलेज, कहलगांव

भारतीय इतिहास पर ईसा पूर्व छठी शताब्दी की अमीट छाप पड़ती है, क्योंकि यह युग दार्शनिक चिंतन में गहनशीलता का साक्षी रहा है। छठी शताब्दी ई. पू. के उत्तरार्द्ध में मध्य गंगा के मैदानों में अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। माना जाता है कि इस युग में करीब 62 धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ था। इनमें से कई संप्रदाय पूर्वोत्तर भारत में रहने वाले विभिन्न समुदायों में प्रचलित धार्मिक कुप्रथाओं और जटिल अनुष्ठान विधियों के फलस्वरूप अस्तित्व में आये। विभिन्न धर्म सुधार आंदोलनों के परिणामस्वरूप जिन नवीन धर्मों का उदय और विकास हुआ, उसमें सबसे प्रमुख बौद्ध धर्म है। इस युग में धार्मिक आंदोलन का प्रबलतम रूप हम बौद्ध धर्म की शिक्षाओं और सिद्धांतों में पाते है। जैन धर्म की तरह ही बौद्ध धर्म ने भी वैदिक या ब्राह्मण धर्म को चुनौती दी।

महावीर की तरह बुद्ध ने भी अपने जीवन काल में ही अपने अनुयायियों की बड़ी संख्या बना ली। बौद्ध धर्म की शिक्षायें और सिद्धांत पालि भाषा में लिखित ग्रंथ 'त्रिपिटक' में संकलित है। यह पालि साहित्य वैदिक ग्रंथों के बाद सबसे प्राचीन रचनाओं की कोटि में आते है। बौद्ध धर्म के समुचित ज्ञान के लिए इस धर्म के त्रिरत्न- बुद्ध, धर्म और संघ तीनों का अध्ययन आवश्यक है। महात्मा बुद्ध के मृत्यु के पश्चात् भी बौद्ध धर्म फलता-फूलता रहा। इसने जैन धर्म से भी अधिक प्रभावशाली ढंग से लंबे समय तक भारतीय इतिहास को प्रभावित किया। इस बात का प्रमाण आज भी देखने को मिलता है। बौद्ध धर्म आज भी सिर्फ हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि विदेशों अर्थात चीन, जापान, श्रीलंका आदि देशों में भी फैला हुआ है।

बौद्ध धर्म का उत्थान

छठी शदी ई. पू. में बौद्ध धर्म और जैन धर्म का उत्थान एक प्रमुख घटना थी। विद्वानों ने बौद्ध धर्म के उत्थान के कारणों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है एवं बौद्ध धर्म के उत्थान के संदर्भ में विविध पक्षों एवं मतों को प्रतिपादित किया है। बौद्ध धर्म के उत्थान के संदर्भ में महत्वपूर्ण है कि इसने वर्ण व्यवस्था एवं कर्मकांडों पर आधारित ब्राह्मण धर्म का खंडन किया एवं अधिकाधिक संतुलित और स्वीकार करने योग्य समाधान प्रस्तुत किया, जो लोहे के उपयोग के फलस्वरूप समाज में आये सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण हो गया था।

कुछ विद्वानों का मत है कि समाज के मूल तत्व में आये परिवर्त्तन के कारण जैन धर्म और बौद्ध धर्म का उत्थान हुआ। इनके अनुसार ये आंदोलन उत्तर वैदिक समाज एवं यक्षों के शुद्धिकरण की ओर प्रेरित था, जो कठोर एवं शोषक प्रकृति का हो गया था। वही एक अन्य मत यह था कि बौद्ध

आंदोलन राजकीय नियंत्रण, वर्ण आधारित समाज एवं उस सामाजिक संरचना के विरूद्ध थी, जिसकी प्रकृति शोषण की थी। जिसके परिणामस्वरूप तात्कालिक व्यवस्था से असंतुष्ट विशाल जन समूह का समर्थन बौद्ध धर्म को प्राप्त होने लगा।

द्वितीय अवस्था में हम देखते है कि लोहे के प्रयोग से अर्थव्यवस्था में दूरगामी परिवर्त्तन आया। लौह आधारित कृषि के कारण बड़ी संख्या में बैलों एवं अन्य पशुओं की आवश्यकता हुई, पर उस युग में यज्ञों में दी जाने वाली बलि के कारण बड़ी संख्या में पशुओं की हत्या हो रही थी। यदि उस समय इस कृषि व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करना था तो इन हत्याओं को रोकना अनिवार्य था। ऐसी स्थिति में बुद्ध द्वारा अहिंसा एवं पशु सुरक्षा पर अधिकाधिक बल दिया गया, फलत: लोग बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए।

कृषि क्षेत्र में आये आमूल परिवर्त्तनों के फलस्वरूप व्यापार वाणिज्य का भी विकास हुआ। जिसके परिणामस्वरूप नये शहरी केन्द्रों का उदय हुआ। पंचमार्क सिक्कों के प्रचलन से इस प्रक्रिया में सुविधा होना स्वाभाविक था। इन सबके कारण वैश्यों की हैसियत बढ़ गई। वर्णाश्रय व्यवस्था आधारित समाज में वैश्यों की स्थिति तीसरे दर्जे की थी। अत: वैश्यों ने किसी ऐसे धर्म का सहारा लेना उचित समझा जो उनकी स्थिति को सुधारने में मदद दे। बौद्ध धर्म ने इस क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभाई। बौद्ध धर्म ने तात्कालिक समय में सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में हुए परिवर्त्तन को स्थिर रखने में सहयोग दिया।

सामाजिक स्थिति

''राधा कृष्णन'' जैसे विद्वानों के अनुसार बौद्ध धर्म के प्रसार का एक महत्वपूर्ण कारण बुद्ध का वास्तविक अर्थ में समकालिन समाज का प्रतिनिधित्व करना था। इस समय आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तन के परिणामस्वरूप व्यावसायिक समूहों के सामाजिक स्तर में भी व्यापक परिवर्त्तन हुआ। जिस समय वैदिक समाज ने उत्पादन में लौह तकनीक के प्रयोग और प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसी समाज की अनेक प्राचीन मान्यताएँ आर्थिक प्रगति के लिए अनुकूल नहीं थी, जैसे-समुद्री व्यापार वैदिक परंपरा के अनुसार निंदित बताया गया है, पर बौद्ध साहित्य समुद्री व्यापार के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण रखता है। यह स्वभाविक ही था, वैश्य वर्ग बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन देगा।

भारत में जन्मे किसी भी अन्य ऐतिहासिक व्यक्ति ने विश्व का बलात् इतना अधिक ध्यान आकृष्ट नहीं किया जितना बुद्ध ने किया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है, बुद्ध ने अपने समय के तेजी से बदलते समाज का विश्लेषण करने तथा मनुष्य जाति के लिए एक स्थायी समाज दर्शन प्रदान करने का अत्यंत गहन और व्यापक प्रयास किया था। बौद्ध धर्म ने एक वैकल्पिक समाज का खाका तैयार किया था। ई. पू. छठी शताब्दी के समाज में बुद्ध के समाज दर्शन की जड़ें साफ-साफ पायी जाती है। भारत में प्रारंभिक राज्य संगठन का उद्भव मुख्यत: तीन चरणों में आगे बढ़ा। प्रथम चरण में गंगा के मैदानी क्षेत्र में आर्यो के आगमन के समय की अर्धयायावर जनजातियों के एक निश्चित क्षेत्र की कई जनजातियों में संक्रमण था। द्वितीय चरण में 76 प्रमुख महाजनपदों के बीच ई. पू. की परवर्त्ती 7वीं शताब्दी और प्रारंभिक छठी शताब्दी में प्रतिद्वन्द्विता का था। तृतीय चरण ई. पू. छठी शताब्दी से चौथी शताब्दी तक की अवधि में तब पहुँचा जब इन महाजनपदों में से एक मगध ने दुसरे जनपदों पर अपना कब्जा जमा लिया था। प्रारंभिक भारत में राज्य संगठन का यह अंतिम और अत्यंत प्रगाढ़ चरण था और इस प्रक्रिया के प्रारंभ के साक्षी बुद्ध रहे थे।

इस तथ्य का साक्ष्य हम ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में निर्मित गया तथा साँची के स्तूपों में वर्णित दृश्यों में देख सकते है कि वैश्य वर्ग ने बौद्ध धर्म को अपनाकर तथा दान आदि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया। स्वयं बुद्ध के समय में ही अनाथ पिंडक तथा यश नामक श्रेष्ठियों द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करने से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है। अहिंसा मूलक बौद्ध धर्म की शिक्षायें सिद्धांत रूप में साम्राज्यवादी युद्धों के विपरीत पड़ती थी। इन युद्धों में व्यापारिक वर्ग की अधिक हानि होती थी। इस काल में समाज के धनाढ्य वर्ग को ऐसे नियम तथा सिद्धांतों की आवश्यकता थी जो व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा तथा संपत्ति के अधिकार को किसी न किसी रूप में मान्यता प्रदान करें। बौद्ध धर्म की संपत्ति संग्रह न करने की शिक्षा केवल भिक्षुओं के लिए ही सार्थक हो सकती है जबकि अस्तेय (अर्थात चोरी न करना) संपत्ति के अधिकार को अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन देता है। बौद्ध संघ में ऋणी व्यक्ति का प्रवेश वर्जित करना भी इसमें सहायक सिद्ध होता है। बौद्ध ग्रंथों में व्यापार के लिए ऋण लेने की प्रथा की चर्चा है किन्तु इसकी निंदा नहीं की गई है। ब्राह्मण धर्म में भोजन संबंधी आचार-विचार तथा गणिकाओं के प्रति दृष्टिकोण नागरिक जीवन के क्रिया-कलापों के अनुकूल नहीं था, किन्तु बौद्ध धर्म की मान्यताएँ शहरीकरण की प्रक्रिया में सहायक थी।

इस तरह हम देखते है कि आर्यो के जीवन में विभिन्न भौतिक परिवर्त्तनों ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया। आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तनों के परिणामस्वरूप व्यावसायिक समूहों के सामाजिक स्तर में भी व्यापक परिवर्त्तन हुआ। वैश्यों और शूद्रों ने विभिन्न धातु, शिल्प व्यापार और वाणिज्य को अपना प्रमुख व्यवसाय बना लिया। एक तरह से समाज का चौथा वर्ग अर्थात शूद्रों का स्थान रिक्त हो गया। अनार्यो ने भूमि जोतने का कार्य आरंभ कर दिया और वे शूद्र बनकर सामाजिक व्यवस्था में मूल शूद्रो द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति करने लगे। वैश्य और शूद्रों जो नयी आर्थिक व्यवस्था में नये व्यवसाय अपनाकर सामाजिक व्यवस्था में कुछ ऊँचे उठ गये थे, उनको उचित एवं संतोषप्रद सामाजिक एवं धार्मिक आधार नहीं मिला। शहर में रहने वाले व्यापारियों तथा अमीर खेतिहर समुदायों के पास प्रचूर संपत्ति थी। ये समुदाय स्वयं को अन्य वर्गो के बराबर मानने लगे थे। जिससे सामाजिक व्यवस्था का ढाँचा हिलने लगा था। पहले का समाज पुरोहित प्रधान था और सत्ता भी पुरोहितों में केंद्रित थी। वैश्य वर्ग जो कि आर्थिक रूप से काफी समृद्ध था, उन्हें सामाजिक वास्तविकताओं के अनुरूप अपेक्षित स्थान नहीं दिया गया था। क्षत्रिय वर्ग की सामाजिक स्थिति ब्राह्मण वर्ग के बाद थी। ये सामाजिक समुदाय उस सामाजिक व्यवस्था का विरोध कर रहे थे जो ब्राह्मणों ने वंश के आधार पर निर्धारित की थी। बौद्ध मत ने जन्म के आधार पर सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को कोई महत्त्व नहीं दिया। इसने सामाजिक व्यवस्था में कठोर स्तरीकरण को अस्वीकार कर दिया। इस कारण ब्राह्मण वर्ग से इतर वर्गो के लोगों ने बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया।

इस तरह हम देखते है कि किस तरह से बौद्ध धर्म ने समाज में फैली कुरूतियों को दूर किया है और लोगों की सामाजिक स्थिति को मजबूत किया है। इतना ही नहीं आर्थिक क्रांति की परिपक्वता से उपेक्षित एवं बहिष्कृत वर्गो की एक नयी समस्या सामने आयी, वे तत्कालीन शहरी आर्थिक क्रियाओं से तो जुड़े थे, परन्तु समाज में अपनी पहचान बनाने में असमर्थ थे, इन्हें भी बौद्ध धर्म ने आश्रय प्रदान किया। बौद्ध धर्म ने लोगों की व्यवहारिक समस्याओं में भी गहन रूचि ली और लोगों को घृणा, निर्दयता, हिंसात्मक प्रवृतियों एवं धन संचय आदि से दूर रहने का आदेश दिया। इससे सामाजिक असमानताओं में कमी आई। पहले से चली आ रही वैदिक धर्म की पद्धतियाँ अब जटिल तथा अर्थविहीन हो गई थी। बलि-यज्ञों तथा अनुष्ठानों का महत्त्व अत्याधिक बढ़ गया था। इससे इसमें आम लोगों की भागीदारी कम हो गयी थी और रूचि भी समाप्त होने लगी थी। देखते है कि

तत्कालीन कृषि व्यवस्था का आधार पशु थे, जबकि वैदिक धर्म के अन्तर्गत बलि प्रथा के चलते पशु धन की हानि हो रही थी। बौद्ध धर्म ने अहिंसा और पशु जीवन के महत्व और पवित्रता पर बल देते हुए देश में पशु संपत्ति की भावना को प्रोत्साहित किया। इससे समाज के कृषक वर्ग ने भी बौद्ध धर्म का समर्थन किया। इन सब तथ्यों के कारण बौद्ध मत के प्रसार में काफी सहायता मिली और समाज के विभिन्न वर्गो के लोगो ने बौद्ध मत को अपनाया।

बौद्ध धर्म और सफलता

बुद्ध के जीवन काल में ही बड़ी संख्या में लोग उनके अनुयायी बन गए थे। इनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् भी यह धर्म आगे भी फलता-फूलता रहा। बौद्ध धर्म को विदेशों में फैलाने में कई साम्राटों ने अग्रणी भूमिका निभाई जैसे अशोक और कनिष्क आदि। 12वीं शताब्दी तक यह धर्म भारत के बाहर चीन, मध्य एशिया, सुदुर दक्षिण पूर्व, तिब्बत आदि जगहों तक पहुँच चुका था।

इस समय तक धर्म का महत्त्व गौण हो चुका था एवं आडंबरों की प्रधानता बढ़ गई थी। वेदों और पुरोहितों की सत्ता को प्रभावशाली ढंग से चुनौती देने वाला कोई नहीं था, यज्ञ और बलि की प्रधानता बढ़ रही थी। सामाजिक जीवन भी असमानताओं और तनाव से परिपूर्ण था। ऐसी स्थिति में जब बुद्ध ने अपने उपदेश दिया, उससे जनता में एक नई आशा और उमंगे पैदा हुई और नए धर्म को बिना पुरोहितों या यज्ञ-बलियों के अपनाया जा सकता था। नए धर्म में निर्वाण की प्राप्ति के लिए छुआछुत, ऊँच-नीच तथा स्त्री-पुरूष का विभेद नहीं रखा गया। अत: समाज के सभी वर्गो का ब्राह्मण धर्म से मोह भंग हो गया और उन्होंने बुद्ध के उपदेशो को अपनाया। जिससे इस नए धर्म की लोकप्रियता बढ़ी।

बौद्ध धर्म को सफलता के शिखर पर पहुँचाने को बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। बुद्ध एक राजपरिवार में उत्पन्न होने के बावजूद, सांसारिक सुखों को त्याग कर संन्यासी का कठिन जीवन अपनाकर जनता के समक्ष एक उज्जवल आदर्श रखा। इनके इस त्याग से जनता काफी प्रभावित हुई और उन्होंने समझ लिया कि बुद्ध पूर्णत: नि:स्वार्थ भाव से जनकल्याण में लगे हुए है। अत: जनता ने उन्हें अपना समर्थन दिया। बुद्ध स्वयं लोगों से मिलते थे और उनके दु:ख दर्द का हमेशा समाधान करते थे। इस तरह से जनता के सहयोग और बुद्ध के माध्यमिक मार्ग ने बौद्ध धर्म को आगे भी फलने-फूलने का अवसर दिया। महावीर निर्वाण का मार्ग कठोर तप एवं साधना को मानते थे, परन्तु बुद्ध मध्यममार्ग द्वारा ही निर्वाण प्राप्ति की बात करते थे। जैन दर्शन के अनुसार गृहस्थों के लिए निर्वाण प्राप्त करना असंभव था, जबकि बुद्ध के अनुसार आष्टांगिक मार्ग पर चलते हुए गृहस्थों या उपासक भी निर्वाण प्राप्त कर सकते थे। बौद्धों की तरह जैनियों का संघ सुगठित नहीं था। इसे विशेष महत्त्व भी नहीं प्राप्त था। जैनधर्म ने ब्राह्मण धर्म से स्वयं को अलग और सुस्पष्ट करने का प्रयास भी नहीं किया, जबकि बौद्ध धर्म ने ऐसा किया था। इसी कारण से बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार हुआ। दोनों धर्मो के उद्धेश्यों में समानता होते हुए भी उनके आदर्शो और कार्य-कलापों में महत्वपूर्ण अन्तर था। जैन धर्म का स्वरूप जहाँ ''सुधारवादी'' था, वहीं बुद्ध के उपदेश ''क्रांतिकारी'' थे। फलत: जनता का समर्थन बौद्ध धर्म को अधिक प्राप्त हुआ। दोनों धर्मो की तुलना ''मोनियर विलियम्स'' ने समान पिता के वैसे पुत्रों सी की है, जिनका जन्म एक ही समय कुछ अंतराल के बाद हुआ था, परन्तु दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ थी। इस कारण से जैन धर्म

की अपेक्षा बौद्ध धर्म आगे की कालों में भी फलता-फूलता रहा और इसे हमेशा जनता का समर्थन प्राप्त होता रहा।

संदर्भ-सूची

1. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया
2. घोष, उपरोक्त
3. उपाध्याय गो.प्र., प्रचीन भारत का इतिहास
4. पाण्डेय, वी.सी., प्रचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
5. चट्टोपाध्याय एवं दत्त, भारतीय दर्शन
6. सत्यकेतु विद्यालंकर, मौर्य साम्राज्य का इतिहास
7. शास्त्री नीलकंठ, नंद मौर्ययुगीन भारत
8. चौधरी, हेमचंद्र राय, नंद मौर्ययुगीन भारत
9. त्रिपाठी, प्रचीन भारत का इतिहास
10. भंडारकर, डी.आर., अशोक।

❖

इतिहास

भारतीय इतिहास में बाल गंगाधर तिलक का मूल्यांकन

डॉ० रेखा चौधरी

चक्कर मैदान, मुजफ्फरपुर

स्वतंत्रता आंदोलन में तिलक की भूमिका के मूल्यांकन पर प्राय: ''सांप्रदायवाद'' और ''हिन्दू पुनरुत्थान'' के आरोपों द्वारा अड़ंगा डाला जाता रहा है। परंतु तिलक के सार्वजनिक जीवन के इतिहास का सूक्ष्म और संतुलित परीक्षण एक दूसरी ही कहानी कहता है। 1888 के करीब तिलक ने अपने पूर्व सहयोगी चिपलूंकर के साथ अंधदेशभक्त हिन्दू पुनरुत्थान के संकुचित और अलगाववादी कार्यक्रम के खिलाफ निर्णायक शुरूआत की। इसका मतलब यह नहीं कि वे हिन्दू रीतिरिवाजों के प्रति उदासीन थे। परंतु कुछ नेता अवश्य थे। अनेक मुस्लिम नेता मौलाना थे और प्राय: हिन्दू नेता आर्य समाज या ब्रह्म समाज से ताल्लुकात रखते थे। गीता में तिलक की रुचि न तो अपवाद थी और न ही उसने कोई अप्रिय आलोचना पाई। वास्तव में, तिलक की हिन्दू दर्शन में रुचि न तो पुराणपंथता से और न ही प्रतिक्रियावादी पुनरुत्थान के रुझान से उत्पन्न हुई थी।

उस समय उपनिवेशिन से प्रेरित मतों ने भारत की हर बात का मखौल उड़ाया और पश्चिमी विज्ञान तथा सभ्यता को भारत के शेष सबको समाप्त कर देने के लिए प्रोत्साहित भी किया। इनको चुनौती देता हुआ तिलक का यह एक महत्वपूर्ण कार्य था। ऐसे समय जब पश्चिमी साहित्य और मूल्यों ने ''राजभक्त'' और ''उदारपंथी'' भारतीय राजनीतिज्ञों को मोहित कर लिया था, भारतीय सांस्कृतिक रातिरिवाजों के साथ जुड़ना और उन्हें उभारकर सामने लाना किसी उत्कर्ष से कम न था। तिलक के संबंध में विशेष बात यह है कि उन्होंने कभी पश्चिम के वैज्ञानिक ज्ञान और तकनीक के साथ भारतीय रीतिरिवाजों को प्रतिपक्ष के समान पेश नहीं किया। वे विदेश-द्वेषी नहीं थे। वे यूरोप की वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक प्रगति से भारत को लाभांवित करना चाहते थे। औपनिवेशिक कार्यक्रमों के घोर आभारियों के विपरीत, उसने कोई ऐसा कारण नहीं देखा कि शिक्षित भारतवासी अपने देश की धरोहरों में रुचि रखने से परहेज करें।

गीता के बारे में तिलक

यह ध्यान देने योग्य है कि गीता पर उनकी विवेचना वास्तविक दुनिया से पलायन और त्याग को मानने वालों के लिए क्रांतिकारी है। गीता की उनकी व्याख्या समयानुकूल थी, स्वतंत्रता आंदोलन की भागीदारी को विस्तारित करने पर केंद्रीभूत थी और बहुत से मायने में गांधी की अपेक्षा उनकी अंतरदृष्टि दूरगामी थी। जबकि गांधी की दिशा आदर्शवाद की और, यहां तक कि, रहस्यवादी छायावाद की ओर उन्मुख थी। तिलक का तरीका कुशाग्रता से व्यवहारिक और वास्तविक कार्य की ओर सदैव उन्मुख होता था। हिन्दू आध्यात्मवाद में उनकी रुचि अनुभव से पैदा हुई कि ब्रिटिश भारत

में समाज शोषण जनता, समाज और देश के प्रति सामाजिक एकता और कर्तव्य की भावना को नष्ट कर रहा था। गांधी कभी-कभी एकदम स्वेच्छाचारी प्रतीत होते और जो अपनी राजनीति में अस्थिर थे, के विपरीत तिलक ने अपनी शिक्षाओं के पालन में कठोर परिश्रम किया और वही शिक्षा दी जिसका वे पालन करते थे। जबकि गांधी आम जनता के सैन्य विप्लव से डरते थे। इसलिए उसने ऐसे विचारों को आगे किया जिसने खदबदाते सामाजिक और नैतिक विरोधाभासों को अस्पष्ट एवं धुंधला किया। तिलक को ऐसी कुंठा पालने की कोई मजबूरी नहीं थी। औपनिवेशिक शोषण के गैर समझौतावादी विरोध ने उनको ''धर्म'' या कर्तव्य के दृष्टिकोण का समर्थन करने का मौका दिया और यह एक प्रकार से औपनिवेशिक शासन एवं अन्याय के विरुद्ध लड़ने में ज्यादा सुयोग्य एवं नीतिपूर्ण था।

अपने शुरूआती वर्षों में जब उन्होंने महाराष्ट्र के हिन्दू त्यौहारों में भागीदारी को प्रोत्साहित किया था, वे लोगों में विश्वास पैदा करने की इच्छा से प्रेरित हुए थे जिससे उपनिवेशन के प्रति जड़वत्ता के प्रभाव से लड़ा जा सके। इन गतिविधियों से मुस्लिमों में शत्रुता, आक्रोश और अलगाववादी भावनाएं भड़केंगी यह बात उनको कभी नहीं सूझी क्योंकि वे कभी भी नहीं चाहते थे कि दो समुदायों के मध्य कोई दरार पैदा हो और वे चाहते थे कि समस्त त्यौहारों में दोनों समुदाय भाग लेते रहें।

हिन्दू मुस्लिम एकता का महत्व

जैसे-जैसे वे राष्ट्रीय नेता की तरह परिपक्व हुए वे स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दू मुस्लिम एकता के महत्व के प्रति ज्यादा सचेत हुए। 1893 तक तिलक जान चुके थे कि कैसे औपनिवेशिक प्रशासन के ऐंग्लो इंडियन अधिकारियों के उकसाने से हिन्दू और मुस्लिम के बीच तकरारें पैदा होती थी। औपनिवेशिक प्रशसकों की ''बांटो और राज करो'' नीति के प्रति वे भुलक्कड़ नहीं थे और जानते थे कि स्वतंत्रता के उद्दश्य में वह नीति कितनी घातक थी। जेल से छूटने के बाद उसने देखा कि उनके जेल के वर्षों के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन का कैसे पराभव हो चुका था और राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति के लिए हिन्दू मुस्लिम मतभेद कितने गंभीर रोड़े बन गए थे। तिलक और कांग्रेस के उन जैसे धर्मनिरपेक्ष नेताओं ने मुस्लिम नेताओं को शांत किया, स्वतंत्रता संग्राम में वापस लाये और ''स्वराज'' के लिए मुस्लिम लीग के विश्वास को जीतने के लिए अपने प्रयासों को दुगुना किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता को सर्वोपरि मानते हुए तिलक ने 1916 के कांग्रेस-मुस्लिम लीग के समझौते को पक्का करने में सहायता की जो वास्तव में, लीग की सभी मांगों को स्वीकार करता था।

लखनऊ के 31वें कांग्रेस के राष्ट्रीय अधिवेशन के भाषण में अपने धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को इससे अधिक और क्या स्पष्ट किया जा सकता था जब उसने कहा: ''कुछ लोगों के द्वारा कहा जाता है कि हम हिन्दू और मुस्लिम भाईयों के लिए बहुत अधिक झुक चुके हैं। मुझे भरोसा है कि संपूर्ण भारत के हिन्दू समुदाय की भावना का मैं प्रतिनिधित्व करता हूं, जब मैं यह कहता हूं कि हमें इतना अधिक नहीं झुकना चाहिए था।'' उसने जोर देकर कहा कि वे भारतीय मुस्लिमों को/या कोई भी जाति के भारतीयों को/ ब्रिटिश द्वारा भारत के शासन को सौंपा जाना देखना ज्यादा पसंद करेंगे अपेक्षाकृत भारत में औपनिवेशिक सत्ता के सर्वोपरि की तरह ब्रिटिश के बने रहने के।

यद्यपि मुस्लिम लीग के राष्ट्रीय अधिवेशन के प्रति अमैत्रीपूर्ण रवैया दूर करने के तिलक के प्रयास असफल रहे और उस समय के दौरान लीग की गैर प्रजातंत्रात्मक और अतार्किक मांगों को लेकर तिलक और कांग्रेस के बीच की दूरी काफी बढ़ गई थी। इस बात को नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार से तिलक के समकालीन मुस्लिमों ने तिलक को सच्चा ''राष्ट्रवादी'' माना था। मौलाना

शौकत अली और मौलाना हसरत मुहानी जो खिलाफत आंदोलन के पक्के सदस्य और राष्ट्रीय आंदोलन के शुरूआती समर्थक थे, तिलक के प्रशंसक थे, मुस्लिम लीग से जुड़ने तक। देशबंधु चितरंजन दास के विश्वसनीय समर्थक और ''सुराजी'' मजरूल हक ने तिलक की प्रशंसा की। कांग्रेस के अध्यक्षों में से एक डॉ. अंसारी ने भी स्वीकार किया कि तिलक की दृष्टि हिन्दू प्रभुत्व की नहीं थी। एक बार मुस्लिम लीग ने विभाजन का रास्ता पकड़ लिया, मुस्लिम लीग के जिन्ना, जो पहले तिलक का मैत्रीवत् आदर करते थे, जैसे पाकिस्तान पक्षधर एवं उत्पाती ने तिलक की निंदा करना शुरू किया, उनको हिन्दू पुनरुत्थानवादी और साम्प्रदायिकवादी कहना शुरू किया। एक बार मुस्लिम लीग ने विभाजन का मोड़ दृढ़ता से पकड़ा, यह आश्चर्यजनक नहीं था कि पाकिस्तान के चितेरे तिलक के विरुद्ध तीक्षणता से मुड़ गए और तिलक के बारे में जो कुछ पहले कहा था का खंडन करना शुरू कर दिया। दो-देश नीति को इस प्रकार के खंडन-मंडन की आवश्यकता थी और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के शुरू के वर्षों में उत्साहवर्धक योगदान देने वाले तिलक के सार्वजनिक जीवन को तंगनजरी से खंडित रूप में प्रस्तुत किया गया।

यद्यपि जिन्ना समान रूप से कांग्रेस/जिसे ''हिन्दू'' संगठन कहकर त्यागा था/ पर प्रहार करने से चूकते नहीं थे, उनके तिलक के प्रहार कुछेक भारतीय उदारपंथियों में प्रतिछाया स्वरूप पाये जाते थे। परंतु पहले जैसा कहा गया है, तिलक हिन्दू संस्कृति और दर्शन में रुचि रखने वाले राष्ट्रीय नेताओं में मुश्किल से अकेले ही थे। खास विडम्बना यह थी कि उनके बड़े आलोचक खुद साम्प्रदायिकता में डूबे हुए थे और स्वतंत्र भारत में समाज के विकास और प्रौढ़ता के संबंध में प्रतिक्रियावादी तथा पुराणपंथी दृष्टिकोण रखते थे। तिलक के भारतीय आलोचक जो उन्हें ''जातिवादी'' अछूत मानते थे, वे गंभीर रूप से विभ्रांत या मिथ्यासूचित थे, परंतु संभवत: वे धर्मनिरपेक्षता की हिन्दू-दुर्भीति की भावना के वशीभूत हो चुके थे।

References

1. D. Mackenzie Brown. "The Philosophy of Bal Gangadhar Tilak: Karma vs. Jnana in the Gita Rahasya." Journal of Asian Studies, vol. 17, no. 3. (Ann Arbor: Association for Asian Studies, 1958), 204.
2. Bal Gangadhar Tilak : Edited by M K Singh, Anmol, 2008, viii, 316 p, ISBN : 8126135127, Price : Rs. 900.00 Details
3. Educational Thoughts of Lokmanya Tilak : Sudharma Joshi, Crescent, 2009
4. Encyclopaedia on Tilak, Vols. I and II : Mahesh Kumar Singh, Anmol, 2009
5. Life and Works of Bal Gangadhar Tilak : S R Sharma, Book Enclave, 2007
6. Lokmanya Tilak : A Biography : A. K. Bhagwat and G. P. Pradhan, Jaico Publishing, 2008
7. Means of Protest: Gandhi and Tilak : Madhvi Tripathi, Yking Books, 2010
8. New Phase of Human Rights : A Study of Tilak and Annie Besant : M.L. Verma, Sarup, 2010
9. Srimad Bhagavadgita Rahasya Or Karma-Yoga-Sastra (2 Vols-Set) : Bal Gangadhar Tilak. Translated by Bhalchandra Sitaram Sukthankar, Low Price, 2002
10. Swaraj as Birth Right : Role of Tilak and Annie Besant : S.R. Bakshi, Vista International, 2006
11. Tilak and Gandhi : Perspectives on Religion and Politics : Jyoti Sharma, Gyan, 2001.

❖

इतिहास

ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया एवं प्रतिगामिता के विरूद्ध बौद्ध धर्म का प्रगतिशील स्वर

दिव्यकान्त झा

श्रीकृष्ण नगर कॉलोनी, इशाकचक, भागलपुर

बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणवाद के मध्य संघर्ष भारतीय इतिहास की एक सच्चाई है।[1] मौर्य साम्राज्य के पतन और ब्राह्मणों के राज्यारोहण को ब्राह्मण प्रतिक्रिया स्वरूप देखा जाता है।[2] यह सामाजिक और धार्मिक प्रतिक्रिया की राजनैतिक अभिव्यक्ति थी। यह सही है कि वर्णभेद और जातिभेद की व्यवस्था पर निर्णायक चोट तो बौद्ध और जैन आन्दोलन भी नहीं कर पाए परन्तु जन्म आधारित श्रेष्ठता पर सतत् सवाल खड़े करते रहे।[3] जाहिर है कि इससे सर्वाधिक असुविधा ब्राह्मणों को ही हुई। मनुस्मृति को इस युग की रचना माना जा सकता है।[4] इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों की उत्कृष्टता का उत्कट् निदर्शन है।[5] बौद्धों के द्वारा की गई क्षति की पूर्ति के निमित्त ब्राह्मणों को अपनी विशिष्टताओं को बनाए रखने हेतु कुछ अतिरिक्त प्रयास भी करने पड़े जिसके तहत् काफी कठोर आचार संहिता का प्रतिपादन हुआ।[6] यह कुपित नियमन था एवं स्वाभाविक रूप से इसकी गाज शूद्रों एवं वैश्यों पर ही गिरनी थी। अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर इन्हीं का सर्वाधिक शोषण करते थे, तो अब और अधिक विशिष्टता के तर्क पर और अधिक शोषण होने लगा। बुद्ध के विचार-प्रचार और अशोक के सदाशयी क्रियान्वयन से निम्नवर्णों की बेहतरी की जो कुछ भी थोड़ी आस बंधी थी, उसे सिरे से खारिज कर दिया गया।

अशोक की धारणा थी कि धर्म के प्रचार से मानव देवताओं से मिलेंगे।[7] इसी धारण के तहत धर्म महामात्रों ने जनजातीय लोगों के बीच धर्म का प्रचार भी किया। जो धर्म प्रचारित हुआ रहा होगा, शरीर उसका जो भी रहा हो, उसकी आत्मा में बौद्ध धर्म ही बसता रहा होगा, जिससे प्रभावित होकर विशाल जनजातीय समुदाय सभ्य समाज की ओर प्रस्थान करता है। खाद्य संग्राहक न रह कर करद कृषक बनता है। यह उत्संस्करण की सुविचारित नीति थी।[8] यानी धन और जन पर सुनियोजित कब्जा। इस तरह अशोक के राजनैतिक प्रभामण्डल के तले यह बौद्धों की सुविचारित नीति का सूत्रपात था कि अधिकाधिक लोग भेदभाव रहित धर्म भी स्वीकार करें और राजस्व भी दें ताकि राजनैतिक शक्ति भी बढ़े। परन्तु इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही ब्राह्मण समाज शकों एवं यवनों को अपने में समाहित करता है। वे उत्कृष्ट योद्धा थे। और विजेता थे। इस आधार पर उनकी सामाजिक और राजनैतिक हैसियत थी। वैसे इस म्लेच्छ वर्ग का स्वाभाविक सम्मिलन तो बौद्धों के साथ होना चाहिए था क्योंकि वहां तो जाति-वर्ण, ऊँच-नीच, जन्म कर्म का कोई विचार ही नहीं था। परन्तु ब्राह्मण धर्म झटपट इन्हें क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लेता है। यहाँ उनके जन्म-कर्म का कोई विचार नहीं किया जाता। तर्क यह है कि विदेशी जातियां मूलतः क्षत्रिय हैं। मनु महाराज की व्यवस्था है द्रविण, कम्बोज, यवन,

शक, पह्लव और खस जातियां क्षत्रिय ही थी जो क्रियालोप से एवं ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हुई।[9] परन्तु पुनश्च सम्पर्क में आने के कारण उनका क्षत्रियत्व वापस लौटा हुआ माना गया एवं उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया। पतंजलि ने भी शकों को विदेशी होने के बाद भी अस्पृश्य नहीं माना है।[10] महाभारत के अनुशासन पर्व में वर्णित है कि युद्ध कर्म करना विदेशी जातियों का मूल कर्म था। अत: उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया।[11] यहां एक स्वाभाविक जिज्ञासा सप्रश्न होती है कि यदि युद्ध कर्म ही क्षत्रित्व का आधार था तो महान् धनुर्धारी कर्ण जीवन पर्यन्त सूत-पूत्र क्यों और किस आधार पर बना रहा?

विदेशी जातियों के प्रति यह सदाशयी लचीलापन कहीं आन्तरिक चुनौतियों एवं प्रतिरोधों के परिशमन हेतु बाहरी समर्थन की आवश्यकता के तहत तो नहीं था?

जीवन की व्यवस्था के संदर्भ में भी हल्की सी प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। बौद्धों द्वारा श्रमण विचार धारा को पुष्ट किया गया। जैन मत भी इसी विचार धारा का पोषक था। तत्कालीन समाज में इसका बड़ा असर देखा गया क्योंकि काफी बड़ी आबादी स्त्री-पुरुष श्रमण जीवन की ओर आकर्षित हुई। यह पहले से चले आ रहे ब्राह्मण धर्म की आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्तों के प्रतिकूल बैठता था।

बहुत संभव है कि उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप मनु ने सुव्यवस्थित गृहस्थ जीवन पर बल दिया हो। उन्होंने प्रतिपादित किया कि गृहस्थ रहते हुए ही मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वहन कर सकता है। अत: गृहस्थ आश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है।[12] अन्यत्र भी गृहस्थाश्रम की महत्ता के प्रतिपादक साक्ष्य पाये जाते हैं।[13] संन्यास को पापिष्ठा कहा गया है।[14]

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों के भिक्षु जीवन के प्रति इस युग में एक नकार का भाव स्वत: ही प्रतिक्रिया का रूप लेकर उभरता है। एक तो पहले से ही ब्राह्मण संन्यासियों की अच्छी-खासी जमात थी। उस पर जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं की बाढ़ तो वास्तव में एक बोझ थी। इसी से संदर्भित एक अन्य रोचक तथ्य विमर्श्य हो जाता है कि क्यों तत्कालीन सभी ग्रंथ चाहे बौद्ध चाहे जैन चाहे ब्राह्मण निरपवाद रूप से दान के सद्‌गुणों का बखान करते नहीं अघाते।[15] यह परजीवी जमात के पालन पोषण का सुनियोजित अभियान था, जिसमें आश्चर्य जनक रूप से सभी धर्म सम्प्रदायों में आपसी एका के दर्शन होते हैं।

इस शोध आलेख में चयनित काल विशेष के दौरान प्राचीन भारतीय इतिहास एवं समाज की आधारशिला वर्ण व्यवस्था के विकास एवं स्वरूप को लेकर भी कुछ प्रश्न उठाए गए हैं। प्रो. राम शरण शर्मा ने अपने वैदुष्य विवेचन में इस व्यवस्था के बारे में जो अभिमत दिया है वह ज्यादा सुसंगत प्रतीत होता है। वे किसानों, कारीगरों, भाड़े के मजदूरों और खेतिहर गुलामों के द्वारा उत्पन्न सामाजिक अधिशेष के उपभोग के निमित्त वर्णव्यवस्था को आविष्कृत पाते हैं।[16]

ऋग्वैदिक, उत्तर वैदिक और वैदिकोत्तर यानी आलोच्य कालावधि की और क्रमिक विकास के क्रम में अर्थव्यवस्था विकसित होती है। निर्वाह की अर्थव्यवस्था जैसे-जैसे अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यवस्था की ओर प्रयाण करती है, वर्ण व्यवस्था उतनी ही अनुदार, संकीर्ण और जटिल होती गई है। दस्तकारी और कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग से किसान भरण-पोषण से अतिरिक्त भी पैदा करने लगा। दस्तकारी में विकास ने किसानों को बेहतर औजार तो उपलब्ध कराए ही, उच्च सामाजिक तबके के लिए भोग-विलास के अवयव भी उपलब्ध कराए। यहीं पर ब्राह्मण विचारकों ने एक सर्वथा नवीन सामाजिक तंत्र की नींव डाली, ताकि आलोच्य कालावधि में आर्थिक प्रगति,

विकास एवं विस्तार का फल मजदूरों एवं कृषकों को न मिलकर राजाओं और पुरोहितों को मिले।[17] इस अद्‌भुत सामाजिक तंत्र, व्यवस्था और संगठन को वर्णव्यवस्था कहा गया।

यह जन्मगत आधारों पर लोगों को स्तरीकृत करने की मानवगत कोशिश थी,[18] न कि दैवी विधान। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें मूल उत्पादनकर्त्ता निम्नतम पायदान पर रहे और अधिशेष के व्यवस्थापक, वितरक एवं उपभोक्ता सामाजिक संगठन के शीर्ष पर विराजमान हुए। वैश्य-शूद्र श्रम पर आधारित इस सामाजिक संरचना में ब्राह्मण और क्षत्रिय, किसानों और कारीगरों द्वारा किए गए श्रम एवं तद्‌जन्य धन पर आराम की जिन्दगी जीते थे। चूंकि बौद्ध एवं जैन विचारधाराओं के 'प्रचार-प्रसार' या उस व्यवस्था के पोषकों की भाषा में कहें तो 'उकसावे' के कारण कभी-कभी इस व्यवस्था के गहरे संकट में पड़ जाने की संभावना भी सताती रही होगी।

अत: यह व्यवस्था निर्बाध चलती रहे, इसके लिए पुनर्जन्म सिद्धान्त की व्यूह रचना की गई। गौतम धर्म सूत्र में गौतम ने यह प्रतिपादन किया है कि 'अनेक जातियों तथा श्रेणियों के लोग, जो सदा अपना कर्तव्य पालन करते हुए जीवनयापन करते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त अपने सत्कर्मों का फल भोगते हैं और अपने पुण्य के अवशिष्ट भाग के प्रताप से ऐसे श्रेष्ठ देशों, जातियों तथा परिवारों में जन्म लेते हैं, जो सुन्दरता, दीर्घ जीवन, वेदज्ञान, सदाचरण, धन, सुख तथा बुद्धिमत्ता से युक्त होते हैं। जो इसके विपरीत कार्य करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और पुन: विभिन्न निम्न स्थितियों में जन्म लेते हैं।[19] आपस्तम्ब की व्यवस्था कुछ और आगे की है कि नीची जातियों के लोग यदि अपने विहित कर्तव्यों का निष्ठपूर्वक पालन करते हैं तो अगले जन्मों में उच्च जातियों में जन्म लेते हैं।[20]

मनु ने व्यवस्था दी है कि वैश्य और शूद्र अपने निर्धारित कर्मों से विच्युत न हो, नहीं तो भारी दुर्व्यवस्था फैल जाएगी।[21] लगे हाथ इन दोनों वर्णों के विहित कर्मों का भी जायजा लेते चलें, जिनमें इनका प्रधान कर्तव्य कृषि, पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य एवं सुश्रुषावार्ता इत्यादि बताया गया है। वैश्य उत्पादन एवं समृद्धि के आधार थे परन्तु सत्ता के शीर्ष पर इनकी कोई भूमिका नहीं थी। शूद्रों की स्थिति तो अत्यन्त शोचनीय थी क्योंकि उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से मानी गयी है। वह सेवक वर्ग था। उच्चवर्णों की परिचर्या ही उसका प्रधान कर्तव्य था। वह इनके जूठन और छाड़न पर ही पल सकता था।[22] और चूंकि यह उसके पिछले जन्मों का कर्मफल है इसलिए कुड़बुड़ाने का कोई कारण नहीं यदि कारण हो भी तो कोई औचित्य नहीं क्योंकि इस जन्म में अपने-अपने विहित वर्ण कर्मों को निर्लिप्त भाव से करते जाने पर ही अगले जन्मों में उच्चतर वर्णों में जन्म संभव था।

इस प्रकार एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया गया जो जगत् और जीवन में प्रतिवाद की सीमा निर्धारित करती है[23] या यूं कहें कि विरोधों की धार को भोथरा बनाती है। यह चालाक दिमाग द्वारा उसर भूमि में रूग्ण बीजों की अच्छे उर्वरकों के साथ खेती है। भावी जीवन में दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था ब्राह्मणवाद की आधारशिला है।[24] एक तो यह मलाई मार लेने की चालाकी थी और दूसरे, जन्म-जन्मांतरों तक उसे सुरक्षित रखने की साजिश भी थी। इसलिए जैसे-जैसे प्राविधिक शक्तियों के विकास के चलते अर्थव्यवस्था समृद्ध होती गई उसके अधिकाधिक लाभ हड़पने के लिए सामाजिक जकड़बन्दी बढ़ती गई। अधिग्रहण के मामले को लेकर पुरोहितों और राजाओं के मध्य भी वैमनस्य एवं कटुता के दर्शन होते हैं। परन्तु क्योंकि दोनों के हित एक ही थे अत: वैश्यों-शूद्रों के विरुद्ध एक जुट हो जाने की आपसी समझदारी उनमें विकसित हो गई थी।

कुछ विचार 'विवाह' नामक संगठन के स्वरूप और उसके निहितार्थों को लेकर भी मेरे मन-मस्तिष्क में उमड़ रहे हैं। विवाह चूंकि परिवार एवं समाज के लिए एक अत्यावश्यक संस्था थी; चार पुरुषार्थों में से एक 'काम' की वैध एवं मर्यादित अभिव्यक्ति थी, परंतु फिर भी इसे प्राचीन व्यवस्थाकारों ने, मुझे ऐसा लगता है कि, उच्चवर्णों की हित साधाना के लिए हथियार के रूप में व्यवहृत कर लिया लेकिन इस हित साधाना में उच्च वर्णों की स्त्रियों को कुछ ज्यादा ही कीमत चुकानी पड़ी।

पहले, मातृ सत्ता और स्त्रियों की अर्थिक स्वतंत्रता का विवाह के प्रकारों पर पड़ने वाला प्रभाव विश्लेष्य हो उठा है। विवाह के आठ प्रकारों में पहले चार जो धर्म्य एवं स्वीकृत प्रकार के हैं, उनमें केवल पिता की सहमति आवश्यक है और वे पहले दोनों वर्णों विशेषकर ब्राह्मणों के लिए विहित है।[25] कौटिल्य इनके धर्म्य एवं स्वीकृत होने के कारणों के पीछे पितृसत्तात्मक तत्वों की प्रमुखता बताते हैं[26] जो उचित ही प्रतीत होती है क्योंकि अधर्म्य या अस्वीकृत प्रकार जो निम्न वर्णों के लिए विहित थे, उनमें माता एवं पिता दोनों की सहमति आवश्यक थी।[27] यह विमर्श का विषय है कि माता की सहमति आवश्यक होते ही अंतिम चार प्रकार अधर्म्य क्यों हो गए?

संदर्भ संकेत एवं टिप्पणियां

1. वी. आर. अम्बेडकर, द अनटचेविल्स 1969, पृ0 147।
2. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 123।
3. सुत्तनिपात, 1.7.21; 3.5.57।
4. व्यूलर ने मनुस्मृति का काल ई. पू. 200 से 200 ई. तक के मध्य में माना है। द्र., सैक्रेड बुक्स ऑफ दि इस्ट 25 प्रस्तावना, CXIV-CXVII.

   जायसवाल ने उसे शुंगवंश में होने वाली ब्राह्मण प्रतिक्रिया का समकालीन माना है। द्र., मनु एवं याज्ञवल्कय, पृ. 25-32।
5. मनुस्मृति 1.93, उत्तम अंग (मुख) से उत्पन्न होने के कारण, क्षत्रियादि से पहले उत्पन्न होने के कारण, वेदों के धारणकर्त्ता होने के नाते ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है।

   उत्मार्गोद्भवा ज्यैष्ठ्याद ब्राह्मणश्चैव धारणात् सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मण: प्रभु:।

   कई अन्य उल्लेख भी द्रष्टव्य है, मनुस्मृति 1.95; 1.96, 1.97, 1.99 इत्यादि।
6. विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.21; इसमें सुमन्त को उद्घृत करते हुए दुराचारी ब्राह्माण के लिए प्राणदण्ड अभिहित किया गया है।

   बौधायन धर्मसूत्र, 1.10; 18.19 ब्रह्म हत्या गुरूतल्प, सुवर्ण स्तेय, सुरापान करने पर तप्त लोहे से दागकर निर्वासित कर देना चाहिए।
7. शर्मा रामशरण, प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास पृ. 158।
8. उत्संस्करण की नीति द्र. वही, पृ. 158।

   निम्न संस्कृति के लोगों का उच्चतर संस्कृति में विलयन से सम्बंधित नीति। महाकाव्य 'रामायण' की नर-वानर मैत्री क्या उत्संस्करण की नीति ही थी? या राम के द्वारा अपने हितों के निमित्त वानरों का उपयोग कर लिया गया और उन्हें अपने समाज में अपनी नियति के साथ छोड़ दिया गया। संभव है कि वानर जाति के प्रति राम की सदाशयता रही हो परंतु इस मात्र से कुछ ठोस होता है? कितने वानरों को सुसंस्कृत बनाया गया। सामाजिक- राजनैतिक संरचना में कोई पद अथवा आधार दिया गया। सभ्य समाज के अनुरूप अनुकूलित किया गया। इसकी तुलना में कम से कम अशोक ने जरूर कुछ सदाशयी क्रियान्वसन भी किया था। भले ही राजनैतिक आर्थिक हितों के लिए ही।

9. मनुस्मृति 10 43-44
    शनवैस्तु क्रियालोपादिमा: क्षत्रिय जातय:
    वृषलत्वं गत लोके ब्राह्मणादर्शनेन च। 10,43
    पौण्ड्रकाश्चौण्ड्र द्रविणा कम्बोजा यवना: शका:
    पारदापह्ल्वाशचीना किराता: दारदा: खशा:।। 10.44।
10. पतंजलि महाभाष्य 2.4.10।
11. महाभारत अनुशासन पर्व, 33,21,23।
12. मनुस्मृति, 3.77।
    यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव: तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:।
13. मनुस्मृति 6.10;।
    यथा नदी नदा: सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् तथैव श्रमिण: सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।
    व्यास स्मृति, 4, 2-4; 13-14 महाभारत शान्ति पर्व, 12.6।
14. जयशंकर मिश्र, पूर्वोक्त पृ. 231।
15. विस्तृत विवरण के लिए दृष्टव्य।
    रामशरण शर्मा, प्राचीन में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 159।
16. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 51।
17. विस्तृत विवरण के लिए देखे रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 158।
18. आर. सी. मजूमदार, ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 49।
19. गौतम धर्मसूत्र 5.8.235।
20. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, पृ. 102-3।
21. मनुस्मृति 9.418
    वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।
    तो हिच्युतौ स्वकर्मभ्य: क्षोभयेतामिदं जगत्।।
22. अर्थशास्त्र 3.7 (वैश्या ध्ययनम् यजनं दानं कृषि पाशुपाल्ये वाणिज्या च)
    मनुस्मृति 1.90 (पशुनाम रक्षणम् ...वैश्यस्य कृषिमेव च) गौतम धर्म सूत्र, 7.26
    आपस्तम्ब धर्म सूत्र, 1.1 1-7; गौतम धर्मसूत्र, 10.54-57; गौतम धर्मसूत्र 10.57-59 सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, 13, 28; दीध निकाय, 1.51; जातक, 4, 475
23. ए. स्वीत्जर, इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेव्लपमेन्ट 1956, पृ. 46।
24. जे. टी. व्हीलर, ऐन्श्येण्ट एण्ड हिन्दू इण्डिया, 1961, पृ. 46।
25. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 74-75।
26. अर्थशास्त्र, शामा शास्त्री संस्करण, 1924, 111.2 अन्यत्र भी द्र. गौतम IV, 14-15।
    विष्णु XXIV 27-28, नारद XII, 44।
    आदिपर्व, 67.10।
27. अर्थशास्त्र 111.2;। पितृ प्रमाणश्चत्वार: पूर्व धर्म्या: मातृपितृ प्रमाणरशेष:।

* * *

इतिहास

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और साम्राज्यवाद विरोधी लीग

रंगलाल कुमार

शोध छात्र, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद विरोधी, विश्व व्यापी आन्दोलनों की एक महती कड़ी के रूप में सम्बद्ध कर राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास लेखन का क्रम अभी भी काफी कमजोर है और ज्यादातर इतिहासकार इसे इस तरह उद्धृत करते आए हैं जैसे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने आप में एक स्वतंत्र और अन्य देशों के मुक्ति आन्दोलनों से पूर्णत: असम्बद्ध संघर्ष रहा है। ऐसी व्याख्यायें भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के महत्त्व और परिप्रेक्ष्य दोनों ही को घटाती है, कम करके आंकती है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को इस तरह एक संकुचित दायरे में बाँध देना, इतिहासकारों की आपसी जानकारी कम और सैद्धान्तिक-राजनीतिक दबाव के कारण ज्यादा किया गया कृत है। उपनिवेशवाद/साम्राज्यवाद विरोध की सशक्त राजनीतिक कार्रवाइयों को अंजाम देने वाले संगठनों में मुख्यत: वामपंथी आन्दोलनों को संचालित करने वाले और साम्राज्यवाद विरोधी तमाम वर्ग शक्तियों की एकता के आधार पर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों को मदद करने वाले संगठनों में एक महत्त्वपूर्ण संगठन लीग एगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म (साम्राज्यवाद विरोधी लीग) रहा है।

1920 के दशक में भारत चीन और मिश्र में उठे राष्ट्रीय जन उभार को मदद देने की नियत से इसके एक सम्मेलन को आहत करने का विचार आया था। इस सम्मेलन की प्रेरणा 1925-26 में कैटन में आहूत एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था जिसमें हांगकांग में तैनात भारतीय सैनिक अपने पद को छोड़ कर इसमें शामिल हुए थे। यही वह प्रेरणादायक स्थिति थी जिसने एशिया, अफ्रिका और दक्षिणी अमरिका में राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन करने और समसामयिक राजनीति और उसके ज्वलंत प्रश्नों पर विश्वजनमत का ध्यान आकृष्ट करने के लिए इसके सम्मेलन को बुलाने की पहल की गई थी[1]।

साम्राज्यवाद विरोधी लीग का सम्मेलन बुसेल्ज के विशाल भवन पैलेस इग्मौंट में 10 फरवरी, 1927 को शुरू हुआ था। इसमें एशिया, अफ्रिका और दक्षिण अमरीकी देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों के नेता शामिल हुए। इस कॉन्फ्रेस में उन देशों के 174 प्रतिनिधि मौजूद थे जिसमें यूरोपीय देशों और अमरीका के 70 प्रतिनिधि थे। इसमें भारत की ओर से जो प्रतिनिधि और संगठन शामिल हुए उनका विवरण है: जवाहरलाल नेहरू भारतीय राष्ट्ररीय कांग्रेस, प्रो० एम. बरकतुल्ला हिन्दुस्तान गदर पार्टी, बाकर अली मिर्जा, कक्सफोर्ड मजलीस, एस. ए. रहमान, एडिनवरा इन्डियन स्टूडेन्टस यूनियन, मुहम्मद इंडियन स्टूडेन्टस फेडरेशन पेरिस, तारिनी सिन्हा इन्डियन व्यूरो ऑफ आई. एल. सी., जयसूर्य नायक और मणिसेन हिन्दुस्तान एशोसिएसन आफ सेंट्रल यूरोप, डा० भट्ट, इन्डियन वर्कर्स वेलफेयर लीग, लंदन, ए. सी. एन. नम्वीयार, *हिन्दू*, मद्रास, गनपुले, *केशरी*, पुना, वी. चट्टोपाध्याय एसोसियसन

आफ इन्डियन जर्नालिस्ट ऑफ यूरोप, डा०नायक हैदरावाद एसोसियसन, बर्लिन ब्रांच। श्रीमती कामा इस कांग्रेस में शामिल नहीं हो पाई थी, मगर एक संदेश भेजा था।

महात्मा गाँधी को भी इस कांग्रेस में शामिल होने का निमंत्रण उनके साबरमती आश्रम के पते पर मिला था। उस पत्र के जबाव में गाँधी ने जो पत्र लीग को लिखा था वह लीग के रेकार्ड में है। गाँधी ने अपने 3 अप्रील, 1926 के पत्र में लीग को लिखे है ''मुझे आपका पत्र प्राप्त हुआ जिसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। आपके पत्र में निहित भावनाओं की मैं सराहना करता हूँ। परन्तु मैं अपने को यह भार उठाने में पूर्णत: अयोग्य समझता हूँ। दमित जनता की सेवा करने में मेरे तरीके भी सोशलिस्टों द्वारा आमतौर पर स्वीकृत तरीकों से भिन्न है और अभी प्रयोग की स्थिति में है। अतएव मैं ऐसे संगठन से संकोच करता हूँ। जिसे मैं पूर्णत: नहीं जानता और जिसकी मैं उपयोगी ढंग से सेवा नहीं कर सकता।[2] ऑल इन्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सचिव, महबूब-उल-हक ने 8 अप्रील, 1926 को कलकता से लीग के सचिव के नाम भेजे अपने पत्र में लिखा था ''आपका निमंत्रण प्राप्त हुआ। हम इस पर विचार करेगें और शीघ्र इसका उत्तर भेजेगें[3], गाँधी ने इसमें भाग लेने से इन्कार इसलिए किया कि उन्होंने इसे सोशिलिस्टों का संगठन माना, मगर नेहरू, जिन्होंने इसमें भाग लिया, की नजर में लीग का जो राजनीतिक स्वरूप था उसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है: यदि कम्यूनिस्ट इस पर अपना पूर्णत: प्रभुत्व जमाना चाहते तो काफी लोग लीग को छोड़ देते और सारी बात खत्म हो जाती। दूसरी ओर यह बात भी स्पष्ट थी कि यदि कम्यूनिस्ट लीग को छोड़ देते तो उसके संगठन में कोई जान नहीं रह जाती।[4] इस प्रकार गाँधी और नेहरू के विचारों में साम्राज्यवाद विरोधी लीग के राजनीतिक चरित्र के सम्बन्ध में मतभिन्नता थी। गाँधी के पत्र से उनका कम्युनिस्ट विरोध एक चरम पर दीखता है–वे उस किसी भी संगठन और आन्दोलन के खिलाफ थे जिसमें कम्युनिस्ट शामिल हो।

10 फरवरी को विधिवत शुरू हुई और 14 फरवरी, 1927 तक चली इस कांग्रेस का मुख्य विषय या कार्यक्रम इस प्रकार था: (1) प्रारम्भ के भाषण (2) साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक व अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों में उसके परिणाम (3) साम्राज्यवाद और युद्ध का खतरा (4) दमित देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन और साम्राज्यवादी देशों में मजदूर और साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलनों में सहयोग (5) औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी सभी देशों के मजदुर आन्दोलनों के साथ राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का तालमेल तथा (6) साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक दमन के विरूद्ध सभी शक्तियों का सम्बद्ध करके एक विश्व व्यापी संगठन का निर्माण करना। अधिवेशन को संचालित करने के लिए निर्वाचित अध्ययन मंडल में जवाहर लाल नेहरू का चुना जाना इस बात का प्रमाण था कि जिस सम्मेलन को गाँधी ने सोशलिस्टों का सम्मेलन बता कर भाग लेने से अपने को अलग रखा उसके लिए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का क्या महत्व था। प्रारम्भिक वक्ताओं में नेहरू के अलावा एस. वी. डेविज, फ्रेनर ब्रोकवे, लियू हान-सिन और सेन कत्यामा थे। अपने भाषण में नेहरू ने भारतीय सैनिकों का ब्रिटेन द्वारा अन्य देशों के दमन में इस्तेमाल की निन्दा करते हुए कहा: मैं आपको याद दिलाना चाहता हूँ कि भारतीय सैनिकों का ब्रिटेन ने अन्य देशों की जनता का दमन करने में कई बार उपयोग किया है। मैं दुख और शर्म के साथ इसे स्वीकार करता हूँ ।[4] नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में भाषण करते हुए भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का जो दृष्टिकोण रखा उसमें भी उनकी राजनीतिक समझ गाँधी की समझ से भिन्न दीखी। गाँधी अभी तक पूर्ण स्वतंत्रता की मांग का विरोध करते आ रहे थे मगर नेहरू ने उस कांग्रेस में अपना जो दृष्टिकोण रखा उसमें कहा गया

कि : हम अपने देश के लिए केवल आन्तरीक रूप में पूर्ण स्वाधीनता नहीं चाहते बल्कि हम अपनी इच्छानुसार अपने पड़ोसियों व अन्य देशों मे सम्बन्ध कायम करने की स्वतंत्रता भी चाहते है। चुकि हमारा ख्याल है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस हमें इस सहयोग का अवसर देती है इसलिए हम इसका स्वागत और अभिनन्दन करते हैं।[5] नेहरू ने लीग के इस कांग्रेस को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को मदद करने वाली एक संस्था के रूप में देखा। भारत सम्बन्धी जो प्रस्ताव इस कांग्रेस में रखा गया उसे नेहरू ने स्वयं पढ़ा था और प्रस्ताव में कहा गया था– यह कांग्रेस भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए भारतीय आन्दोलन का हार्दिक समर्थन करती है और इसका विचार है कि विश्व के जनगणों की पूर्ण स्वाधीनता के लिए विदेशी तथा हर प्रकार के शोषण से भारत की पूर्ण मुक्ति एक आवश्यक कदम है। प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि इस कांग्रेस का विश्वास है कि अन्य देशों की जनता व मजदूर इस कार्य में पूरा सहयोग देगें और विदेशी सैनिकों को बाहर भेजने और उस देश में कब्जा करने वाली सेना को बनाये रखने की कारवाइयों को रोकने के लिए कारगर कदम उठायेंगे। प्रस्ताव में आशा की गई थी कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने कार्यक्रम को भारत के किसानों व मजदूरों की पूर्ण मुक्ति पर आधारित करेगा क्योंकि बिना इसके सच्ची स्वतंत्रता नहीं हो सकती और यह विश्व के अन्य भागों के मुक्ति आन्दोलनों के साथ सहयोग करेगा।[7]

भारत और चीनी प्रतिनिधि मंडलों की तरफ से पेश एक संयुक्त घोषणा-पत्र में जिसे चीनी प्रतिनिधि मंडल के नेता लिय-हान-सिन ने पेश किया था, चीनी क्रांति को कुचलने के लिए भारतीय सैनिकों को भेजे जाने का विरोध, चीनी और भारतीय मुक्ति संघर्षों में तालमेल की बातें कही गई थी। ब्रिटिश, भारतीय और चीनी प्रतिनिधि मंडलों की तरफ से भी एक संयुक्त घोषणा-पत्र को जारी किया गया था जिसे ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल और लेबर पार्टी के नेता बेकेट ने पेश किया था और उस पर जवाहर लाल के भी हस्ताक्षर थे। इस घोषणा पत्र में कहा गया था कि साम्राज्यवादी देशों के मजदूर वर्ग को दमित देशों के मुक्ति संघर्षों के साथ मिल कर पूर्ण स्वतंत्रता के संघर्ष के लिए लड़ना चाहिए। घोषणा पत्र दमित देशों में सशस्त्र सेनाओं को रखने की कार्रवाई बंद हो और सभी सैनिक वापस बुलाए जाय। भारत ब्रिटेन और चीन के मजदूर आन्दोलनों में सहयोग करने की बाते कहीं गई थी।[8] भारतीय प्रतिनिधि मंडल की ओर से पेश किए गए एक प्रस्ताव में, जिसे नेहरू ने पेश किया था, मेसोपोटामिया से भारतीय सैनिकों की वापसी की मांग की गई थी।[9]

लीग की कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को उपनिवेशवाद बिरोधी आन्दोलनों की एक कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित करने तथा औपनिवेशिक देशों के बीच के मुक्ति की परस्पर सहायता करने की दिशा में एक अहम भूमिका का निर्वाहन किया। उसने जो घोषणा-पत्र जारी किया उसमें साम्राज्यवादी विश्वयुद्ध के खतरे से अगाह किया गया था, पराधीन देशों की जनता का साम्राज्यवादी देशों द्वारा शोषण की निन्दा की गई थी और मुक्ति आन्दोलनों के प्रति हार्दिक समर्थन का भाव प्रकट किया गया था। जेनरल डायर को ब्रिटिश सरकार द्वारा विशेष सम्मान दिए जाने का विरोध और निन्दा की गई थी और जालियांवाला बाग हत्या काण्ड को बर्बर बताते हुए डायर के कृत्यों की भर्त्सना की गई थी। घोषण-पत्र का नारा था: दमित जनगण और दमित राष्ट्र एक हो।[10]

साम्राज्यवाद विरोधी लीग की कांग्रेस को जहाँ गाँधी ने अनुपयोगी और शोसलिस्टों द्वारा संगठित मंच मानकर उसमें भाग लेने से इन्कार किया था वही जवाहरलाल नेहरू ने इसके निर्णयों को काफी महत्वपूर्ण माना। गाँधी और नेहरू के दृष्टिकोणों का यह अन्तर साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और मुक्ति संघर्षों के प्रति दृष्टिकोण का अन्तर था। मुक्ति संघर्ष की चारित्रिक विशेषता में एक व्यापक

साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा की अहमियत तथा भारत के मुक्ति संग्राम को विश्व के अन्य देशों में चल रहे मुक्ति संघर्षों की एक कड़ी और उसके साथ साम्राज्यवादी मुल्कों के मजदूर वर्ग के संघर्षों के साथ एकता की सैद्धांन्तिकता को गाँधी ने अस्वीकार किया जबकि नेहरू ने इसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के लिए काफी महत्वपूर्ण कारक माना।

ब्रुसेल्ज कांग्रेस के महत्व को समझने के कारण ही नेहरू ने उस कांग्रेस की विस्तृत रिपोर्ट भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भेजा जिसमें उन्होंने लिखा: दमित देशों में .... स्वाभाविक तौर पर और सही ही अन्य सभी भावनाओं की अपेक्षा राष्ट्रवाद को अधिक तरजीह दी जाती है। शोसलिस्ट भी इसे स्वीकार करते हैं। परन्तु वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ऐसे देशों में युग की भावनाओं के अनुकुल राष्ट्रवाद को अधिक व्यापक आधार दिया जा सकता है और वह (राष्ट्रवादी) आम जनता, किसानों और मजदूरों से तथा इनमें काम करके शक्ति प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिगत रूप से मैं इस बात से सहमत हूँ क्योंकि मैं राज्य के समाजवादी सिद्धांतों के मूल सिद्धान्तों से सहमत हूँ। नेहरू ने लीग के साथ कांग्रेस के सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न पर लिखा- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का साम्राज्यवाद विरोधी लीग से सम्बन्ध स्थापित करने का यह अर्थ नहीं है कि कांग्रेस समाजवादी कार्यक्रम को स्वीकार करे।

कांग्रेस जिस मांग को देश के हित में ठीक समझती है उसके अनुसार काम करने को पूर्णत: स्वतंत्र है[11] नेहरू ने कांग्रेस कार्य समिति को सुझाव दिया कि वह लीग से सम्बन्ध स्थापित करे तथा प्रथम योगदान के रूप में 100 पौण्ड की राशि उसे भेज दें। लीग कांग्रेस की कार्रवाई की रिपोर्ट जब नेहरू के पास स्वीटजरलैण्ड पहुँची तब उन्होंने उसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य समिति को भेज दिया और उसका प्रर्याप्त प्रचार करने का सुझाव दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने नेहरू द्वारा लीग की कांग्रेस की कार्यवाई पर कांग्रेस महासमिति की मई, 1927 की बैठक में विचार किया और नेहरू की सराहना करते हुए यह सिफारिस करने का फैसला किया कि कांग्रेस सदस्य के रूप में लीग का समर्थन करें। कांग्रेस महासमिति ने अपनी बैठक में चीनी क्रांति के प्रति अपनी एकजुटता प्रदर्शित की, चीनी क्रांतिकारियों की मदद में एक ऐम्बुलेंस सेवा दल भेजने का फैसला किया तथा सह सदस्य के रूप में लीग को 100 पौण्ड की राशि भेजने की सिफारिस की।

स्वाभाविक था कि ब्रिटिश सरकार भारत का लीग के साथ सम्पर्क को अपने लिए एक खतरनाक घटना मानती थी। उसने उसके साहित्य को डाकघरों से ही इन्टरसेप्ट करने, इसके प्रसंगवश भारत से बाहर जाने वालों का पार-पत्र न देने आदि कारवाइयों के द्वारा व्यवधान पैदा करने लगी। फिर भी साम्राज्यवाद विरोधी लीग के नेताओं ने भारत के मुक्ति संघर्ष के साथ नजदीकी सम्पर्क बनाए रखने का प्रयास किया। इसी क्रम में 1928 में सम्पन्न हुए ए.आई. टी. यू. सी. के अधिवेशन में लीग का एक प्रतिनिधि आया था।[12] लीग ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों की एकजुटता तथा साम्राज्यवादी मुल्कों के मजदूर आन्दोलनों के बीच इस तरह परस्पर सहयोग की भावना को उत्पन्न किया उसी का नतीजा था कि भारत में भी एक साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की अवधारणा को बल मिला। फिर भी, भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रही कांग्रेस पर गाँधी और गाँधीवादी वैचारिकता वाले के बहुमत के कारण कांग्रेस ने लीग के साथ सम्बन्ध में अपने सम्पर्कों को मजबूत नहीं कर सकी, मगर वामपंथी रूझान वाले तत्वों ने इसे काफी तबज्जों दिया और 1927 से 1939 के वर्षों में इसका प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर दिखा। लीग की भूमिका को भले इतिहासकार नकार दें मगर इसकी भूमिका विश्व पैमाने पर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को आगे बढ़ाने में बड़ी कामयाबी हासिल की।

संदर्भ-सूची

1. बाकर अली मिर्जा के लेख, मोडर्न रिभ्यू के अंक, मई, 1927 में डा. जी अधिकारी को उद्धृत किया गया है।
2. लीग एगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म का रेकार्ड,
3. जवाहर लाल नेहरू सेलेक्टेड वर्क्स भो. 2 ए (एम्पा.) एस. गोपाल दिल्ली, 1972 पृ. 250.521.
4. बाकर अली मिर्जा, पूर्वोद्धृत नेहरू का बयान
5. इन्डियन क्वाटरली रजिस्टर, 1927 भो. 2 पृ. 155-156.
6. बाकर अली मिर्जा, पूर्वोद्धृत।
7. उपरोद्धृत ।
8. इन्टरनेशनल प्रेस कॉरेस्पौन्डेन्स, (इन्प्रेकर), 26 फरवरी, 1927, पृ. 238.
9. जवाहर लाल नेहरू सेलेक्टेड वर्क्स पूवोद्धृत, पृ. 285.
10. मोर्डन रिभ्यू, मई, 1927, पृ. 562-564.
11. जवाहर लाल नेहरू सेलेक्टेड वर्क्स, पूर्वोद्धृत, (रंगास्वामी को लिखा गया 16 मार्च, 1927 का पत्र)

◆

प्राचीन भारत में खान खनिज एवं धातु-विज्ञान की प्रौद्योगिकी

सुमिता सहाय

शोध छात्रा, इतिहास विभाग, ति०मां०भा० विश्वविद्यालय, भागलपुर

प्राचीन भारत में खनन एवं धातु-विज्ञान की विधा सैन्धव सभ्यता के युग से ही विकासोन्मुख दशा में थी। सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, टिन, काँसा और मिश्र धातु से बने हुए धातु जैसे- काँसा (Bronge), पीतल (Brass) आदि से निर्मित विभिन्न वस्तुओं के प्रचलन के प्रमाण मेहरगढ़, हड़प्पा व मोहनजोदड़ो (पाकिस्तान) इत्यादि के उत्खनन के दौरान मिले है। सिंधू सभ्यता के निवासियों ने धातु विज्ञान एवं तकनीक के क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल की थी। उन्हें रसायन विद्या, धातु, शिल्पकला, औषधि तथा शल्य क्रिया का समुचित ज्ञान था।

सर्व प्रथम जिस प्रमुख धातु को ढुढ़ निकाला गया और जिसका इस्तेमाल औजार बनाने में किया था वह ताँबा थी। उन्हें खानो से धातुओं को निकालने एवं गलाने की कला और रंगों की प्रयोग की जानकारी प्राप्त थी। वे वहाँ भट्टियों पर ताँबा और टिन को गलाकर एक नवीन धातु काँसा का अविष्कार किया। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के दुर्ग के किनारे बड़ी-बड़ी भटिठ्यों के अवशेष पाए गए हैं, जहाँ विभिन्न धातुओं को विविध तापक्रम पर पिघलाने और अयस्क से निष्कर्षित करने के कार्य किए जाते थे। सोना, चाँदी, सीसा, टीन, ताँबा, इत्यादि सैन्धव निवासी राजपूताना, ब्लूचिस्तान, आफगानिस्तान एवं ईरान से मंगवाते थे। और फिर उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों व साँचों में ढालने का कार्य यहाँ किया जाता था।

वैदिक युग में भी धातुओं का प्रयोग का पता लगता है। ऋग्वेद का 'अयस्क' या ''अयस'' शब्द धातु के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद में वर्णित शब्द श्याम अयस का अर्थ संभवत: कॉसा होता था। परन्तु लोह्म (लोहितम्) अयस का अर्थ लोहा होता है। उत्तरवैदिक काल में खनन एवं धातु विज्ञान के क्षेत्र में एक क्रांति आ गई, जब लौह अयस्क खोज लिए गए और उनके प्रयोग प्रारंभ हुए। यजुर्वेद में कृष्ण अयस्क लौह अयस्क को इंगित करते है। यधपि वैदिक ग्रंथों में खानों के नाम और खनन की प्रविधि या प्रौधोगिकी के स्पष्ट उल्लेख नहीं है। तथापि धातुओं के उपयोग से वैदिक आर्यो का अवगत होना यह दर्शाता है, कि विविध धातुओं के अयस्कों की पहचान उनके निष्कर्षण और शोधन जैसे - कार्य पद्धतियों से वे परिचित थे।

मौर्य युग के आगमन के साथ ही पूँजी और प्रौधोगिकी के क्षेत्रों में क्रमश: अभिवृद्धि होती रही है। मौर्यो के पश्चात हर्ष वर्द्धन के शासन काल तक की अवधि के मध्य कृषि, व्यापार, कारखाने, खान एवं खनन, जैसे - विषयों का प्रर्याप्त विकास हुआ, क्यों कि इनसे राजकीय खजानों को लाभ पहुँचता था। और विदेशी आक्रमणों से राज्य की सुरक्षा भी होती थी। फलत: खानों से धातुओं के

निष्कर्षण और औजारों, हथियारों एवं आभूषणों के रूप में उनके उपयोग से लोगों के जीवन के गुणवत्ता में सुधार ला दिया है।

उपरोक्त आलोच्य अवधि के अंतर्गत अनेक स्रोतों से हमें खान एवं खनिज की जानकारी उपलब्ध होती है। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में 12 वें से 14 वें अध्याय में खनन और तत्संबंधी कारखानों के विवरण प्रस्तुत किए गए है। जो राज्य की आय के लिए आवश्यक माने जाते थे। यहाँ विभिन्न धातुओं जैसे - स्वर्ण, रजत, ताम्र, शीशा, टिन और लोहा इत्यादि के अयस्को से निष्कर्षण और उनसे शुद्धिकरण की प्रक्रिया का भी हम जिक्र पाते है।

भूगर्म से स्वर्ण प्राप्त करने के संबंध में कौटिल्य यह जानकारी प्रदान करता है कि ऐसी चट्टानों अथवा भूगर्भ क्षेत्र जो कमल, पुष्प के रंग का हो, मृदा चिकना और चमकीला हो, तो वहाँ उत्कृष्ठ श्रेणी के स्र्वण पाए जा सकते है। यदि इसके अयस्क का रंग लाल, पीला, सदृश्य हो तो इसका अर्थ हुआ मध्यम श्रेणी का स्वर्ण और यदि सिर्फ लाल हो तो वह निम्नतम गुणवत्ता वाला स्वर्ण होगा। इसी प्रकार ऐसा रजत जो पूर्णत: श्वेरा, चिकना और मृदु हो। कौटिल्य के अनुसार वह सर्वोत्तम होता है। लेकिन यदि ऐसे रजत के उपर एक आड़ी - तिरछी रेखा स्पष्ट और चमकीली हो, तथा दही के रंग का हो तो इसको भी शुद्ध रजत की श्रेणी का माना जाता है। किंतु यदि ये रंग इसके विपरित हो और ऐसा अयस्क सहजता से बिखर जाता हो तो चाँदी की अशुद्धता को दर्शाता है।

अर्थशास्त्र में स्वर्ण अयस्क को पिघलाने या गलाने की विधि का भी वर्णन हुआ है, जिसे स्वर्णपाक कहा जाता था। यह भी कहा गया है कि स्वर्ण निष्कर्षण की शुद्धता के लिए इसे पिघले हुए शीशे के साथ प्रतिक्रिया करवाया जाना चाहिए। ठीक उसी प्रकार चाँदी का शुद्धिकरण भी पिघले हुए शीशे के साथ प्रतिक्रिया करवाया जाना चाहिए। और फिर उसे शुद्ध रूप में प्राप्त किया जा सकता है। ताम्र अयस्क का पता करने के लिए कौटिल्य ने कहा कि इसके अयस्क चट्‌नों या भूगर्म में पाए जाते है। यह अयस्क सामान्यत: वजनदार, मृदु और हरे एवं लाल रंग सदृश्य होते है। इसी प्रकार शीशा के अयस्क का रंग कौए या पनडुब्बी के रंग का हो अथवा पीले और उजले रंग का हो और उन पर श्वेत लकीरों की आकृतियों उभरी रहे तो वे शीशा प्राप्त करने के लिए उच्च श्रेणी के अयस्क समझे जाएँगे। ऐसे अयस्क जो भूरे रंग के हो अथवा पकाई गई ईटों के रंग जैसे - हो तो उन्हें टिन का अयस्क मानना चाहिए।

क्रमश: लौह अयस्क के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र यह जानकारी देता है कि ये चिकने पत्थरों से बने होते है, और इनके रंग कुछ श्वेत और कुछ भूरे लाल से होते है। साथ ही यहाँ यह भी बतलाया गया है, कि यदि अयस्क की मात्रा में भारीपन हो तो ऐसा समझना चाहिए, कि इन अयस्कों से धातु अधिक मात्रा में निष्कर्षित होंगे। अर्थशास्त्र यह भी उल्लेख करता है, कि ताँबा, शीशा, टिन, लोहा, जस्ता एवं इनके मिश्र धातु बनाने के कारखाने (मंतास) खोले जाने चाहिए। इन धातुओं से बने सामान बाजारों में विक्रय के लिए भेजे जाने चाहिए और उनसे प्राप्त होने वाली आय राजकोष में जमा होते रहना चाहिए। अतएव कौटिल्य यह सुझाव देता है कि राज्य को खान राजकीय हिस्से की आय और इस सम्बन्ध में विभिन्न खानों से निकलने वाली 12 धातुओं एवं उनसे बने सामानों पर कर वसूली की जानी चाहिए।

इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार राजकीय खजाने की पूँजी में अभिवृद्धि के लिए राज्य को खनन एवं खनिज पदार्थ को सर्वाधिक महत्व दिए जाने चाहिए। वास्तव में ऐसी प्रौधोगिकी प्रगति में प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया जो शुंग, कुषाण, सातवाहन, एवं

गुप्त शासनकाल में आर्थिक स्थिति निरंतर पल्लवित पुष्पित होती रही। नागसेन कृत मिलिन्दपन्हो, पंतजलि के प्रसिद्ध ग्रंथ महाभाष्य, चरक की चरकसंहिता, सुश्रुत की संहिता, नार्गाजुनरचित रसरत्नाकर तथा स्फूटिध्वज लिखित यवनजातक जैसी- रचनाएँ समकालीन भारत की खनिज सम्पदाओं का हमें बोध कराते है। पंतजलि ने सोना के लिए इरण्य और टिन के लिए द्रव शब्द के प्रयोग किए हैं। चरक एवं सुश्रुत की संहिताओं से यह विदित होता है कि स्वर्ण, रजत, ताम्र, जस्ता, पारा, लोहा, शीशा, टिन इत्यादी का चिकित्सा के लिए विशेष कर औषधि के रूप में इस्तेमाल होता था। नार्गाजुन ने धात्विक लवण (Metallargic Salts), प्रचलित रसायन (Alchemy) और धातु विज्ञान (Metallurgy) के सम्बन्ध में अपनी विशुद्ध विवेचना प्रस्तुत की है।

स्फूटिध्वज ने कुछ धतुंओ के लिए प्रचलित नए शब्दों की जानकारी दी है। जैसे- जस्ता के लिए 'रसक' लोहा के लिए कृष्ण अयस्क और इस्पात के लिए शस्त्रम्। यद्यपि उपर्युक्त ग्रंथो में खनन क्षेत्रों के संबंध में पर्याप्त सूचना नहीं दी गई है। तथापि इस विवरण से यह तो पता चलता है कि उस काल में भी धातु निर्माण की जानकारी समकालीन निवासियों में थी। इतना ही नहीं साम्राण्य विस्तार की नीति का क्रियान्वयन अर्थ और व्यापार में अभिवृद्धि तथा सांस्कृतिक संपन्नता जैसे कारकों ने गुप्तों के राजकोष को अत्यंत समृद्ध बना दिया है। फलत: ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ प्रसारित हुई, धातुओं के उत्खनन की तकनीक और अधिक विकसित कर दी गई तथा इससे नागरिक जीवन भी खुशहाल हुआ। गुप्त काल एवं परवर्ती गुप्तकाल की कई रचनाएँ उपर्युक्त प्राति पाध विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। अमरसिंह कृत अमरकोष में विभिन्न खनिजों एवं धातुओं के वर्णन किए गए है। यहाँ लोहा के लिए 'अश्मसार' और टिन के लिए बंग जैसे- नए शब्दों के उल्लेख मिलते है। वराहमिहिर की वृहतसंहिता में धातु निर्माण की प्राक्रियाओं से संबंधित अनेक प्रसंग आए है। इस प्रसिद्ध ग्रंथ में अयस्क से स्वर्ण प्राप्त करने की विधि भट्ठियों में विभिन्न तापक्रम पर स्वर्ण अयस्क को पिघलाना विभिन्न आकृतियों में उसे ढालना तथा सोने की शुद्धता की जाँच जैसे विषयों के भी वर्णन किए गए है। चाँदी के खानों का उल्लेख रजत कर के रूप में हुआ है। लाल तप्त ताम्र अयस्क से ताँबा प्राप्त किया जा सकता है और उसे विभिन्न रूपों में ढाला भी जा सकता है। इसके अतिरिक्त धातुओं को जोड़ने के लिए व्रजसंधात कि विधि की भी चर्चा इस ग्रंथ में है। यह कहा गया है कि शीशा और काँसे को मिलाकर वज्रसंधात तैयार किया जाता था। यहाँ इस्पात के लिए शस्त्रपन शब्द प्रयुक्त हुआ है, और इसे कठोर बनाने के तरीके भी बतलाएँ गए है।

उपर्युक्त साहित्यिक श्रोतों के अलावे विदेशी यात्रियों के विवरण तथा पुरातात्विक साक्ष्य के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में खान-खनिज एवं धातु-विज्ञान की तकनीक अत्यंत समृद्ध थी। उदाहरणार्थ कर्नाटक के कोलार और हैट्टी खानों से सोना आता था। हैट्टी का स्वर्ण खान अशोक के शासन काल के पहले से ही प्रयोग में था। इसके साथ ही महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश में भी प्राचीन काल के स्वर्ण खान मिले है। चाँदी, सीसे के अर्जेन्टीकेरस अयस्क से प्राप्त किया जाता था, जो ब्लूचिस्तान और राजस्थान से मिलते थे। इसी तरह से सीसा, जस्ता और चाँदी का लगभग 500 ई. पू. से खनिज राजस्थान के जोमवार, राजपुर, दरिबा, रामपुर भगूचा, जवार इत्यादि और कर्नाटक के ईगलधल से प्राप्त होता है। हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड ने भी इस संबंध में अपने प्रकाशनों द्वारा यह सूचित किया है, कि उपर्युक्त स्थलों में खनन कार्य और उनके औधिगिक संगठन भी खड़े थे। इसके अतिरिक्त ताम्र निष्कषंण के पुरातात्विक साक्ष्य कई स्थलों से उपलब्ध हुए हैं, जैसे- गुजरात के अम्बाजी, राजस्थान के खेतड़ी काँपर वर्किंग्स, झारखण्ड (पूर्व बिहार) के सिंहभूम काँपर बेल्ट, हजारीबाग, रामगंढ़, रामचन्द्र पहाड़ इत्यादि। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि Indian Copper

Corporation Limited ने ताम्बे के उपर्युक्त उत्खनित स्थलों में से कुछ को दुबारा क्रियाशील बनाने में सफलता पाई है। प्रख्यात इतिहासकार विद्वान डी.डी. कोशाम्बी ने यह बिल्कुल सही लिखा है, कि झारखण्ड (पूर्व बिहार) के दक्षिणी पूर्वी अंचलो में ताम्र खनन विकसीत कर लिए गए थे। उत्खनन के पश्चात् हमें यह भी पता चला है, कि मौर्य साम्राज्य के समीप दो ताम्र खाने थी। (1) बारागुण्डा और (2) सिंहभूम में। यह भी कहा गया है, कि छोटानागपुर के डालभूम में स्वर्ण और ताम्र अयस्कों का उनके धातुओं का निष्कर्षण चन्द्रगुप्त मौर्य के काल से ही किया जाता था। साथ ही साथ तक्षशिला, वैशाली, प्रकाश, राजधाट इत्यादि स्थलों से खुदाई होने के उपरांत इस तथ्य के प्रमाण मिले है कि गुप्त और उत्तरगुप्त काल में भी ताम्बें का खनन और निष्कर्षण किया जाता था।

लौह – अयस्क झारखण्ड के सिंहभूम में उड़ीसा के मयूरभंज में और तमिलनाडु के तिरूचिरापल्ली एवं सलेम में कनार्टक के बेल्लारी और हिरियार में तथा मध्य-प्रदेश के बैलाडीला रॉंगघाट इत्यादि से पाए गए है। इसके अलावे आन्ध्रप्रदेश से लोह – अयस्क भी आपूर्ति की जाती थी। यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि जस्ता का सर्वप्रथम निष्कर्षण प्राचीन भारत में ही किया गया था। साथ ही साथ जंगरहित लोहे का निर्माण भी प्राचीन भारत की एक महत्वपूर्ण खोज थी। दुर्भाग्यवश इस तकनीक की जानकारी आधुनिक वैज्ञानिकों को भी नहीं है। उदाहरण के लिए दिल्ली में मेहरौली स्थित लौह-स्तम्भ के नाम उल्लेखनीय है। यह स्तम्भ 23 फीट 8 इंच लम्बा और 6 टन वजन का है। यह चौथी सदी ई0 का है। लगभग सोलह सौ वर्ष बीत जाने पर इसमें जंग नही के बराबर है। यह स्तम्भ शिल्पकारी के महान तकनीकी कौशल का प्रमाण है। अब तक इसमें जंग न लगने के कारण ऐसे लोहे की गुणवत्ता पर आश्चर्य प्रकट करना स्वाभाविक है।

इसी प्रकार इस्पात निर्माण के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय लोग परम कुशल थे। इस्पात बनाने की कला सबसे पहले भारत में ही विकसीत हुई। भारतीय इस्पात का अन्य देशों में निर्यात प्राचीन काल में होने लगा और बाद में आकर वह उत्स (Wootz) कहलाने लगा। इस्पात निर्माण के पुरातात्विक साक्ष्य कोशाम्बी, बेसनगर, तक्षशिला इत्यादी, स्थलों से मिले है। भारतीय इस्पात से मध्य एशियन के देशों में तलवार और ब्लेड बनाए जाते थे। विश्व की कोई अन्य देश इस्पात की वैसी तलवारें नहीं बना सकता था। जैसे भारतीय लोहार बनाते थे। पूर्वी एशिया से लेकर पूर्वी यूरोप तक इनके तलवारों की भारी माँग थी। विश्व का पहला हाई-कार्बन स्टील प्राचीन भारत में तैयार हुआ था।

अतः इस प्रकार प्राचीन भारतीय पुरावशेषों स्तम्भों धातुओं, भग्नावशेषों, कलाकृतियों, एवं साहित्यिक ग्रथों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में खान-खनिज एवं धातु-विज्ञान की उन्नति पराकाष्ठा पर थी। जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व में भारतीय धातु कला एवं विज्ञान की प्रौधिगिकी सर्वश्रेष्ठ स्थिति में थी। साथ ही आधुनिक भारत के नवनिर्माण में काफी सहायक सिद्ध हुई, इसके फलस्वरूप तात्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति भी प्रभावित हुई और प्रगति पथ पर निरंतर अग्रसरित हो सकी।

संदर्भ

- A.K. Biswas: *Minerals and Metals in Ancient India*, D.K. Print World, Delhi,1996
- Agrawal, D. P. : *The Copper Bronze Age in India,* New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1971.
- Agrawal, R.C. : *Aravalli, the Major Source of Copper for the Indus Civilization and Indus related Cultures*.New Delhi: Books and Books, 1984.

❖

इतिहास

चम्पारण और गाँधीजी

स्मिता कुमारी

शोध छात्रा, ति०मां० भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

महात्मा गाँधी का आगमन भारतीय जीवन के ऐसे काल में हुआ जो अत्याधिक तनावों और दबावों का समय था। राजनैतिक दृष्टि से शासक और शासित के संबंध कटुतापूर्ण विरोध के थे। एक ओर शासकों का श्रेष्ठाभिमान और तिरस्कार-भाव था दूसरी ओर शासितों का रोष और दासता की बेबसी थी। शासकों को शासितों के अभिमत की कोई परवाह न थी और वे उन्हें बुद्धि और चरित्र में अपने से हिन मानकर उनको न तो विश्वास के योग्य समझते थे न उत्तरदायित्व वहन के योग्य, उधर बौद्धिक तथा धनी वर्ग के भारतीय अपने को असहाय तथा अपमानजनक स्थिति में पाते थे जिसका विस्फोट प्राय: निष्फल षडयंत्र और आतंकवाद के रूप में होता रहता था।

चम्पारण उत्तर बिहार के तिरहुत प्रमंडल में स्थित स्वतंत्रता संग्राम में ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। गाँधीजी अफ्रीका से वापस आने के बाद भारतीय राजनीती में सक्रिय भूमिका निभाने का कार्यक्रम बना चुके थे। गाँधीजी के नेतृत्व में नवोदित राष्ट्रवाद का पहला सफल प्रयोग अहिंसा, सत्य, एवं शोषित दलित समूह के जागरण तथा उन्मुक्ति पर बल देने के कारण सर्वथा अद्वितीय था। दुनिया के इतिहास की अनेक अन्य क्रांतियों की तरह चम्पारण का आन्दोलन एक शोषणकारी आर्थिक व्यवस्था की भयंकर बुराइयों के विरूद्ध असंतोष तथा प्रतिशोध का परिणाम था। चम्पारण में यह प्रथा पूँजीवादी व्यवस्था के प्रभाव में वर्षो से कायम थी। इस प्रथा के अन्तर्गत गोरे निलहे साहब बड़े साहब बड़े पैमाने पर नील की खेती एवं उत्पादन इस क्षेत्र में करते आ रहे थे। उन्हें केवल अपने लाभ एवं मुनाफा की धून रहती थी इसके लिए इस क्षेत्र के किसान एवं ग्रामीणों के हित की कोई परवाह वे नहीं करते। बिहार में जहाँ कहीं भी नील की खेती होती थी, वहां-अन्याय एवं भयंकर शोषण का सबसे विकृत रूप दिखाई पड़ता था।

यूरोपिय निलहों द्वारा उत्तर बिहार में दो तरीके से नील की खेती करवाई जाती थी। (1) जीरात (2) आसामीवार जीरात के अन्तर्गत रैयतों के हल बैल पर गोरे निलहे नियंत्रण कर लेते थे और उन्हें बहुत कम मजदूरी का भुगतान करते थे जिस कारण किसानों की स्थिति दयनीय बन गयी थी जिस कारण उनमें असंतोष की भावना प्राप्त हो जाना स्वभाविक था। आसामीवार व्यवस्था में कोठीवाला साहब रैयतों के द्वारा उन्हीं के खेत में नील की खेती करवाते थे इस व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे प्रचलित पद्धति तीनकठिया था। यह पद्धति चम्पारण में सर्वाधिक प्रचलित था। इसके अन्तर्गत रैयत को अपने प्रति बीधा खेत में से 3 कठे में अथवा कोठी के खेत में लम्बी अवधि तक (20, 25 या 30 वर्ष) नील उपजाना पड़ता था। इसके लिए औपचारिक रूप से सट्टा के अनुसार उसे मूल्य प्राप्त करने का अधिकार होता था दूसरी ओर अनेक तरीकों से रैयतों का शोषण होता था। अपने खेत में नील उपजाने के लिए अनेक तरह से धमकी देना जबर्दस्ती बहुत कम मजदूरी देना और कभी बिना मजदूरी पर भी काम कराना, किसी कारण से अगर नील नहीं उपजा सके तो इसके लिए भारी जुर्माना

करना इस अत्याचारी एवं कठोर प्रथा की कुछ विशेषताएँ थी। जब कभी बेचारा रैयत इसके विरूद्ध आवाज उठाता था सुरक्षा की मांग करता तो निलहे साहब बड़ी कठोरता से उसे दवा देते।

1857-59 के राष्ट्रीय विप्लव के बाद के वर्षों में अत्याचारों की इस दानवीय व्यवस्था के विरूद्ध कुछ प्रयत्न किए गए। 1859 में बंगाल के नदिया और यसोहर जिलों के रैयतों में निलहों के कठोर अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाई । बंगाल और बिहार के विभिन्न भागों में उस समय इसको लेकर काफी उत्तेजना विरोधी दंगे हुए थे। हिन्दु पैट्रियट के सम्पादक हरीशचन्द्र मुखर्जी ने पीड़ित किसानों का पक्ष लिया। इसको लेकर काफी उत्तेजना फैली। यह दीनबन्धु मित्र लिखित बंगला नाटक ''नील दर्पण'' में की 1860 में अभिव्यक्त हुई।[1]

नीलहे साहबों के दु:सहन अत्याचारों से पीड़ित चम्पारण के रैयत जहाँ कहीं से भी संभव हो अपने उद्धार का मार्ग तलाश रहे थे। शीध्र ही उन्हें सही रास्ता मिला। पीड़ित लोगों ने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के मंच का उपयोग अपनी बात लोगों तक पहुँचाने के लिए किया। इन लोगों ने भारतीय, राष्ट्रीय काँग्रेस के 31वें अधिवेशन (दिसंबर 1916) के दौरान महात्मा गाँधी से भेंट की थी। यह अखिल भारतीय अधिवेशन था जिसमें पूरे भारत के 2300 प्रतिनिधि, सम्मिलित हुए थे। बिहार के कई प्रतिनिधि इसमें भाग लेने के लिए आए थे जिसमें दरभंगा के ब्रजकिशोर प्रसाद के साथ लक्ष्मण प्रसाद, भुवनेश्वर मिश्र कमलेश्वरी चरण सिन्हा और रामबहादुर प्रसाद गुप्त थे। लखनऊ अधिवेशन में बिहार से सम्बंधित दो प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए। प्रथम पटना विश्वविद्यालय विधेयक और दूसरा चम्पारण के नीलहे साहबों की ज्यादतियों और रैयतों की दयनीय स्थिति पर इस अधिवेशन में राजकुमार शुक्ल जिन्हें निलहें साहबों के अत्याचार का व्यक्तिगत कटु अनुभव था, चम्पारण के किसानों के प्रतिनिधि के रूप में लखनऊ काँग्रेस में भाग लेने के लिए आए थे। इस सम्बंध में गाँधीजी ने कहा है श्री शुक्ल बिहार के हजारों लोगों पर से नीच के कलंक को धो देने के लिए कृतसंकल्प थे।[2] नील सम्बंधी प्रस्ताव पर विषय निर्वाचनी समिति में वक्ताओं का चुनाव करते समय बिहार के प्रतिनिधियों ने गाँधीजी से बोलने का अनुरोध किया किन्तु गाँधीजी इसके लिए तैयार नहीं हुए। क्यांकि उन्हें चम्पारण के नीलहे रैयतों की कठिनाइयों की व्यक्तिगत जानकारी नहीं थी। उन्होंने कहा स्वयं ही स्थिति का निरीक्षण किए बिना मैं कुछ राय नहीं दे सकता। अत: अधिवेशन में प्रस्ताव आप हीं प्रस्तुत करें। तत्काल के लिए मुझे स्वतंत्र छोड़ दें''। काँग्रेस अधिवेशन के दूसरे दिन बाबू ब्रज किशोर प्रसाद ने निम्नलिखित प्रस्ताव किए-

यह काँग्रेस सरकार से उत्तर बिहार में यूरोपीय कोठीवाल एवं नीलेहे रैयतों के बीच तनावपूर्ण संबंधों और कृषि समस्याओं के कारणों की जाँच तथा उन्हें दूर करने के उपायों की अनुशंसा करने के हेतु अधिकारियों तथा गैर सरकारी सदस्यों की एक संयुक्त समिति नियुक्त करने का अनुरोध करती है।[3]

काँग्रेस द्वारा इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से पारित करने के पश्चात् बिहारी प्रतिनिधियों ने विशेषकर राजकुमार शुक्ल ने गाँधीजी को चम्पारण आने का अनुरोध किया। गाँधीजी आगामी मार्च या अप्रैल महिने में चम्पारण आने का कार्यक्रम बनाया। लखनऊ से बिहार लौटकर राजकुमार शुक्ल ने गाँधीजी के पास 27 नवम्बर 1917 को एक पत्र लिखा[4] '' आप दूसरों की दु:ख गाथाएँ रोज हीं सुनते रहे हैं आज हमारी भी दु:ख गाथा सुनें। हमें केवल आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि चम्पारण में आपके चरण रखते हीं उनका उसी तरह उद्धार हो जाएगा जैसे भगवान राम के चरणों के स्पर्श से अहिल्या का उद्धार हुआ था''

9 अप्रैल 1917 को कलकत्ता से चलकर पटना और मुजफ्फरपुर होते हुए गाँधीजी 15 अप्रैल 1917 को मोतिहारी पहुँचे। बिहार आने का गाँधीजी का उद्देश्य ''चम्पारण के कृषकों की स्थिति की जाँच तथा नीलहे साहबों से उनकी क्या शिकायतें थी इन बातों का अध्ययन करना था''[5] । 16 अप्रैल 1917 को गाँधीजी जसौली पट्टी गाँव पहुँचे वैशाख की प्रचंड गर्मी में भी गाँधीजी तत्काल किसानों से मिलना चाहते थे वस्तुत: उनके हृदय में जो आग जल रही थी उसकी तुलना में धूप, धूल और लू कुछ भी नहीं था[6] चन्द्रहिया गाँव पहुँचने पर चम्पारण के जिला मजिस्ट्रेट डब्लू. वी. हाइकॉक के अधिसूचना और वारन्ट के बारे जानकारी मिली जिसमें गाँधीजी को जिला छोड़ने का तत्काल आदेश दिया गया जिसे गाँधीजी ने ठुकरा दिया। गाँधीजी अपने सहकर्मियों के साथ रैयतों का बयान लेकर उनपर होने वाले अत्याचारों की जाँच जारी रखा। अपने ऊपर किए गए मुकदमें के उत्तर में उन्होंने अदालत में अपना बयान दिया'' अदालत यदि अनुमति दे तो मैंने धारा 144 के अन्तर्गत दिए गए आदेश के उल्लंघन करने का गंभीर कदम क्यों उठाया.......... एक मात्र सही और सम्मानजनक रास्ता वही है जिसका मैनें निर्णय लिया है अर्थात आदेश के उल्लंघन करने की सजा बिना किसी प्रतिरोध के स्वीकार कर लूँ। 21 अप्रैल को जिला मजिस्ट्रेट ने गाँधीजी को सूचित किया लेफ्टिनेंट गवर्नर ने उन पर से मुकदमा उठा लेने का आदेश दिया। अब तक के प्रस्तावित जाँच करने को वे स्वतंत्र थे और अधिकारियों से जो भी सहायता वे चाहे, ले सकते थे।''[7]

गाँधीजी ने इस सम्बंध में लिखा है कि देश को सविनय अवज्ञा का यह पहला प्रत्यक्ष सबक था।[8] रैयत बड़ी संख्या में अपना बयान लिखवाने आ रहे थे।[9] राजेन्द्र प्रसाद ने इस सम्बंध में लिखा है गाँधीजी का सत्य के लिए यह निर्भीक आग्रह का हमपर गहरा प्रभाव हुआ[10] वस्तुत: भय और असत्य पर विजय किसी भी महान कार्य में विजय का एक आवश्यक स्त्रोत है। गाँधीजी ने चम्पारण के रैयतों का दु:ख दूर कने का काम अपना काम बना लिया था। 22 अप्रैल 1917 को गाँधीजी बेतिया के लिए प्रस्थान किया। वे तृतीय क्षेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे। रास्ते में हर स्टेशन पर लोग उनका अभिवादन कर रहे थे। मोतिहारी की तरह यहाँ भी बयान लेने का काम चलता रहा। बेतिया में बड़ी संख्या में रैयत आकर अपना बयान लिखवाते जिसे एक विशेष दूत द्वारा गाँधीजी के पास अग्रसारित कर दिया जाता सरकारी गुप्तचर हमेशा गाँधीजी के कार्यो पर नजर रखे हुए रहता था जिसकी चिन्ता उन्हें नहीं थी। उन्होंने इस सम्बंध में लिखा है कि ''एक ओर गुप्तचर का डर किसानों के मन से दूर हो चुका था दूसरी ओर उसकी उपस्थिति अतिरंजना पर एक आवर्जना का काम करती[11] । वे नीलहे साहबों को अकारण रूष्ट नहीं करना चाहते थे बल्कि अपनी विनम्रता से उनका हृदय जीतना चाहते थे। इस हेतु प्लान्टर्स ऐसोसियेशन के सचिव से तो उन्होंने भेंट की हीं, उसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से भी वे कई प्लान्टरों से वे मिले। इनमें से कुछ तो उनके प्रति घोर दुर्भावना रखते थे, कुछ उदासीन थे और कुछ अन्य ने उनके साथ शिष्टता पूर्वक बातचीत की।[13]

चम्पारण में स्थिति की गंभीरता का अंदेशा सरकार को हो गया था। सरकार की ओर से गाँधीजी को चम्पारण में कृषि की स्थिति की जाँच करने के लिए एक जाँच समिति की नियुक्ति की गयी। गाँधीजी ने इसका सदस्य बनने में अपनी स्वीकृति इस शर्त पर दे दी कि वे जाँच के क्रम में अपने सहकर्मियों से परामर्श करने को स्वतंत्र होंगे। तदनुसार भारत सरकार की सहमति से निम्नलिखित व्यक्तियों की समिति की नियुक्ति की गई–

अध्यक्ष	एफ. जी. सलाई, आयुक्त मध्यप्रदेश
सदस्य	श्री एल. सी. ऐडमी, आई सी. एस., सुपरिटेंडेन्ट एण्ड रिमेम्बरेंसर ऑफ लीगल एफेयर्स बिहार-उड़ीसा

राजा हरिहर प्रसाद नारायण सिंह, सदस्य बिहार उड़ीसा-विधान सभा
श्री डी. जे. रीड, सदस्य बिहार-उड़ीसा विधान परिषद
श्री जी. रेनी, आई.सी.एस., भारत सरकार के उपवित्त सचिव
श्री एम. के. गाँधी,
सचिव ई.एल.टैनर, आई.सी.एस., सेंटलमेंट पदाधिकारी, दक्षिण बिहार

3 अक्टूबर 1917 को समिति ने सर्वसम्मति से एक रिपोर्ट बिहार सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। सरकार ने प्राय: सभी अनुशंसाएँ स्वीकार कर ली। 18 अक्टूबर 1917 को इस आशय की अधिसूचना प्रकाशित कर दी गई[14]। लेफ्टिनेंट गर्वनर ने समिति के सभी सदस्यों को सभी पक्षों का स्वीकारणीय समझौता की शर्तो अभिस्तावित करने तथा उसके हेतु उन्होंने जो परिश्रम किया था उसके लिए धन्यवाद ज्ञापित किया[15] मुख्य अनुशंसाएँ इस प्रकार थी।

(1) तीनकठिया प्रथा नील या कोई भी अन्य फसल उपजाने हेतु पूर्णतया समाप्त कर दी जानी चाहिए।

(2) नील उपजाने के लिए यदि किसी भी प्रकार की बंदोवस्ती की आवश्यकता हो तो वह स्वेच्छापूर्वक हो।

(3) मोतिहारी और पिपरा संस्थानों में परिवर्द्धित मालगुजारी दरें 26 प्रतिशत कम कर दी जाएँ। तुरकौलिया में 20 प्रतिशत कम कर दी जाय।

(4) अववाव की वसूली सर्वथा गैरकानूनी है। भविष्य में उनके खतियान में लिखित मालगुजारी सरह से अधिक जमीन्दारों को भुगतान नहीं करना है।

(5) रैयतों के वारिसों के नाम दर्ज कराने के लिए किसी तरह की फीस की वसूली गैरकानूनी है।

(6) किरासन तेल बेचने के लिए लाइसेंस जारी करना गैरकानूनी है और उसे एकदम समाप्त कर देना चाहिए।

(7) जमीन्दारों, मोकर्रीदारों, ठीकेदारों को अधिसूचित कर दिया जाना चाहिए कि अपने इलाके में मवेशियों के लिए पर्याप्त परती और चारागाह वे छोड़ दें।

(8) इसके लिए रैयतों पर जुर्माना करना और उसकी वसूली करना गैरकानूनी है।

(9) गाड़ी के सट्टा की अवधि 5 वर्ष से ज्यादा न हो।

(10) मजदूरी जबरदस्ती नहीं होकर स्वेच्छा से करायी जाय।

(11) मालगुजारी की प्रत्येक किस्त का भुगतान करने का उपयुक्त किस्त देने के सबंध में समिति की अनुशंसा के संदर्भ में सरकार यदि संभव हो तो एक फारम निश्चित करे।

(12) जिला पार्षदों से कहा जाय कि प्रायोगिक तौर पर ढ़ाढ़ो का प्रबंध वह स्वयं करे उसे कोठी या दूसरे ठीकेदारों के हाथों में नहीं सौंपे।

जाँच समिति की अनुशसाएँ चम्पारण जिला में शीघ्र हीं सरकार की ओर से एक अधिसूचना द्वारा जारी करके परिचारित कर दी गई। जिससे जिले के कोने-कोने में रैयतों को भारी राहत मिली एक ऐसी व्यवस्था से मुक्त होने की आशा का उनमें संचार हुआ जो उनके जीवनरस का शोषण कर लेती थी तथा अभिशप्त जिन्दगी बिताने को उन्हें बाध्य करती थी। चम्पारण में गाँधीजी का कार्य मूलत: मानवतावादी था किन्तु उसके साथ ही राष्ट्रीयता के जागरण का भी अनुप्रेरक। उसका एक परिणाम

चम्पारण के घोर सताए हुए किसानों के मन में जागरण की चेतना उदित करना था। किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन की यह एक आवश्यक शर्त है। सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष से राजनीतिक चेतना बढ़ाता है। गाँधीजी के शब्दों में ''चम्पारण संघर्ष इस बात का प्रमाण था कि किसी क्षेत्र में जनता की नि:स्वार्थ सेवा देश को राजनीतिक दृष्टि से अन्तत: सहायता प्रदान करती है।[16] इसके अतिरिक्त चम्पारण सत्याग्रह ने एक महान लक्ष्य के लिए अहिंसक सत्याग्रह के उपकरण की आश्चर्यजनक क्षमता का उदाहरण प्रस्तुत किया।

संदर्भ-सूची

1. राजेन्द्र प्रसाद ''सत्याग्रह इन चम्पारण'' पृ. 18-19
2. गाँधी ''आत्मकथा'' पृ. 494
3. 21वीं भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की रिपोर्ट, पृ. 68
4. इसकी एक हिन्दी प्रति बेतिया में पीर मोहम्मद मुनिस के पास मिली।
5. गाँधी ''आत्मकथा'' पृ. 501
6. राजेन्द्र प्रसाद ''सत्याग्रह इन चम्पारण'' पृ. 105.
7. गाँधीजी ''आत्मकथा'' पृ. 506.
8. उपरोक्त पृ. 507
9. बेतिया से लगभग 500 आदमी आए। डा० राजेन्द्र प्रसाद ''सत्याग्रह इन चम्पारण'' पृ. 121
10. राजेन्द्र प्रसाद ' सत्याग्रह इन चम्पारण' पृ. 122
11. गाँधी ''आत्मकथा'' पृ. 511
12. उपरोक्त
13. उपरोक्त
14. चम्पारण ऐगेरियन कमीटी रिपोर्ट खण्ड-1, पृ. 19
15. उपरोक्त
16. गाँधी आत्मकथा, पृ. 508

◆

अपने शुरुआती दौर में द्वितीय विश्व युद्ध

धर्मेन्द्र कुमार

शोध छात्र, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

पहले साम्राज्यवादी महायुद्ध (1914-18) में राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों को छोड़कर बाकी सभी राजनीतिक दलों ने ब्रिटिश साम्राजियों का समर्थन किया था। तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल जैसे उग्रवादी नेताओं और सर फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, मोहनदास करमचंद गाँधी, मुहम्मद अली जिन्ना जैसे नरमदली और वैद्यानिकतावादी नेताओं ने एक सुर से ब्रिटिश साम्राजियों की विजय की कामना की थी और अपनी सारी सेवाएँ उन्हें समर्पित की थी। क्या दूसरे साम्राज्यवादी महायुद्ध (1939-41) के बारे में भी राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं का वही रुख था? 1914 ही की तरह जब ब्रिटिश साम्राजियों ने 1939 में भी भारतीय जनता के प्रतिनिधियों की राय लिए बगैर भारत को साम्राज्यवादी युद्ध में शामिल कर लिया तो क्या राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने इसे चुपचाप स्वीकार कर लिया और ब्रिटिश शासकों की सेवा करने को तैयार हो गए? नहीं। 1914-39 के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन के दृष्टिकोण और चेतना में बहुत अन्तर आ चुका था। शक्ति चेतना और व्यापकता के लिहाज से 1939 का राष्ट्रीय आन्दोलन वही न था जो 1914 का राष्ट्रीय आन्दोलन था।

साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध

प्रथम महायुद्ध के अंत में रूस में सफल समाजवादी क्रांति, उसके बाद सर्वहारा के प्रथम राज्य का गला घोंट देने के लिए दुनिया के बड़े-बड़े साम्राज्यवादियों के हस्तक्षेप की पूर्ण पराजय, सोवियत संघ की सफलता विभिन्न देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना तथा साम्यवादी आन्दोलन के उदय ने पराधीन देशों के स्वाधीनता संग्राम को शक्तिशाली बनाने और उसके दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन में बड़ी सहायता की थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भी ये परिवर्तन आए थे और वे कानपुर बोल्शेविक षड्यंत्र केस के बाद ही दिखाई पड़ने लगे थे। मजदूर आन्दोलन और साम्यवादी आन्दोलन ने भारतवासियों की साम्राज्यवाद विरोधी भावना बढ़ाने में बड़ी मदद की। राष्ट्रीय आन्दोलन का दृष्टिकोण भी व्यापक हुआ। उसने सिर्फ अपने ही देश में नहीं, किसी भी देश में साम्राज्यवादी कुचक्रों के खिलाफ आवाज उठानी शुरू की। उसने साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और युद्धों का विरोध करना शुरू किया। विश्व की श्रमजीवी और पराधीन जनता की लड़ाई को उसने अपनी लड़ाई समझना शुरू किया। 1925-27 के दौरान चीन की राष्ट्रीय क्रांति की अग्रगति ने भारतवासियों में बड़ा जोश पैदा किया था। इस क्रांति के विरुद्ध इस्तेमाल के लिए ब्रिटिश साम्राजियों ने भारतीय सेना शंघाई भेजी थी। 1927 में इंडियन नेशनल कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन ने इसके विरुद्ध प्रतिवाद जाहिर करते हुए एक प्रस्ताव पास किया था। उसी अधिवेशन में साम्राज्यवादी युद्ध के खतरे के खिलाफ भी प्रस्ताव पास किया था और साम्राज्यवाद विरोधी लीग से कांग्रेस को संबद्ध करने का फैसला हुआ था।1 कांग्रेस के इस अधिवेशन के पहले उसी साल ब्रसेल्स में साम्राज्यवाद के विरुद्ध उत्पीड़ित जनता की

अंतराष्ट्रीय लीग (इंटरनेशनल लीग ऑफ दि आप्रेरड पीपुल्स अर्गेस्ट इंपीरियलिज्म) की स्थापना की गई थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ से उसमें जवाहरलाल नेहरू और वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने भाग लिया था। जवाहरलाल इंडियन नेशनल कांग्रेस का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय कम्युनिस्टों का।

इटली के फासिस्टों ने 1935-36 में अबीसीनिया पर आक्रमण किया तो इंडियन नेशनल कांग्रेस ने अबीसीनियाई जनता का पक्ष लिया और मुसोलिनी के फासिस्ट गिरोह की निंदा की। सितम्बर 1936 में ब्रसेल्स में विश्व शांति सम्मेलन (वर्ल्ड पीस कांग्रेस) हुई तो उसमें भी इंडियन नेशनल कांग्रेस का प्रतिनिधि शामिल हुआ तथा वह इंटरनेशनल पीस कांग्रेस से संबद्ध हुई। 1936 के मध्य में स्पेन के गणतंत्र के विरुद्ध फासिस्ट फ्रैंको के नेतृत्व में विद्रोह शुरू हुआ और इटली तथा जर्मनी के फासिस्टों ने उसकी मदद की। उनका लक्ष्य स्पेन में जनमोर्चे की विजय को और फ्रांस के जनमोर्चों के साथ उसकी मित्रता को नष्ट करना तथा स्पेन को अपने भावी आक्रमणात्मक युद्ध का अड्डा बनाना था। उस समय जब ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारें 'हस्तक्षेप न करने' की नीति की आड़ में दुनिया की जनवादी शक्तियों की मदद स्पेन न पहुँचने दे रही थी, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने स्पेन के गणतंत्र के पक्ष में अपनी आवाज बुलंद की थी। कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन (दिसम्बर 1936) ने घोषणा की थी- "फासिस्ट आक्रमण बढ़ गया है। फासिस्ट शक्तियां यूरोप और दुनिया पर हावी हो जाने तथा राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता को कुचल देने के इरादे से युद्ध के लिए गठजोड़ कर रही है और अपने गुट बना रही है। कांग्रेस पूरी तरह जानती है कि दुनिया के प्रगतिशील राष्ट्रों और लोगों के साथ मिलकर इस विश्वव्यापी खतरे का सामना करने की जरूरत है।"[2]

कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन (फरवरी 1938) ने फासिस्ट आक्रमण के साथ सांठ गांठ की ब्रिटेन, फ्रांस वगैरह की सरकारों की नीति की निंदा की तथा 'सामूहिक सुरक्षा' के नारे का समर्थन किया। जुलाई 1937 में जापानी साम्राज्यवादियों ने चीन पर पूर्ण विजय के लिए आक्रमण आरंभ किया। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने चीन के साथ हमदर्दी जाहिर की और 1938 में जापानी माल के बायकाट का नारा दिया। जर्मन फासिस्टों को संतुष्ट करने के लिए फ्रांस और ब्रिटेन की सरकारों ने हिटलर और मुसोलिनी के साथ मिलकर म्युनिख में जो गद्दारी की थी और जनतांत्रिक चेकोस्लोवाकिया की पीठ में छुरा भोंका था। कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन ने उसकी निन्दा की थी और ब्रिटेन की विदेश नीति से अपने को बिल्कुल अलग कर दिया था। उसके प्रस्ताव में कहा गया था- "कांग्रेस ब्रिटिश विदेश नीति के साथ अपनी पूर्ण असहमति प्रकट करती है। इस विदेश नीति का परिणाम म्यूनिख समझौता, इंग्लैंड-इटली का समझौता और विद्रोही स्पेन को मान्यता देना हुआ है। यह नीति जनतंत्र के प्रति जानबूझकर विश्वासघात की, वादों की, बार तोड़ने की, सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था के अंत की और ऐसी सरकारों के साथ सहयोग की नीति रही है जो जनतंत्र और स्वतंत्रता की कट्टर दुश्मन है। कांग्रेस अपने को ब्रिटिश विदेश नीति से पूर्णतः अलग करती है जिसने बराबर फासिस्ट शक्तियों की सहायता की है और जनतांत्रिक देशों को नष्ट करने में मदद दी है।"[3]

अतः जब ब्रिटेन ने 3 सितम्बर, 1939 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और उसके चंद घंटे बाद ही वाइसराय ने भारतीय जनता के प्रतिनिधियों से राय लिए बिना ही भारत को युद्ध में शामिल कर दिया, ब्रिटिश पार्लमेंट ने ग्यारह मिनट के अंदर, 'भारत सरकार संशोधन कानून' पास कर प्रांतों में भी संविधान को ताक पर रख देने का पूरा अधिकार वाइसराय को दे दिया तथा वाइसराय ने भी भारत रक्षा कानून लगा कर सिर्फ फरमानों के जरिए सारे देश पर राज करने, किसी को भी बिना वारंट गिरफ्तार करने, और मुकदमा चलाए बिना आजीवन निर्वासन तथा मौत तक की सजा देने

का अधिकार ले लिया तो राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता चुप न रह सके। उन्होंने ब्रिटिश शासकों के कदमों का विरोध किया, युद्ध को साम्राज्यवादी बताया और कहा कि उसके साथ उनका कोई संबंध नहीं हो सकता। लेकिन आरंभ से ही कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेतृत्व और वामपंथियों के बीच अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा। वामपंथी इस साम्राज्यवादी युद्ध को भारत के मुक्ति युद्ध में बदल देना चाहते थे लेकिन दक्षिणपंथी नेता इससे फायदा उठाकर दबाव डालकर ब्रिटिश शासकों से ज्यादा से ज्यादा अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते थे। उनके रवैये से भारतीय बुर्जुआवर्ग का दोहरा चरित्र सामने आ गया। युद्ध शुरू होने के बाद एक साल के अन्दर कांग्रेस वर्किंग कमेटी और कांग्रेस महासमिति की कितनी ही बैठकें हुई और उन्होंने युद्ध के संबंध में अपनी नीति स्पष्ट की। युद्ध के बाद कांग्रेस वर्किंग कमेटी की पहली बैठक वर्धा में हुई और 14 सितम्बर, 1939 को उसने अपना पहला बयान जारी किया। कांग्रेस महासमिति की 9-10 अक्टूबर, 1939 की वर्धा बैठक ने वर्किंग कमेटी के प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन किया। इसके बाद युद्ध संकट पर विचार करने के लिए वर्किंग कमेटी की बैठकें 22-23 अक्टूबर (वर्धा), 19-23 नवम्बर (इलाहाबाद), 18-22 दिसम्बर (वर्धा), 19-22 जनवरी 1940 (वर्धा) और 28 फरवरी-1 मार्च (पटना) को हुई। उसके 14 सितम्बर, 1939 के बयान की मुख्य बात यह थी कि ब्रिटिश शासकों ने भारतीय जनता की राय लिए बिना ही भारत को युद्धरत देश घोषित किया है, अत: भारत युद्ध के संचालन में ब्रिटेन का साथ नहीं दे सकता। यह बात इसके बाद पास किए गए प्रस्तावों में दोहराई गई थी। उक्त बयान में ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया गया था कि वह 'जनतंत्र और साम्राज्यवाद के बारे में' अपने युद्ध के लक्ष्यों की घोषणा करे। वह खासकर स्पष्ट बताए कि ये लक्ष्य भारत के बारे में कैसे लागू होने जा रहे है। उसमें जोर देकर कहा गया था कि भारत ऐसे युद्ध में शामिल नहीं हो सकता जो कहने को तो जनतांत्रिक स्वतंत्रता के लिए लड़ा जा रहा है लेकिन उसी स्वतंत्रता से भारतीयों को वंचित रखा जा रहा है। इतना सब कहने के बावजूद कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने उस समय कोई अंतिम निर्णय न करने का फैसला किया ताकि सारे प्रश्नों का उत्तर पूरी तरह से मिल सके, युद्ध के वास्तविक उद्देश्य सामने आ जाए और यह भी स्पष्ट हो जाए कि तत्काल भविष्य में भारत की स्थिति क्या होगी। कांग्रेस महासमिति की 9-10 अक्टूबर की बैठक ने इसका समर्थन किया। फैसला किया कि खासकर भारत के बारे में अपने युद्ध और शांति के लक्ष्यों को स्पष्ट करने का पूरा मौका ब्रिटिश सरकार को दिए बिना वह काई भी अंतिम निर्णय न करेगी। वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने इसके उत्तर में 17 अक्टूबर को बयान दिया। इसमें उन्होंने कहा कि भारत में डोमीनियन स्टेट्स स्थापित करना ब्रिटिश नीति का लक्ष्य है; लेकिन फिलहाल 1935 का भारत सरकार कानून लागू रहेगा। भारतीयों को युद्ध संचालन में शामिल करने के लिए उन्होंने 'ब्रिटिश भारत की सब बड़ी राजनीतिक पार्टियों के और भारतीय राजाओं के प्रतिनिधियों को लेकर एक सलाहकार समिति की स्थापना' का प्रस्ताव किया।

अपनी अक्टूबर की बैठक में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने वाइसराय के बयान को 'पुरानी साम्राज्यवादी नीति का स्पष्ट शब्दों में दोहराया जाना' बताया और कहा कि ऐसी हालत में कांग्रेस ब्रिटिश शासकों को युद्ध के संचालन में कोई भी सहयोग नहीं दे सकती क्योंकि ब्रिटेन का समर्थन करने का अर्थ 'साम्राज्यवादी नीति का समर्थन' होगा जिसके अंत के लिए वह बराबर लड़ती रही है। भारत सचिव सर सैमुएल होर और वाइसराय ने प्रशासन में भारतीयों को ज्यादा अधिकार देकर कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की। 26 अक्टूबर को होर वाइसराय की कार्यकारिणी में ज्यादा भारतीय लेने को तैयार हो गए लेकिन कांग्रेस सिर्फ इतने से संतुष्ट कैसे होती ? नवम्बर 1939 की बैठक में कांग्रेस वर्किंग कमेटी का रुख और भी कठोर हुआ। उसने आरोप लगाया कि भारत

के बारे में ब्रिटिश सरकार की घोषणाओं से लगता है कि वर्तमान युद्ध साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए चलाया जा रहा है। दिसम्बर की बैठक में उसने कहा कि ब्रिटिश सरकार अपने युद्ध के उद्देश्य स्पष्ट करने में असफल रही है। वर्किंग कमेटी की पटना बैठक ने कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन के लिए प्रस्ताव का जो मसौदा तैयार किया उसमें उसने स्पष्ट कहा कि ग्रेट ब्रिटेन 'मूलतः साम्राज्यवादी उद्देश्यों' के लिए और अपना साम्राज्य बनाए रखने तथा उसे मजबूत करने के लिए युद्ध कर रहा है। इसमें और भी स्पष्ट शब्दों में भारत को युद्ध में शामिल करने तथा उसके धन-जन का युद्ध में इस्तेमाल करने का विरोध किया गया।

कांग्रेस नेता युद्ध में ब्रिटेन की मदद करने के लिए किन बातों की मांग कर रहे थे? सितम्बर 1939 के वक्तव्य में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने मांग की थी कि ब्रिटेन को भारत में पूर्ण जनतंत्र स्थापित करना होगा और भारतीयों को आत्मनिर्णय का तथा बाह्य हस्तक्षेप के बिना विधान निर्मात्री परिषद् के जरिए अपना संविधान बनाने का अधिकार देना होगा। इस मांग का स्पष्टीकरण करते हुए कांग्रेस महासमिति ने कहा कि 'भारत को स्वाधीन राष्ट्र घोषित किया जाए तथा जहाँ तक संभव है उसके साथ ऐसा ही बर्ताव किया जाए।' नवम्बर और दिसम्बर के प्रस्तावों में वर्किंग कमेटी ने इन्हीं बातों की दोहराया। पटना के प्रस्ताव में कांग्रेस वर्किंग कमेटी में अपनी मांग को और भी स्पष्ट किया। उसने कहा कि भारतीय स्वतंत्रता का कोई भी अस्तित्व साम्राज्यवाद की परिधि के अंदर नहीं हो सकता। डोमीनियन स्टेट्स (अधिराज्य) या 'साम्राज्यवादी ढाँचे के अन्दर अन्य कोई भी स्टेट्स' भारत के बारे में लागू नहीं किया जा सकता। प्रस्ताव में एक बार फिर स्पष्ट किया गया कि भारत के संविधान का आधार 'स्वाधीनता जनतंत्र और राष्ट्रीय एकता' ही होगा, कुछ और नहीं।

इस साम्राज्यवादी युद्ध से असहयोग के कौन-कौन से कदम कांग्रेस ने रामगढ़ अधिवेशन (19 मार्च, 1950) के पहले उठाए? युद्ध की घोषणा के पहले ही अगस्त, 1939 में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने केन्द्रीय विधानसभा के ग्रीष्म अधिवेशन से अनुपस्थित रहने का आदेश दिया था। अक्टूबर, 1939 की बैठक में वर्किंग कमेटी ने सब कांग्रेसी प्रांतीय सरकारों को इस्तीफा देने का आदेश दिया। इस आदेश के मुताबिक सभी प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों ने 27 अक्टूबर और 15 नवम्बर, 1939 के बीच इस्तीफा दे दिया। साथ ही उसने पहली बार सविनय अवज्ञा, राजनीतिक हड़ताल जैसा कोई भी काम जल्दबाजी में न करें। नवम्बर में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने खुशी जाहिर की कि जरूरत पड़ने पर कांग्रेसजन सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरंभ करने के लिए तैयार है लेकिन याद दिलाया कि कठोर अनुशासन तथा गाँधीजी का चार सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम मानकर चलना कार्यवाही की पहली शर्त्त है। उसने आदेश दिया कि कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेजसन रचनात्मक कार्यक्रम को बढ़ाकर अपने को आगे की कार्यवाही के लिए तैयार करें। वर्किंग कमेटी की पटना बैठक के प्रस्ताव में कहा गया कि कांग्रेस बेहिचक उस वक्त सत्याग्रह आरंभ कर देगी जब वह देखेगी कि कांग्रेस संगठन उसके लिए काफी तैयार है या हालात संकटपूर्ण है। लेकिन यह सब कहते वक्त कांग्रेसजनों को बार-बार सलाह दी गई कि वे गाँधीजी के नेतृत्व में पूर्ण विश्वास रखें और उनके रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा कर अपने को सत्याग्रह के योग्य बनाएँ।

ऐसे समय भारतीय राष्ट्रीय बुर्जुआवर्ग और सुधारवादी दक्षिणपंथियों के सबसे बड़े नेता गाँधीजी की भूमिका क्या थी? वह देश के सबसे बड़े नेता थे। उनकी जय कहकर करोड़ों देशवासी आजादी की लड़ाई में उतर पड़ने को तैयार थे। लेकिन उनके वक्तव्यों से स्पष्ट था कि वह कोई भी बड़ा आन्दोलन ब्रिटिश शासकों के खिलाफ चलाने को तैयार न थे। उनके वक्तव्य तो कभी-कभी ऐसे

अजीब-गरीब थे कि खुद कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य उन्हें मानने को तैयार न थे। युद्ध आरंभ होने पर गाँधीजी की सबसे पहली प्रतिक्रिया यह थी कि भारत की पूरी और बिना शर्त्त हमदर्दी इग्लैंड और फ्रांस के प्रति होनी चाहिए। 4 सितम्बर 1939 को वाइसराय से उनकी मुलाकात हुई थी। इस मुलाकात के दौरान बातचीन का वर्णन करते हुए 5 सितम्बर को गाँधीजी ने लिखा– "मैंने महामहिम से कहा कि विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण से खुद मेरी हमदर्दी इंग्लैंड और फ्रांस के साथ है। मैंने उनसे कहा कि जब मैं लंदन के, जो अब तक अभेद्य समझा जाता था, नष्ट होने की बात सोचता हूँ, तो मेरा मन कांप उठता है। और जब मैं उनके सामने हाउस ऑफ पार्लमेंट तथा वेस्टमिंस्टर एब्बी और उनके संभावित विनष्ट होने का चित्र खींच रहा था, मेरा गला रूँध जाता है। अत: मैं इस समय भारत की मुक्ति की बात नहीं सोच रहा हूँ।"[4]

कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फारवर्ड ब्लॉक, तीनों वामपंथी पार्टियां थी, तीनों ब्रिटिश शासकों को किसी भी तरह युद्ध में सहयोग देने की विरोधी थी; लेकिन युद्ध में चरित्र की समझ और युद्ध के विरोध के कार्यक्रम के बारे में उनमें फर्क था। कम्युनिस्ट युद्ध विरोधी इसलिए थे कि वह साम्राज्यवादी था; ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली वगैरह साम्राज्यवादी दो गुटों में बँटकर दुनिया के फिर से बंटवारे के लिए युद्ध कर रहे थे। इसलिए न तो ब्रिटिश साम्राजियों को मदद देने का प्रश्न उठता था और न जर्मन फासिस्टों के साथ हमदर्दी दिखाने का उसका ख्याल था कि इस युद्ध में साम्राज्यवादियों की मदद करना साम्राज्यवाद को बनाए रखना और फासिज्म को मजबूत करना है। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फारवर्ड ब्लॉक का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न था। वे किसी भी तरह ब्रिटेन की हार चाहते थे क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य के ध्वस्त होने के बाद ही वे भारत की स्वतंत्रता की आशा करते थे। स्वभावत: 'दुश्मन का दुश्मन हमारा दोस्त' की भावना से वे मुक्त न थे। कम्युनिस्ट पार्टी तथा कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फॉरवर्ड ब्लॉक की समझ के बीच यही अंतर युद्ध के दूसरे दौर में उनके अलगाव का, अलग अलग रास्तों पर जाने का कारण बना।

एक रास्ता एम. एन. राय का था। वह युद्ध प्रयास के समर्थक थे। राय का विश्वास था कि भारतीय बुर्जुआवर्ग पूरी तरह साम्राज्यवाद के साथ मिल गया है। इसलिए युद्ध काल भर धैर्य के साथ इंतजार करो। बुर्जुआ नेतृत्व का पर्दाफाश एक दिन होकर रहेगा, तब वह दिन आएगा जब राय का वैकल्पिक नेतृत्व राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का पद प्रदर्शन करेगा। इस रास्ते की दीवालिया समझ की कोई भी आलोचना अनावश्यक है। इस साम्राज्यवादी युद्ध के प्रति मुस्लिम लीग का क्या रुख था? 18 सितम्बर, 1939 को उसने एक प्रस्ताव पास कर ब्रिटिश साम्राजियों का समर्थन करने का वादा इस शर्त पर किया कि मुस्लिम लीग की मंजूरी के बिना भारत में संविधान संबंधी कोई भी अगला कदम न उठाया जाए। उसने दावा किया कि वही 'एकमात्र ऐसा संगठन है जो मुस्लिम भारत की तरफ से बोल सकता है।[5]

संदर्भ

1. पट्टाभि सीतारैम्य्या : हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस, पृ. 538।
2. रजनी पाम दत्त : इंडिया टुडे, पृ. 551।
3. वही, पृ. 5, 51-52।
4. होम। पोल। 1940, एफ 4/17; सुबोध राय, कम्युनिज्म इन इंडिया, अनपब्लिश्ड डाकूमेंट्स 1935-1945, पृ. 163।
5. भारत का मुक्ति संग्राम – अयोध्या सिंह, पृ. 678-679।

❖

हिन्दी

भारतीय शिक्षा की समस्याएँ और शेखर
एक जीवनी

संजीव शर्मा

शोधार्थी (पीएच०डी०), हिंदी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय शिक्षा व्यवस्था के अंतर्गत विद्‌यमान महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने हमारा ध्यान अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना 'शेखर : एक जीवनी' में आकृष्ट किया है। आज विद्यार्थियों में घर छोड़कर भाग जाना अथवा आत्महत्या करना एक ज्वलंत समस्या बन चुका है। इसका प्रमुख कारण अभिवावकों द्वारा बच्चों पर अधिक से अधिक अंक प्राप्त करने का दबाव बनाना है। इस स्थिति को देखकर यही कहा जा सकता है कि आजकल बच्चा जन्म बाद में लेता है, उसके अभिवावकों के महत्वाकांक्षी स्वप्न उसके पहले ही वयस्क हो जाते हैं। अत: बच्चा अपने अभिवावकों के दमित कामनाओं की पूर्ति का एक साधन मात्र ही रह जाता है।

आलोच्य उपन्यास में शेखर अपने जन्मकाल को याद करते हुए कहता है– "तब पंडित-पुरोहित भी आये और एक बौद्‌ध भिक्षु भी, और सभी अपने-अपने संसार में उस नवजात शिशु (शेखर) का स्थान निर्दिष्ट करने में अपने जीवन विधान की शृंखला में एक कड़ी उनके लिए जोड़ने में जुट गये .... पिता ने मन-ही-मन निश्चय किया– मैं इसे इंजीनियर बनाऊँगा, ताकि यह नये नगरों का निर्माण करे। माँ ने मन में कहा– मेरा टाँऊ बैरिस्टर होगा और प्रपीड़ितों का रक्षक होगा।"

इसके बाद शेखर एक विशिष्ट प्रकार की दास-प्रथा की चर्चा करता है, जहाँ शारीरिक के साथ-साथ भावनात्मक और मानसिक स्तर पर भी दासता होती है। यहाँ अभिभावक मालिक और बच्चा दास बन जाता है। यह दासता शायद ही कभी खत्म होती हो। इस स्थिति पर शेखर सोचता है– "इस प्रकार बोध होने के पहले ही बालक का जीवन एक रूढ़ि में बँध गया, बहुत से अनुभूत किंतु सुदृढ़ बंधन उसके जीवन में छा गये; वह बिक गया।" क्या वास्तव में हमारे बच्चे ऐसे ही बिक रहे हैं, या नहीं? अगर नहीं तो ठीक, लेकिन 'हाँ' तो क्यों? सिर्फ़ इसीलिए की उनके माँ-बाप उन्हें जन्म देते हैं, उनका पालन-पोषण करते हैं। ऐसी स्थिति में हमें एक उत्पाद और जीवित इंसान में विद्यमान पार्थक्य का बोध होना चाहिए।

आगे शेखर माँ-बाप से इतर समाज, धर्म, राष्ट्र इत्यादि सभ्यता की हर इकाई से सवाल करता नज़र आता है– "कहते हैं कि मानव अपने बंधन आप बनाता है; पर जो बंधन उत्पत्ति के समय से ही उसके पैरों में पड़े होते है और जिनके काटने भर में अनेक के जीवन बीत जाते हैं, उनका उत्तरदायी कौन है?"

अनेक अभिवावकों को यह भ्रम होता है कि वो अपने बच्चों को यथोचित स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। दरअसल हम अपने बच्चों को अपने द्वारा निर्धारित सीमित दायरे के अंदर ही चुनाव का अधिकार देते हैं। अभिवावकों के ऐसे निर्णयवादी सोच पर खीझ कर शेखर इस स्थिति के हल को सहज शब्दों

में व्यक्त करता है- "यदि माता-पिता अपना बचपन याद भर रख सकते तो उनकी संतान और वे स्वयं कितने सुखी होते!"

कुछ रोज पूर्व दिल्ली के एक बाग में कुछ बच्चों के साथ मैं भी बैठा था। एक पाँच वर्षीय बालक ने मुझसे बैलून माँगा। मैंने कहा- 'एक गाना या कविता सुनाओ तो खरीद दूँगा।

बच्चा - 'गॉड प्रामीस।'

मैंने उसको और भी ज्यादा उत्साहित करने के लिए कहा - 'हा, भाई सब गॉडों की कसम।'

यह सुनते ही उसने तपाक से कहा - 'नहीं! अल्ला की नहीं! इसका कारण पूछने पर उसने जो कुछ कहा उसे सुनकर मैं डर गया कि हम अपने नौनिहालों को क्या सिखा रहे हैं। उसने कारण बताया - 'मेरी मम्मी (समाज विज्ञान की शिक्षिका) ने बोला है, सभी मुसलमान टैरेरिस्ट होते हैं।' किसी भी एक धर्म विशेष के प्रति जब एक अभिवावक, जो कि स्वयं समाज विज्ञान की शिक्षिका हो, वह ऐसी सोच रखेगी और अपने बच्चे को देगी तो उसके नजरिए से किस घृणित समाज का निर्माण होगा, इसे सोचकर ही मेरी आत्मा काँप उठती है।

हमारे देश के शैक्षणिक संस्थाओं में बहुत सारे त्यौहार घोषित तौर पर मनाये जाते हैं। कक्षाओं में विभिन्न धर्मों के देवियों-देवताओं की तस्वीरें अथवा धार्मिक आस्थाओं के प्रतीकों को लगाया जाता है। लेकिन मुसलमानों से संबंधित धार्मिक प्रतीकों को शायद ही किसी कक्षा में लगाया जाता हो। ईद, बकरीद, मुहर्रम जैसे त्यौहारों को शायद ही किसी सामान्य शिक्षण संस्थान में मनाया जाता हो। एक विषय के रूप में इतिहास की कक्षाओं में विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय तक में 'मुस्लिम आक्रांता', 'इस्लामिक आक्रमणकारी' जैसे विशेषणों के कारण मुस्लिम विद्यार्थी अपनी नज़रों को चुराते देखे जा सकते हैं।

शेखर को उसकी माँ फूला के घर खेलने से रोकती है क्योंकि फूला अनुसूचित जाति की थी। मद्रास में हर कोई शेखर के ब्राह्मणत्व पर सवाल उठाता है। 'एंटीगोनमक्लब' तथा दलितों के लिए शिक्षा पर उसके प्रयासों की उच्च जाति के विद्यार्थी खिल्ली उड़ाते हैं। इस उपन्यास में दर्शाया गया है कि ब्राह्मणों के छात्रावास में खाते समय कुत्ता आता है तो ब्राह्मणों को कोई विशेष फ़र्क नहीं पड़ता। लेकिन एक दलित इंसान की छाया मात्र से ही उनका समस्त भोजन विषाक्त हो जाता है। ऐसे ही उच्च वर्ण के लोग चरणामृत के नाम पर गोमूत्र भी सिरोमाथ लगा कर पी लेते है, लेकिन स्वस्थ मध्यावधि भोजन ग्रहण करने से स्पष्ट तौर पर मना कर देते हैं क्योंकि उसे किसी दलित ने पकाया होता है अथवा उनके साथ दलित विद्यार्थी भी भोजन कर रहे होते हैं।

हम सभी यह मानकर चलते हैं कि हमारे शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा प्रदान की जाती है। लेकिन यह शिक्षा किस प्रक्रिया के अंतर्गत प्रदान की जाती है, इस पर शेखर गहराई से विचार करता है। शिक्षा के समवर्ती सूची में होने के कारण राज्य एवं केंद्र सरकारें दोनों ही अपने-अपने स्तर पर पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में लगातार लगी रहती हैं। लेकिन क्या एक भी संस्था ऐसी है जो अपने इस प्रयास में विद्यार्थियों की राय जानकर उसे पाठ्यपुस्तक में स्थान देने का प्रयास किया है?

शैक्षिक नीतिकारों के इस निरंकुश रवैये के प्रति शेखर शिक्षा के इस विडंबनात्मक स्थिति में विद्यार्थी की भूमिका की तलाश करते हुए कहता है- "शिक्षा देना संसार अपना कर्तव्य समझता है, किंतु शिक्षा अपने मन की, शिष्य के मन की नहीं। क्योंकि संसार का आदर्श व्यक्ति नहीं है, एक 'टाईप' है, और संसार चाहता है कि सर्वप्रथम अवसर पर ही प्रत्येक व्यक्ति को ठोक-पीटकर उसका

व्यक्तित्व कुचलकर, उसे उस टाइप में सम्मिलित कर लिया जाय, उसे मूल रचना न रहने देकर एक प्रति मात्र बना दिया जाय......।"

सन् 1965 में ही कोठारी आयोग ने सरकारी और गैर सरकारी विद्‍यालयों के भेद को मिटाकर एक समान विद्‍यालय की स्थापना का सुझाव दिया था। लेकिन आज तक भारत में शैक्षणिक गुणवत्ता के दो अलग-अलग स्तरों पर गैर सरकारी और सरकारी विद्‍यालयों में शिक्षा प्रदान की जा रही है। इस विभेदपरक शिक्षा का प्रमुख कारण धन है। जिनके पास संसाधन है, वे अंग्रेजी माध्यम से गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त करके समाज और प्रशासन में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं, तो वहीं आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वंचित तबका हाशिए पर चला जाता है। दरअसल हमारे देश में शिक्षा प्राप्त नहीं की जाती, बल्कि अर्थ के आधार पर खरीदी जाती है। शिक्षा की इस स्थिति पर शेखर कहता है- "और यह शिक्षा दी कैसे जाती है? जो निर्धन होते हैं, वे बचपन से ही ठुकते-पिटते है, केवल घर में नहीं, केवल बाहर नहीं, सर्वत्र सबसे। सारा संसार उनके लिए शिक्षणालय हो जाता है, जहाँ नीरस हृदयहीनता से उन्हें शिक्षा दी जाती है।"

हम स्वयं देख सकते हैं कि एक समान अनुशासनहीनता करने पर भी विद्यालयों में वंचितों के बच्चों को विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक यातनाएँ दी जाती हैं; जबकि धनवानों के बच्चों को ज्यादा से ज्यादा 'वर्निंग' (वह भी अत्यंत मर्यादा के साथ) देकर छोड़ दिया जाता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि धनवानों के बच्चों को अच्छी शिक्षा या शैक्षणिक मूल्य प्राप्त हो ही जाता है। शेखर धनवानों की शिक्षा की दयनीय स्थिति पर विचार करते हुए कहता है- "और जो कुछ अधिक संपन्न होते हैं, उन्हें एकाएक इस भाँति शिक्षित नहीं किया जाता, उनकी शिक्षा का प्रारंभ घर में या स्कूल में होता हैं, और संसारवाली शिक्षा का समय जहाँ तक हो सकता है, स्थगित किया जाता है।"

शेखर दो बार विद्यालय छोड़ता है, क्योंकि उसे विद्यालय का वातावरण स्वयं के लिए उपयुक्त नहीं लगता। इस वातावरण के निर्माण में विद्यालयों के गुरुजन तथा अनुशासन एवं दंड की प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण कारक बनते है। इतना ही नहीं, शेखर के ट्यूटर भी उसे छोड़कर लगभग इन्हीं कारणों से भाग जाते हैं। विद्यालयीन व्यवस्था और प्राइवेट ट्यूटरों ने फरमान जारी कर दिया- 'शेखर पढ़ नहीं सकता, क्योंकि वह अनुशासनहीन है।' अगर शेखर में किसी प्रकार की समस्या थी तो उसे विद्यालय से निकाल देना एक दूसरी ही समस्या है। क्या समस्या का समाधान समस्या होता है या समाधान? इस समस्या का समाधान शेखर की बड़ी बहन सरस्वती करती है। सरस्वती से पढ़कर शेखर को प्रतीत होता है कि शिक्षा भी उपास्य हो सकती है और शिक्षक भी।

आखिरकार ऐसा क्या था जो इतने लोग मिलकर नहीं कर सके और उसी शेखर को सरस्वती जैसी बालिका बहुत अच्छे से पढ़ा देती है। इसका कारण था कि सरस्वती शेखर को पढ़ाने के साथ-साथ शेखर का भी ध्यान रखती थी। अन्य लोग बस पढ़ाई का ध्यान रखते थे, शेखर के व्यक्तित्व का नहीं। उपन्यास में तो शेखर को 'सरस्वती' सरस्वती के कारण मिल गई, लेकिन उन लाखों-करोड़ों शेखरों का क्या हिसाब, जिन्हें हमारी शिक्षा व्यवस्था ने अयोग्य ठहराकर निकाल दिया है। लार्ड मैकाले द्वारा सन् 1835 ई. से पाश्चात्य शिक्षा का श्रीगणेश अंग्रेजी की प्रभुता के साथ भारत में किया गया। इसके बाद भी आजादी पूर्व और पश्चात् अनेक शिक्षा आयोगों ने शिक्षा का माध्यम मातृभाषा में करने के पक्ष में अपना सुझाव केन्द्र सरकार को दिया। लेकिन हमारी सरकार ने इस पर कभी भी कोई गंभीरतापूर्वक कदम नहीं उठाया। त्रिभाषा सूत्र और द्विभाषी नीति ने मातृभाषाओं के परित्राण हेतु अवतार अवश्य लिया, लेकिन सरकार में बैठे उच्च पदस्थ वामनावतारों के छल से

अंग्रेजी का ऐसा साम्राज्य स्थापित हुआ कि भारतीय भाषाएँ रसातल में पहुँच गयी। मातृभाषा संबंधित हीनता-बोध के ही कारण शेखर की माँ शारदा की माँ से खुलकर बात तक नहीं कर पाती, क्योंकि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती थी। शेखर के पिता अपने मेहमानों के समक्ष शेखर द्वारा अंग्रेजी न बोलने पर शेखर को 'मिट्टी का लोंदा' तक कह देते हैं। जब शेखर के पिता को पता चलता है कि शेखर अपना लेखन कर्म हिंदी में करेगा तो वे खुलकर कहते हैं- ''हिंदी में रखा ही क्या है?'' प्रत्युत्तर में शेखर उन्हें दृढ़तापूर्वक उत्तर तो अवश्य प्रदान कर देता है, लेकिन कुछ विशिष्ट प्रश्न भी अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं।

आज हमारे विद्यालयों में 'गुड मार्निंग' से लेकर 'गुड नाईट' तक की संपूर्ण दिनचर्या अंग्रेजी में चल रही है। देश के हजारो विद्यालयों में विद्यार्थियों द्वारा भारतीय भाषाओं के प्रयोग पर उन्हें विभिन्न प्रकार के शारीरिक मानसिक और आर्थिक दंड प्रदान किया जाता है। नेतागण और हिंदी के पैरोकार भारतीय भाषाओं में ज्ञानार्जन प्राप्त करने को भारतीय अस्मिता और संस्कृति की रक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक ठहराते रहते हैं। फिर इन्हीं नेताओं के अपने बच्चे अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा प्राप्त क्यों करते हैं? अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर अपनी भाषा को परे हटाकर अंग्रेजी में भाषण क्यों देते हैं? हिंदी की रोटी खाने वाले चलचित्र कलाकार अंग्रेजी में ही साक्षात्कार देकर हिंदी के साथ नमकहरामी क्यों करते हैं?

शेखर को एक बार अपनी मातृभाषा के बारे में संदेह हो जाता है, वह सोचता है- "अगर सर्वप्रथम ज्ञात भाषा ही मातृभाषा है, तो फिर उसकी मातृभाषा अंग्रेजी हैं।" यहाँ शेखर के समक्ष मातृभाषा निर्धारण के कारण एक भीषण अस्तित्व संकट उत्पन्न हो जाता है। क्या हम इस उपन्यास को कल्पना मात्र मानकर यह मान लें कि यह समस्या एक काल्पनिक पात्र की काल्पनिक समस्या मात्र है? क्या आज दूध की घुट्टी के साथ ही अंग्रेजी पढ़ने वाले लाखों-करोड़ों भारतीय विद्यार्थियों के समक्ष उनकी मातृभाषा की अस्मिता पर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लग जाता? हमारे देश में स्थिति इतनी बदतर हो गई है कि अंग्रेजी माध्यम में पढ़ने वाला विद्यार्थी किसी हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं में शिक्षार्जन करने वाले बच्चे से बात तक कर ले या खेले तो उसके अभिभावक उसे मारते-पीटते हैं।

भारतीय समाज में कुछ विषय ऐसे हैं जिनके बारे में हमारी धारणा है कि इन्हें पढ़ाने अथवा इन पर खुलकर चर्चा करने की आवश्यकता ही नहीं। एक उम्र के बाद अपने-आप दिव्य-ज्ञान द्वारा हमारे विद्यार्थियों को उस गुप्त ज्ञान का बोध हो जायेगा। इस संदर्भ में यौन-शिक्षा का प्रमुख स्थान है। इसका परिणाम यह होता है कि यौनिकता को लेकर अनेक मिथकों और भ्रांतियों के शिकार हमारे बच्चे हो जाते हैं। इसका परिणाम कई बार बहुत खतरनाक भी होता है। एक आम बच्चे के समान शेखर के मन में भी नवजात बच्चों के संबंध में बार-बार एक प्रश्न उपस्थित होता है- "बच्चे कहाँ से आते हैं? बच्चों का जन्म कैसे होता है?" ऐसे समाज में जहाँ लड़के-लड़कियों के आपस में बात करने को ही उनकी चरित्रहीनता का प्रमाणपत्र मान लिया जाता हो, वहाँ अगर कोई लड़का यह सवाल करे तब तो उसे पहले दर्जे का लफंगा ही समझा जायेगा।

कुछ लोगों ने शेखर के बार-बार इस प्रश्न के आग्रह पर ऐसे-ऐसे विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिए, जिनको सुनकर ब्रह्मा भी नतमस्तक हो जाते। मसलन- "बरसात में पानी के साथ आते हैं....... डॉक्टर अपने बैग में लाकर देता है............. भगवान देता है (यह उत्तर अंतिम होता है।)" इत्यादि। अगर शिक्षा हमारे जीवन में गुणात्मक सुधार और हमारे बोध का संज्ञान है तो फिर जिस विषय से हमारे जीवन

की नींव का निर्माण होता है, उसी की इतनी घोर उपेक्षा और निंदा क्यों? यहाँ यौन शिक्षा का यह भी अर्थ नहीं समझना चाहिए कि इसके नाम पर हमारे विद्यार्थी कामोत्तेजना में सामाजिक नैतिकताओं को ही ताक पर रख दें। आजकल विवाह पूर्व यौन संबंध बनाने की प्रवृत्ति विद्यार्थियों में तीव्रता से बढ़ रही है। यह अनुचित व्यवहार एक फैशन का रूप लेता जा रहा है। शेखर इस उपन्यास में मद्रास के विद्यार्थियों को पर-स्त्रीगमन करते देखकर अत्यंत विचलित होता है। दूसरी ओर जब आज़ादी के उस दौर में पंजाब के खेतों में बंदूकें उगाने का सपना भगतसिंह देख रहे थे, तभी उपन्यास में पंजाब के कुछ नौजवानों को देखकर शेखर कहता है- "पंजाब के विद्यार्थियों का चरित्र इतना पतित होगा, मैं नहीं जानता था।" इसी उपन्यास में मिस मणिका के रूप में ऐसी अध्यापिका भी हैं जो खुलेआम सुरा और संभोग का आमंत्रण देती रहती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास में तत्कालीन तथा वर्तमान अनेक शैक्षणिक समस्याओं का प्रासंगिक चित्रण हुआ है। हम या आप इन समस्याओं के वर्णन से सहमत या असहमत तो हो सकते हैं, परंतु इन्हें पूर्णतः नकार भी नहीं सकते हैं। इन भारतीय शैक्षणिक समस्याओं में बालकेंद्रिकता, बच्चों की स्वतंत्रता, मौलिकता का हनन, अभिवावकों और अन्य बड़ों द्वारा बच्चों के संसार में अनुचित हस्तक्षेप, विद्यार्थी असंतोष, अपव्यय-अवरोधन, जातिगत-धर्मगत भेदभाव, यौन-शिक्षा और मातृभाषा में शिक्षा प्रमुख हैं।

❖

हिन्दी

उदारीकरण, बाजार और हिन्दी

कुमारी गरिमा

जे०आर०एफ०, व्याख्याता, हिन्दी विभाग, इंटर स्तरीय विद्यालय, गोड्डा

यह एक अनोखी घटना है कि आठवां विश्व हिन्दी सम्मेलन वहाँ (न्यूयॉर्क) हो रहा है, जहाँ 'लिबर्टी स्टैच्यू' है। क्या हिन्दी आजाद हुई है? इतिहास के जिस दौर में यह सम्मेलन हो रहा है, उसकी एक बड़ी खूबी यह है कि दुनिया में सैकड़ों भाषाएं मर रही हैं। उनके साथ उनकी अपनी सभ्यताएं-संस्कृतियां भी नष्ट हो रही हैं या विकृत हो रही हैं। दुनिया के बहुत से देश जब गुलाम थे, उपनिवेशक चाहने के बावजूद उन देशों की नैतिक और बौद्धिक परंपराओं को मिटा नहीं पाये थे। यह काम अब आजादी के वातावरण में आसानी से हो रहा है। इसलिए मेरी नजर में हिन्दी के प्रश्न पर विचार करते समय आज के सांस्कृतिक परिदृश्य को समझना आवश्यक है। किसी भाषा के साथ सबसे बड़ा विश्वासघात उसे सूचना-तंत्र में सीमित कर देना हैं भाषा का एक मुख्य काम संवेदना और ज्ञान की रचना करना है। यह आत्मनिरीक्षण करने की जरूरत है कि हम हिन्दी को बाजार की सूचनात्मक और चुलबुली भाषा के रूप में पाकर संतुष्ट हैं या संवदेना और ज्ञान की भाषा के रूप में इनकी कमजोर स्थिति देखकर विचलित हैं।

आज इस पर सोचना चाहिए कि क्या हिन्दी को एकदम बाजार के हवाले करके निश्चिंत हुआ जा सकता है। यह सही है कि हिन्दी बाजार में पैदा हुई, बाजार से पली-बढ़ी और आज बाजार में एक खास स्वरूप में विकसित हो रही है। इसमें भी संदेह नहीं कि नयी पीढ़ियों के लिए हिन्दी में पर्याप्त आकर्षण होना चाहिए, क्योंकि हिन्दी को भविष्य में उन्हीं के साथ विकसित होना है। लेकिन हिन्दी सिर्फ पेट और हल्के-फुल्के मनोरंजन की भाषा नहीं हैं यह दिलोदिमाग की भाषा भी है—यह संवेदना और ज्ञान की भाषा भी है। हिन्दी को लेकर चर्चाएं-बहसें पिछली सदी से होती आ रही हैं, पर आज निस्संदेह हम एक बिल्कुल भिन्न आर्थिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में इस पर चर्चा कर रहे हैं। हमारे सामने एक बुनियादी प्रश्न है कि हिन्दी को राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भाषा बनाने, विश्व भाषा का दर्जा देने और संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनाने का प्रश्न व्यापक सामाजिक चिंताओं से जुड़ा हुआ है या नहीं। निश्चय ही यह प्रश्न हिन्दी परिवार की 48 भाषाओं/उपभाषाओं/बोलियों से हिन्दी की अखंडता, हिन्दी-उर्दू अंतर्संबंध और दूसरी भारतीय भाषाओं से 'इंटरेक्शन' और मेलमिलाप के प्रश्नों से जुड़ा होना चाहिए। वे उत्पीड़ित समुदाय जो अब तक मूक या हाशिये पर रहे हैं, उनके मानवाधिकारों से भी यह प्रश्न जुड़ा होना चाहिए। हिन्दी बोलने-पढ़ने-समझने वाले चालीस करोड़ लोगों के जीवन से यह प्रश्न जुड़ा होना चाहिए। इसमें किसी को संदेह नहीं कि भाषा में ताकत जनता से आती है।

हम जब हिन्दी को विश्व भाषा के रूप में विकसित करने का स्वप्न देखते हैं, हमारे सामने एक बड़ी चुनौती यह उपस्थित होती है कि हमारा रूख दूसरी संस्कृतियों के प्रति क्या है—उदाहरण के तौर पर पश्चिमी और इस्लामी संस्कृतियों के प्रति क्या है। हिन्दी की खूबी है कि काफी पहले से ही यह

उदार, समावेशी और वसुधैवकुटुंबकम् की प्रकृति वाली रही है। हिन्दी का रिश्तों की मिठास की भाषा के रूप में भी कम महत्त्व नहीं है। कहा जा सकता है कि हिन्दी सबको जोड़ने वाली भाषा है।

हम एक ऐसे भारत में रहते हैं जो बहुभाषिक है। इक्कीसवीं सदी में निश्चय ही हम एक अधिक सघन बहुसांस्कृतिक परिवेश में रहते हैं। आज संस्कृतियां एक दूसरे में घुलमिल रही हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी पढ़ कर हम आज सिर्फ हिन्दी संस्कृति को जानते हैं। हिन्दी एक उदार विश्व मन की भाषा है। हिन्दी में सिर्फ भारत नहीं पूरा विश्व झलकता है। एक जीवंत भाषा का लक्षण है कि वह पूरे विश्व में बसती है और उसमें एक पूरा विश्व बसता है। निस्संदेह हिन्दी पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा निर्मित एक ऐसी कृत्रिम उपभोक्तावादी संस्कृति का दबाव है, जो इंसान को भीतर से एकायामी और छिछला बनाती है। हिन्दी में अंग्रेजी की घुसपैठ दूसरी किसी भी भाषा से ज्यादा है। हमें तेजी से भागती दुनिया में थोड़ा ठहर कर सोचना होगा कि यह सांस्कृतिक सम्मिश्रण है या सांस्कृतिक आत्मविसर्जन। हमें निश्चय ही इन दोनों में फर्क करना होगा, क्योंकि हिन्दी के विकास के साथ हिन्दी की पहचान का प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी में उप-संस्कृतियों (सब-कल्चर्स) का उभार भी है, जो हिन्दी की विविधता का चिन्ह है। हिन्दी की पहचान के प्रश्न पर विचार करते समय हमें सांस्कृतिक आत्मविसर्जन का विरोध करना है और सांस्कृतिक विविधता और सम्मिश्रण के पक्ष में खड़ा होना है।

हिन्दी में पिछले लगभग डेढ़ सौ सालों से पश्चिमी साहित्य के ही नहीं, हिंदीतर भारतीय भाषाओं के भी प्रचुर अनुवाद हुए हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी में भू-सांस्कृतिक विविधता ही नहीं है, एक व्यापक साहित्यिक उदारवाद भी है। इस भाषा में जिस तरह बहुस्रोतपरकता और विविधता है उसी तरह किसी भी सांस्कृतिक चौहद्दी के पार जाने की ताकत है। इसकी व्यापक समावेशिकता इसमें ट्रांस-नेशनलिज्म ला देती है, जिसकी वजह से एक भिन्न भाषा, देश और संस्कृति का व्यक्ति भी इसे अपनी भाषा के रूप में देख सकता है। यही चीज है, जो हिन्दी को महज 'कनेक्शन' की भाषा नहीं 'रिजेशन' की भाषा बनाती है। इसी वजह से आज हिन्दी के आंगन में दुनिया भर के लोगों का एक अपनापन, शांति और विश्वबंधुत्व का अहसास होता है। आज के बदलते विश्व परिदृश्य में यह रेखांकित करना जरूरी है कि अपने लंबे इतिहास में हिन्दी सभ्यताओं की टकराहट की भाषा नहीं, सभ्यताओं के बीच संवाद की भाषा बन कर उभरी है।

किसी भाषा का साहित्य उस भाषा का वैभव है, उस भाषा का सौंदर्य है। आज साहित्य की एक बड़ी समस्या उसका सामाजिक विस्थापन है। आज उस चीज का कोई महत्त्व नहीं है, जिसकी बाजार में कीमत न हो। उपभोक्तावाद ने समाज से 'तर्क' और 'नैतिक मूल्यों' को ही बहिष्कृत नहीं किया है, मानवीय संवदेना, उच्चतर सौंदर्यबोध और साहित्य को भी हाशिये पर फेंक दिया है। जाहिर है, आज उपभोक्तावाद के दबाव में जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है। इसलिए भाषा के प्रति भी दृष्टिकोण बदल रहा है।

आज संकट संपूर्ण जीवन पर है। इसलिए भाषा का जो भी संकट है, उसका संबंध जीवन के संकट से है। बाजार चाहता है कि सिर्फ उसकी भाषा चले। वह एक भाषा, एक स्वाद और एकरूपता चाहता है। निश्चय ही आज के आधुनिक जीवन का अपनी सांस्कृतिक जड़ों से विच्छिन होना कहीं से भी इस जीवन के हित में नहीं है। आदमी की जिंदगी बाजारू चीजों से भले घिरी हो, उसमें कविता जैसी गैर-व्यावसायिक चीजों के लिए भी थोड़ा 'स्पेस' होना चाहिए। क्योंकि आदमी की जिंदगी में सिर्फ सफलता काफी नहीं है, उसमें थोड़ी गुणवत्ता और अर्थवत्ता भी जरूरी है।

किसी भाषा को जानना उसके 'नॉलेज सिस्टम' को जानना है। भारत में भाषा जब-जब बदली, ज्ञान-व्यवस्था में भी परिवर्तन आया। हम भारत के इतिहास से जान सकते हैं कि उत्तर-वैदिक काल से तीन मौकों पर भाषा बदली। बुद्ध ने जब सत्ता की भाषा संस्कृत छोड़ कर पालि-प्राकृत भाषाएं अपनाईं, तब उन्होंने हिंदू कर्मकांड और वर्ण व्यवस्था वाली ज्ञान व्यवस्था की जगह एक भिन्न ज्ञान व्यवस्था भी चुनी थी। भक्त कवियों ने धर्मशास्त्रों की भाषा छोड़ कर लोक भाषाओं को अपनाया, यह भी एक भिन्न ज्ञान व्यवस्था की ओर बढ़ना था। तुलसी अगर अवधी की जगह संस्कृत में 'रामचरितमानस' लिखते, उसमें शूद्र-वध और स्त्री-वनवास के प्रसंग जरूर होते। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने क्वींस कॉलेज में अंग्रेजी शिखा पाई थी, पर वर्चस्व की भाषा अंग्रेजी छोड़ कर अपना साहित्य हिन्दी में लिखा था। बंगाल के माइकेल मधुसूदन दत्त ने ईसाइयत और अंग्रेजी अपना ली थी, पर 1857 के बाद वे अंग्रेजी छोड़ कर अपनी जातीय भाषा बांग्ला की उन्नति में लग गये। बुद्ध, कबीर, तुलसी या भारतेंदु-माइकेल मधुसूदन दत्त ने सत्ता विमर्श की भाषाओं को छोड़ कर लोक विमर्श की भाषाएं चुनी थीं। यह महज एक भाषा से दूसरी भाषा की ओर बढ़ना नहीं था, यह एक विचारधारा को चुनौती देकर एक दूसरी विचारधारा, एक दूसरे 'नॉलेज सिस्टम' को चुनना भी था। क्या एक बार फिर लोक विमर्श की भाषाओं के दिन लौटेंगे? इतिहास कहता है, लौटेंगे।

पिछले डेढ़-दो दशकों से हिन्दी को छोड़ कर जो लोग हिंग्लिश अपना रहे हैं और इस तरह हिन्दी भाषा में अंग्रेजी के अंधाधुंध मिश्रण से जो बदलाव दिख रहा है, यह सब दरअसल एक विपर्यय का मामला है। यह हिन्दी को परजीवी और इसको सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का हथियार बनाने का दुश्चक्र है। यह हिन्दी को लोक विमर्श की भाषा से सत्ता विमर्श, खासकर बाजार की सत्ता की भाषा बनाना है। यह वस्तुत: एक उदात्त ज्ञान व्यवस्था से छिछली ज्ञान व्यवस्था में छलांग लगाना है। पहले तीन मौकों पर आये बदलाव से जाहिर है, वर्तमान बदलते समय के रूझान भिन्न हैं। यह उल्टी गंगा है। आज के 'विकास' में हिन्दी की कोई भूमिका नहीं हो सकती और अंग्रेजी ही काफी है, ऐसा सोचना निश्चय ही एक भ्रम है। बल्कि यह विकास मानवीय और जनतांत्रिक तभी होगा, जब उसमें हिन्दी की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी। अभी 2005 में वैज्ञानिकों की एक सभा में किसी वैज्ञानिक के हिन्दी में पर्चा पढ़ने के कारण उस सभा की अध्यक्षता कर रहे सैम पित्रोदा ने उठ कर माफी मांगी, जबकि गांधी ने 1948 की सभा में पश्चिम के लोगों के सामने कहा था, मैं हिन्दी में बोलने के लिए माफी नहीं मांगूंगा। अंग्रेजी आर्थिक सत्ता ही नहीं सांस्कृतिक सत्ता भी बन रही है। इसलिए अंग्रेजी के बढ़ते वर्चस्व से सार्वभौम चिंता स्वाभाविक है।

दुनिया के विभिन्न मंचों से हमें हिन्दी के स्थान, महत्त्व और आत्मसम्मान का सवाल अधिक संगठित होकर उठाना होगा, यदि हिन्दी को आजाद करना हैं प्रसिद्ध स्वाधीनता सेनानी और पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी ने कहा था, यदि देश आजाद हो गया तो भी भाषा गुलाम रह सकती है, पर भाषा आजाद हो गयी तो देश गुलाम नहीं रह सकता। आठवें विश्व हिन्दी सम्मेलन से यह चीज भी निकलनी चाहिए कि एक व्यापक हिन्दी चेतना और हिन्दी के प्रति उत्तरदायित्व का अहसास कैसे बनेगा। इन चीजों को हिन्दी राष्ट्रवाद समझना या हमेशा आत्मधिक्कार से भरे रहना एक आत्मछह है। हिन्दी को उच्च-शिक्षा और रोजगार की भाषा के साथ-साथ कला-संस्कृति की भाषा भी बनाना होगा, ताकि इस भाषा को चौतरफा बल मिले। हिन्दी को इक्कीसवीं सदी में पहुंचाने के लिए अभी अपने घर में ही बहुत कुछ करना बाकी है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी के संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनने से सिर्फ हिन्दी नहीं, सभी भारतीय भाषाओं की एकता, प्रतिष्ठा और महत्ता बढ़ेगी। इससे अंग्रेजी का वर्चस्व घटेगा, विश्व बंधुत्व की भावना मजबूत होगी, भारतीय भाषाओं की उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा और दुनिया भर में आम जन का आत्मविश्वास बढ़ेगा। यह सब केवल तब होगा, जब

हिन्दी लोग जातीय स्वाभिमान रखने के साथ थोड़ा आत्मनिरीक्षण करें और अपना मन बड़ा करें। शब्दवीर के साथ थोड़ा कर्मवीर भी बनें।

हिन्दी का दौर

वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में हिन्दी बाजार की सशक्त भाषा बन चुकी है। पहले राष्ट्रीय आंदोलन और फिर हिन्दी फिल्मों ने इसे देश की संपर्क भाषा बना दिया है। हाल के दिनों में आईटी प्रोफेशनल हिन्दी को पश्चिमी देशों तक ले गये हैं। दुनियाभर में उसका प्रसार हो रहा है। यह दुनिया में चीनी के बाद सर्वाधिक बोली जाने वाली दूसरी सबसे बड़ी भाषा है। देश में 50 करोड़ लोग हिन्दी बोलते हैं और उसे कम या पूरा समझने वालों की संख्या 80 करोड़ है। टीवी चैनल हो या विज्ञापन उद्योग-बाजारवादी अर्थव्यवस्था पर हिन्दी का जादू सिर चढ़कर बोल रहा है। इसके बावजूद यह ज्ञान-विज्ञान की भाषा नहीं बन पाई है। इसके अभाव में देश तेजी से प्रगति के ऊंचे सोपान पर नहीं पहुंच सकता। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने न्यूयॉर्क में आयोजित विश्व हिन्दी सम्मेलन को भेजे संदेश में सही कहा है कि अच्छे हिन्दी सॉफ्टवेयर और सर्च इंजन बनाने की जरूरत है। उन्होंने कहा कि सरकार हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता दिलाने के लिए प्रयासरत है। इस आश्वासन से हिन्दी के तेजी से प्रसार का भरोसा बंधा है। इस सम्मेलन में हिन्दी के विकास को लेकर अनेक पहलुओं पर व्यापक चर्चा होगी तथा कुछ प्रस्ताव पारित होंगे। संयुक्त राष्ट्र के महासचिव बान की मून द्वारा सम्मेलन को संबोधित करने से इस विश्व संस्था में हिन्दी को आधिकारिक मान्यता मिलने के बारे में उम्मीदें जगी हैं।

किसी भी भाषा के विकास में सरकारी या सांस्थानिक प्रोत्साहन महत्त्वपूर्ण होता है, लेकिन स्वयं हिन्दीसेवियों- लेखकों-प्रकाशकों को भी नये जमाने की जरूरतों के अनुकूल ठोस पहल करनी होगी। हिन्दी में पठन-पाठन की संस्कृति अपेक्षानुसार विकसित नहीं हो पायी है। बांग्ला, तमिल, मलयालम जैसी भारतीय भाषाएं साहित्य सृजन में कहीं आगे हैं। उनके पाठकों का रूझान भी उत्साहवर्द्धक रहा है। हिन्दी में पठन-पाठन तभी बढ़ सकता है, जब साहित्यिक मोर्चे पर सक्रियता बढ़े और विभिन्न विधाओं (ज्ञान, विज्ञान, टेक्नोलॉजी, कला आदि) पर नयी-नयी किताबें लिखी-छापी जायें। इसके बिना बड़े पैमाने पर पाठकों को आकर्षित करना संभव नहीं है। विज्ञान व संचार क्रांति ने दुनिया की तस्वीर बदल दी है। हमारी नयी पीढ़ी इन विषयों के अध्ययन के बारे में अंग्रेजी पर आश्रित है, क्योंकि हिन्दी में स्तरीय तो दूर की बात है, कामचलाऊ पुस्तकें भी उपलब्ध नहीं। आईटी और संचार क्रांति के साथ हिन्दी को जोड़ना अतिआवश्यक है। पिछले कुछ सालों में दोनों क्षेत्रों में देश-विदेश में रोजगार के असंख्य अवसर पैदा हुए हैं। इनमें हिन्दी को महत्त्व देकर इनका आधिकारिक फायदा उठाया जा सकता है। विश्व हिन्दी सम्मेलन के प्रस्तावों या प्रधानमंत्री के आश्वासन की सार्थकता तभी है, जब उनकी घोषणाओं पर कुशलता से अमल हो।

संदर्भ

1. दैनिक हिन्दुस्तान
2. जनसत्ता
3. राष्ट्रीय सहारा

❖

हिन्दी

हिंदी पत्रकारिता का विदेशों में उन्नयन

डॉ० प्रत्युष कुमार

जिस प्रकार से भारत में हिंदी-पत्रकारिता विभिन्न चरणों में विकसित हुई है, ठीक उसी प्रकार से विदेशों में भी प्रवासी भारतीयों के द्वारा उसके विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। विश्व के ऐसे अनेक देश हैं जहाँ शताब्दियों पूर्व भारतीय जाकर बस गये थे और उनके वंशज आज भी वहां निवास करते हैं, इनमें से बहुत से ऐसे भी है जो अपने धर्म, संस्कार और भाषा से भावात्मक रूप में जुड़े हुए हैं। उन्हीं के द्वारा समय-समय पर हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ किया गया था, जो अनेक रूपों में आज भी हो रहा है।

ब्रिटेन से

ऐतिहासिक दृष्टि से विदेशों में हिंदी पत्रकारिता का जन्म सन् 1883 में हुआ था। इस वर्ष लंदन से 'हिन्दोस्थान' नामक त्रैमासिक सत्र का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। किसी भी विदेश से प्रकाशित राजा रामपाल सिंह थे। यह त्रिभाषी रूप में प्रकाशित होता था और इसमें हिंदी के साथ ही उर्दू तथा अंग्रेजी के अंश भी रहते थे। दो वर्ष तक वहां से प्रकाशित होते रहने के पश्चात् 1885 में यह राजा रामपाल सिंह द्वारा ही कालाकांकार (अवध) से प्रकाशित होना प्रारंभ हुआ। पंडित मदन मोहन मालवीय इसके प्रधान संपादक थे। यहां से यह साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था। 1887 में यह दैनिक के रूप में प्रकाशित होने लगा। अमृतलाल चक्रवर्ती, शशि भूषण चटर्जी, प्रताप नारायण मिश्र, बाल मुकुन्द गुप्त, गोपाल राम गहमरी, लाल बहादुर, गुलाबचन्द्र चैबे, शीतल प्रसाद उपाध्याय, राम प्रसाद सिंह तथा शिवनारायण सिंह इसके संपादक रहे थे। हिंदी पत्रकारिता के विकास में इसका ऐतिहासिक महत्व है।

कालांतर में इंग्लैण्ड की राजधानी लंदन से ही कतिपय अन्य हिंदी पत्र भी प्रकाशित हुए। इसमें शांता सोनी द्वारा संपादित 'नवीन' शीर्षक पत्र भी उल्लेखित किया जा सकता है। यह साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था।

इसी प्रकार एस.एन. गौरीसरिया के संपादकत्व में 'सन्मार्ग' शीर्षक से भी एक पत्र लंदन से प्रकाशित हुआ था। पी.जे. पेंडर्स ने भी एक पत्र यहीं से प्रकाशित किया था, इसका शीर्षक 'केसरी' था। इसी प्रकार सुकुमार मजूमदार के संपादकत्व में 'प्रवासी' शीर्षक से प्रकाशित एक पत्र उल्लेखनीय है।

लंदन से जो पत्र-पत्रिकाएं हिंदी में प्रकाशित हुई, उनमें जगदीश कौशल द्वारा संपादित 'अमरदीप' का नाम भी उल्लेखनीय है। यह एक साप्ताहिक पत्र था। इसी प्रकार लंदन में भारत से प्रकाशित 'आज' के प्रतिनिधि धर्मेन्द्र गौतम ने भी 'प्रवासिनी' शीर्षक से एक पत्र का संपादन आरंभ किया था जो त्रैमासिक प्रकाशित होता था।

सोवियत संघ

'सोवियत संघ' शीर्षक से एक पत्र मास्को से प्रकाशित होता है। इसके प्रधान संपादक निकोलोई गिबाचोव तथा चित्रकार अलेक्सांद्र जितो मिस्कीं हैं। इसका प्रकाशन 1972 में आरंभ हुआ था।

जापान

जापान से प्रकाशित हिंदी पत्रों में 'सर्वोदय' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका संपादन त्रोश्यो तनाका द्वारा किया जाता है। जापान से ही एक अन्य हिंदी पत्रिका, 'ज्वालामुखी' शीर्षक से भी प्रकाशित होती है। इसकी विशेषता यह है कि यह जापानी नागरिकों द्वारा ही संपादित की जाती है और इसमें उन्हीं के द्वारा हिंदी में लिखे लेख प्रकाशित होते हैं।

फ्रांस

फ्रांस से भी हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में कतिपय उल्लेखनीय प्रयत्न परिलक्षित होते हैं। फ्रांस की राजधानी पेरिस से 'यूनेस्को कूरियर' नामक पत्र का प्रकाशन उल्लेखनीय है।

मारीशस

मॉरीशस से भी हिंदी में अनेक पत्र-पत्रिकाएं समय-समय पर प्रकाशित हुई। जिसमें 'हिंदुस्तानी', 'जनता', 'आर्योदय', 'कांग्रेस', 'हिंदू धर्म', 'दर्पण', 'इंडियन टाइम्स', 'अनुराग', 'महाशिवरात्रि', एवं 'आभा' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मॉरीशस से प्रकाशित होने वाला हिंदी का सर्वप्रथम पत्र 'हिंदुस्तानी' था। इसका प्रकाशन 1909 है। इसके प्रथम संपादक मणिलाल थे। मॉरिशस से प्रकाशित अन्य हिंदी पत्रिकाओं में आत्माराम विश्वनाथ द्वारा संपादित 'जागृति' भी उल्लेखनीय है। काशीराम किष्टो ने भी मॉरीशस से प्रकाशित एक हिंदी पत्र 'आर्यवीर' का संपादन किया था। इसी क्रम में लक्ष्मण दत्त द्वारा संपादित 'आर्यवीर' तथा 'जागृति' शीर्षक पत्र भी महत्व रखते हैं। 'ओरियंट गजट' नामक पत्र मारिशस से प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन आरंभ 1930 से हुआ। 'जागृति' नाम से एक पत्र का प्रकाशन 1940 में हुआ। इसके संपादक आत्माराम थे। इसका पूर्व नाम 'आर्य पत्रिका' था। 'मॉरीशस इंडियन टाइमस' शीर्षक से एक साप्ताहिक पत्र पोर्ट लुई से प्रकाशित हुआ। यह बहुभाषी पत्र था, जिसमें हिंदी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के अंश भी रहते थे। सोमदत्त बरबौरी ने पोर्ट लुई से 1968 में त्रैमासिक 'अनुराम' का संपादन करके हिंदी पत्रकारिता का उन्नयन किया।

सूरीनाम

सूरीनाम में भी अनेक पत्र हिंदी में दैनिक, साप्ताहिक और मासिक रूप में प्रकाशित हुए। ये पत्र जहां इस देश में हिंदी पत्रकारिता के अस्तित्व के द्योतक हैं वहां दूसरी ओर प्रवासी भारतीयों की हिंदी के प्रति रुचि को भी दर्शाते हैं। इनमें दैनिक कोहिनूर अखबार साप्ताहिक 'प्रकाश' और 'शांतिदू' तथा मासिक 'ज्योति' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

दक्षिण अफ्रीका

'अमृतसिंधु नामक' एक मासिक पत्र नेटाल (दक्षिण अफ्रीका) से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक भवानी दयाल थे। इसका प्रकाशन 1990 में आरंभ हुआ था। इसी क्रम में दक्षिण अफ्रीका के डरबन

नामक शहर से 'धर्मवीर' नामक पत्र का प्रकाशन 1916 में आरंभ हुआ था। यह एक साप्ताहिक पत्र था। इसका संपादक रल्लाराम गांधीलामल भल्ला ने अमर धर्मवीर पंडित लेखराम की स्मृति में आरंभ किया था। यह पत्र हिंदी में प्रकाशित होता था। रल्लाराम गांधीलामल भल्ला उर्दू भाषा में मूल सामग्री प्रस्तुत करते थे तथा उनके सहायक मेहर चन्द भल्ला उसका अनुवाद हिंदी में करके उसे छपने को देते थे। 1917 से इसका संपादन स्वामी भवानी दयाल संयासी ने किया। 1917 तक इस दायित्व को सफलतापूर्वक निर्वाह करने के पश्चात इसका प्रकाशन बंद हो गया। इसमें कुछ लेख अंग्रेजी में भी प्रकाशित होते थे।

'हिंदी' नामक मासिक पत्रिका मई 1922 में डरबन (दक्षिण अफ्रिका) से प्रकाशित हुई थी। इसका संपादन भी स्वामी भवानी दयाल संयासी करते थे। यह अपने समय का प्रवासी भारतीयों का लोकप्रिय पत्र था। इस प्रकार 'आर्य संदेश' शीर्षक से एक पाक्षिक ट्रिनिडाड से प्रकाशित हुआ था। इसके संपादक एल. शिव प्रसाद थे। इसका प्रकाशन 1950 से आरंभ हुआ था। एक अन्य पत्र 'आर्यमिक्र' शीर्षक से भी दक्षिण अफ्रीका से प्रकाशित हुआ था। यह आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र था। 1904 में अफ्रीका के डरबन नामक स्थान से 'इंडियन ओपिनयन' नामक पत्र प्रकाशित हुआ था। इस पत्र ने राष्ट्रीय आंदोलन मदन जीत द्वारा आरंभ किया गया। कुछ समय पश्चात यह गांधीजी के संरक्षण में फिनिक्स से भी प्रकाशित हुआ था। इस पत्र ने राष्ट्रीय आंदोलन के प्रसार में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। उस पत्र से जो अन्य पत्रकार जुड़े हुए थे। उनमें मदनजीत, मनसुख लाल व भवानी दयाल प्रमुख थे। इसका आरंभ 1904 में तथा स्थगन 1914 में हुआ। इस पत्र की एक प्रति का मूल्य 12 शिलिंग था। यह द्विभाषी पत्र था।

बर्मा

बर्मा से भी समय-समय पर हिंदी की अनेक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती रही है। इनमें 'प्राची प्रकाश' 'जागृति' तथा 'ब्रह्म भूमि' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहां यह ज्ञातव्य है कि 'प्राची प्रकाश' दैनिक पत्र रंगून से प्रकाशित होता है। यह बर्मा से हिंदी में प्रकाशित होने वाला दैनिक पत्र है।

विभाजनपूर्व बंग्लादेश

अविभाजित भारत में ढाका (संप्रति बंग्लादेश) से भी हिंदी की अनेक महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएं 19वीं और बीसवीं शताब्दियों में प्रकाशित हुई हैं। इनमें प्राचीनतम 'बिहार बंधु' हैं। यह पत्रिका मासिक रूप में प्रकाशित होती थी। इसका आरंभ 1871 में हुआ। इसी क्रम में 1880 में एक अन्य मासिक पत्रिका 'धर्म नीति तत्व' शीर्षक से भी प्रकाशित हुई थी। इसका प्रकाशन वर्ष भी 1880 है। इसके आठ वर्ष पश्चात 1888 में 'विद्या धर्म दिपिका' नामक पत्रिका ढाका से ही प्रकाशित हुई थी। इसका नाम 'द्वित्र' था। इसी प्रकार 1904 में 'नारद' नाम से भी एक पत्र का प्रकाशन ढाका से आरंभ हुआ था। 1805 में 'नागरी हितैषी' पत्रिका का प्रकाशन भी हुआ। 1911 में 'तत्व दर्शन' शीर्षक पत्र का उल्लेख भी आवश्यक है। इस प्रकार 1929 में 'मेल-मिलाप' शीर्षक से एक मासिक पत्रिका भी ढाका से ही प्रकाशित हुई थी।

नेपाल

हिंदी पत्रकारिता में नेपाल से प्रकाशित पत्रों का भी उल्लेखनीय स्थान है। नेपाल की राजधानी काठमांडू से 'नेपाल' शीर्षक से एक हिंदी पत्र प्रकाशित होता है। ज्ञातव्य है कि यह पत्र दैनिक रूप

में प्रकाशित होने वाला एक विशिष्ट पत्र है। काठमांडू से ही प्रकाशित जो अन्य पत्र उल्लेखनीय है उनमें 'हीमोवत संस्कृत' पत्र भी है। इसी प्रकार 'हिमालय' शीर्षक से भी एक पत्र बीरगंज से प्रकाशित हुआ था। इसी क्रम में 'नव नेपाल' शीर्षक से एक साप्ताहिक पत्र काठमांडू (नेपाल) से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक मणिराज उपाध्यक्ष थे। इसका प्रकाशन 1955 से आरंभ हुआ था।

विभाजनपूर्व पाकिस्तान

विभाजनपूर्व के भारत एवं तत्पश्चात् पाकिस्तान के अंतर्गत चले गये लाहौर से भी बहुसंख्यक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुई हैं। इनमें 'भारतीय', 'विश्वबंधु', 'आर्यबंधु', 'आर्यजगत', 'शांति', 'सुधाकर', 'क्षत्रिय पत्रिका', 'मित्र विलास', 'बूटी दर्पण' व 'आकाशवाणी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'आर्य प्रभा' शीर्षक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी सन् 1914 में लाहौर से आरंभ हुआ था। इसके आदि संपादक संत राम तथा सहायक संपादक महानन्द थे। 1918 से यह पत्रिका साप्ताहिक रूप से प्रकाशित हुई थी। 1914 में ही लाहौर से 'उषा' नामक पत्रिका भी प्रकाशित हुई थी। इसके संपादक भी संतराम थे। जमानत न देने की असमर्थता के कारण यह पत्र दो वर्ष बाद बंद हो गया। इसी क्रम में 'हिंदी मिलाप' नामक पत्र का प्रकाशन 11 सितंबर 1927 को खुशहाल चन्द सुखचन्द (महात्मा आनन्द स्वामी) ने लाहौर से किया था। इसका संपादन सुदर्शन तथा बद्रीनाथ वर्मा करते थे। बाद में इसके प्रधान संपादक रणबीर तथा संपादक यश बने। हरिकृष्ण 'प्रेमी', रूपनाथ मलिक और संतराम भी इसके संपादकीय विभाग से जुड़े रहे थे। भारत विभाजन काल में इसके संपादक आत्म स्वरूप विभाग से जुड़े रहे थे। भारत विभाजन काल में इसके संपादक आत्म स्वरूप शर्मा थे जिन्होंने 15 अगस्त 1947 को अपना बलिदान कर दिया। 23 सितंबर 1947 से यश के संपादकत्व में यह जालंधर से पुन: प्रकाशित हुआ। इसके उर्दू संस्करण रणवीर के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ था एक अन्य संस्करण युद्धवीर के संपादकत्व में हैदराबाद से प्रकाशित होता है। इसका एक अन्य संस्करण लंदन से भी प्रकाशित होता है।

फिजी

हिंदी पत्रकारिता के विकास में विदेशों में जो कार्य हुआ है उसको दृष्टि में रखते हुए फीजी से प्राकशित हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। यहां से बहुसंख्यक पत्रों का प्रकाशन हुआ है जो सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विषयों के साथ-साथ कृषि विज्ञान आदि से भी संबंधित रहे हैं। 'अखिल फीजी कृषक संघ' शीर्षक से एक ऐसे ही पत्र का प्रकाशन दीनबंधु के संपादन में फीजी से हुआ था। इसी प्रकार 'किसान' शीर्षक से भी एक पत्रिका का प्रकाशन बी.बी लक्ष्मण के द्वारा किया गया था। कृषि विषयक एक अन्य पत्रिका नन्द किशोर के संपादन में 'किसान मित्र' शीर्षक से भी प्रकाशित हुई थी। फीजी द्वीप समूह से जो अन्य पत्र-पत्रिकाएं समय-समय पर प्रकाशित होती रही है, उनमें कमला प्रसाद मिश्र द्वारा 'जय फीजी' विवेकानन्द शर्मा द्वारा संपादित 'सनातन संदेश' संस्कृति तथा 'फीजी संदेश' जय नारायण शर्मा द्वारा संपादित 'शांति दूत' राघवनन्द शर्मा द्वारा 'जागृति', चन्द्रदेव सिंह द्वारा संपादित 'फीजी समाचार' आदि प्रमुख है। इसी क्रम में 'फिजी सरकार' तथा 'पुस्तकालय' आदि पत्रिकाएं भी उल्लेखनीय हैं। फीजी द्वीप समूह से ही प्रकाशित जिन अन्य बहुसंख्यक पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है, उनमें 'इंडियन टाइम्स' शीर्षक मासिक पत्रिका भी प्रमुख है। यह रामसिंह के संपादकत्व में प्रकाशित हुई थी। यह एक द्विभाषी पत्रिका थी, जिसमें हिंदी के साथ अंग्रेजी का अंश भी रहता था।

'इंडियन सेटेलर्स' नाम से एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन 1917 में हुआ था। इसके संपादक डॉ. मणिलाल तथा बाबू रामसिंह थे। 13 वर्ष तक प्रकाशित होने के पश्चात 1980 में यह पत्रिका बंद हो गयी। यह सुवा से प्रकाशित होती थी। लिथो में मुद्रित यह बहुभाषी पत्रिका थी जिसमें हिंदी का अंश भी रहता था।

सन् 1923 में 'फिजी समाचार' का प्रकाशन आरंभ हुआ था। यह पत्र बाबू राम सिंह के संपादन में प्रकाशित होता था। यह एक साप्ताहिक पत्र था। इसका संपादन राम खिलावन शर्मा ने भी किया था। इसकी एक प्रति का शुल्क 3 पेनी और वाषिक शुल्क 10 शिलिंग था। इसका प्रकाशन 1975 में स्थागित हो गया था। यह इंडियन पब्लिशिंग कंपनी मार्क्स स्ट्रीट सुवा (फीजी) से प्रकाशित होता था। यह एक द्विभाषी पत्र था जिसमें हिंदी के साथ ही अंग्रेजी का अंश भी रहता था। गुरुदयाल शर्मा ने सन् 1928 में 'वृद्धि', 1930 में 'पैसेफिक', तथा सन् 1932-33 में 'वृद्धि वाणी' का संपादन एवं प्रकाशन करके फीजी में हिंदी पत्रकारिता का प्रसार किया। 1935 में सुवा से प्रकाशित 'शांति दूत' की स्थापना का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है।

फीजी द्वीप समूह से ही 'तारा' नामक एक मासिक पत्रिका 1941 में प्रकाशित हुई थी। इसका संपादन ज्ञानी दास करते थे। इस पत्रिका की एक प्रति का शुल्क 3 शिलिंग और वार्षिक 12 शिलिंग था। यह कुछ समय तक पाक्षिक रूप में ही प्रकाशित हुई थी। इसका त्रैमासिक संस्करण भी प्रकाशित होता था। इसका प्रकाशन कार्यालय नसीनू (सुवा) में था। इसी प्रकार सिगातोंका (फीजी) से राघवानन्द ने 1976 से 'जागृति' शीर्षक का प्रकाशन करके हिंदी पत्रकारिता के विकास में योगदान दिया। फीजी हिंदी पत्रकार संघ के उप प्रधान के रूप में भी उनका क्रियाकलाप उल्लेखनीय है।

संदर्भ-सूची

- पत्रिका विदाउट रिजर्व पृष्ठ-11,
- दैनिक हिंदुस्तान, 25 अप्रैल 2005,
- राजभाषा भारती, स्वर्ण जयंती अंक: 1999-2000,
- आजकल मई 2005 लेख कंप्यूटर और हिंदी-अखिलेश झा,
- आजकल सिंतबर 2005 लेख हिंदी ही क्यों-रवि शर्मा

◆

हिन्दी

तुलसी के मानस में संघर्षतत्त्व

सुनीता कुमारी

हरिहरपुर, रजौली, वैशाली

संघर्ष या द्वन्द्व को किसी नाटक या उपन्यास का प्राण कहा गया है। कथानक के विकास में संघर्ष की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। घटनाओं के घात-प्रतिघात के बीच विकसित हुई कोई भी कथावस्तु बाह्य संघर्ष का परिणाम होती है, जबकि चरित्र के विकास में उसका अन्त: संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व सकारात्मक भूमिका निभाता है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने नाटक में संघर्ष की भूमिका की महत्ता पर बल देते हुए अंतर्द्वन्द्व को नाटक की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय नाट्यशास्त्र में संघर्ष या द्वन्द्व की अवस्थिति रस के अन्तर्गत स्वीकार की गई है। इस कारण इस तत्त्व को स्वतंत्र रूप से विचार का विषय नहीं बनाया गया।

तुलसीदास की महत्त्वपूर्ण कृति 'रामचरितमानस' के विशद् अध्ययन के पश्चात यह स्पष्टत: परिलक्षित है कि 'संघर्ष' ही मानस का प्राण है।

समस्त रामकथा संघर्षों की कसौटी पर ही दमकती हुई पाठकों के हृदय को स्पर्श करती है। यह संघर्ष यहां दो कोटियों में दृष्टिगत होता है। एक तो पात्रों के अर्न्तद्वन्द्व या अन्त: संघर्ष के रूप में दूसरे, मानस के कथानक में विभिन्न घटनाओं के बीच जन्म लेने वाले बाह्य संघर्ष के रूप में। मानस के चरित्र सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चुनौतियों को झेलकर विकसित हुए हैं। विकास के क्रम में उन्हें जहां मानसिक धरातल पर विरोधी-भावनाओं और मन स्थितियों का द्वन्द्व झेलना पड़ा है। वहीं अन्य सहयोगी और विरोधी चरित्रों के साथ उनका वैचारिक संघर्ष भी होता रहा है। इन दोनों प्रकार के संघर्षो ने जहां 'मानस की कथावस्तु में कौतूहल और रोचकता की सृष्टि की है, वहीं मानसकार के व्यक्तित्व को भी बहुश्रुत तथा इतिहास सम्मत स्वरूप में स्थापित किया है।

'रामचरितमानस' का उद्देश्य 'राम-राज्य' की स्थापना है और इस उद्देश्य की पूर्ति सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक एवं नैतिक मूल्यों को स्थापित कर ही की जा सकती है। स्पष्टत: इन मूल्यों को स्थापित करने में पात्रों को अंत: एवं बाह्य दोनों संघर्ष मुखरित होंगे जिनके फलस्वरूप ही समस्त कथानक जीवंत हो उठा है। मानस के पात्रों के अंतर्द्वन्द्व इसके 'सातों सोपानों' के अन्तर्गत भलीभांति ग्राह्य हैं।

'मानस के प्रथम सोपान 'बालकांड' में 'विश्वामित्र का राजा दशरथ से राम-लक्ष्मण को मांगने आना' एवं 'राम-लक्ष्मण का गुरु विश्वामित्र के साथ राजा जनक की यज्ञशाला में पदार्पण तथा धनुषभंग प्रसंग में सर्वप्रथम अंत: एवं बाह्य संघर्ष तत्त्व के दर्शन होते हैं। विश्वामित्र द्वारा यज्ञ-रक्षा हेतु राम और लक्ष्मण को मांगे जाने पर दशरथ के वचन एक पिता का पुत्रों के प्रति विशेष कर ज्येष्ठपुत्र के प्रति सहज मोह को प्रदर्शित करता है-

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी।।
चौथेपन पायउं सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु विचारी।।
सब सुत प्रिय मोहं प्रान की नाई। राम देत नाहिं बनई गोंसाई।।
कहं निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा।।

'बालकांड' में राजा जनक की सभा में 'शिवधनुष' की प्रत्यंचा चढ़ाने में असमर्थ वीरों के प्रति निराशा का भाव एवं राजा जनक का 'सीता-विवाह' हेतु की गई प्रतिज्ञा में संघर्ष तत्त्व स्पष्टत परिलक्षित है। जनक की हताशा को दर्शाते हुए तुलसी ने लिखा-

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी।।
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न विधि बैदेहि बिवाहू।।

अयोधयाकांड की तो भावभूमि ही संघर्ष तत्त्व है। 'मानस' के प्राय: सभी प्रमुख पात्र यथा-दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, कैकेयी, कौशल्या, मंथरा के चरित्र को विकास प्रदान करने में अंत: एवं बाह्य संघर्षों की महती भूमिका है। सर्वप्रथम इसके दर्शन हमें दशरथ में होते हैं जब राम राज्याभिषेक की घटना से क्षुब्ध मंथरा कैकेयी के कान-भर उसे दिग्भ्रमित कर देती है और कैकेयी राजा दशरथ द्वारा उसे दिए दो वचनों का स्मरण कराती हुए संघर्ष को गति प्रदान करती है जिसकी चरम परिणति चित्रकूट-प्रसंग में कैकयी के पश्चाताप के रूप में परिलक्षित है।

'अरण्यकांड' में संघर्ष तत्त्व मुख्य रूपेण 'मारीच-प्रसंग' एवं 'सीता-हरण' के प्रसंगों में मुखरित हुआ है। स्वर्णमृग के रूप में मारीच का छलावा और राम द्वारा वध के पश्चात् विलाप सुनकर सीता का लक्ष्मण को राम की सहायता हेतु विवश किया जाना जिसके परिणामस्वरूप सीता का हरण। समस्त प्रकरण राम-लक्ष्मण और सीता के अंतर्द्वन्द्व को प्रकट करता हुआ कथानक के विकास हेतु उर्वर भावभूमि सृजित करता है। सीता-हरण के पश्चात राम का सामान्य असहाय मानव की तरह पत्नी के लिए आशंकित होना एवं विलाप करने वाले प्रसंग अन्त: एवं बाह्य संघर्षों के अनुपम उदाहरण हैं:-

किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।
प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं।।
एहि विधि खोजत बिलपत स्वामी।
मनहुँ महा बिरहीं अति कामी।।

'किष्किंधांकाड' में संघर्ष-तत्त्व के दर्शन किंचित सीमित हैं। 'राम-सुग्रीव मित्रता' के प्रसंग में दोनों के ही पक्ष की असहायता अंतर्द्वन्द्व के पक्ष को पोषित करती है। इसके अतिरिक्त 'बालि वध' के उपरान्त सुग्रीव की राजपद प्राप्ति एवं भोग-विलास में रत होकर राम-कार्य में विलंब जनित संघर्ष इस सोपान को भी संघर्ष तत्त्व के विधान में पुष्ट बनाते हैं।

'सुंदरकांड' में संघर्ष तत्त्व स्वत: प्रवाहिनी धारा सदृश निरंतर गतिमान है, जो कथावस्तु को निरभ्र अनंत सा विस्तार प्रदान कर कौतूहलपूर्ण बनाता है। 'सीता-त्रिजटा' संवाद 'हनुमान-सीता' संवाद 'हनुमान-रावण' संवाद, 'मंदोदरी-रावण संवाद, रावण को विभीषण द्वारा समझाया जाना और विभीषण का अपमान', समुद्र के घमंड पर राम का क्रुद्ध होना आदि प्रसंग संघर्ष तत्त्व को फलीभूत होने का पर्याप्त अवसर देते हैं। सीता-त्रिजटा' संवाद में सीता की असह्य-विरह वेदना और रावण की नित

धमकियों से टूटी सीता के भावावेग का चरम दर्शन कराती इन पंक्तियों में सीता का अंत: संघर्ष स्थिर जय में प्रतिबिंबित सा ही स्पष्ट है:-

पावकमल जल ससि सवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी।
सुनहि विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करू हरू मम सोका।।

इसी प्रकार 'रावण-हनुमान' संवाद में रावण का क्रोध रूपी अंतर्द्वन्द्व इस पंक्ति में बखूबी व्यक्त हुआ है।

सुनि कपि वचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राणा।।

यह जहाँ एक ओर हनुमान के प्रति क्रोध को प्रकट करता है वहीं दूसरी ओर रावण के अंत:करण में पलते रामरूपी भय को भी प्रकट करता है।

'मंदोदरी-रावण संवाद' में मंदोदरी रावण के महाविनाश को स्पष्टत: अनुभव करती है और रावण को समझाने के क्रम में उसका अंतर्द्वन्द्व द्रष्टव्य है-

तब कुल कमल विपिन दुखदाई। सीता सात निसा सम आई।।
सुनहु नाथ सीता विनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें।।

इसी प्रकार सीता के त्राण हेतु लंका प्रस्थान के क्रम में बाधारूपी समुद्र लंघन की समस्या भी अंतर्द्वन्द्व को जन्म देती है, जो मार्ग न देने की स्थिति में समुद्र पर कुपित राम के अग्निवाण द्वारा समुद्र को सुखा देने की उद्घोषणा के रूप में दृष्टिगत है:-

लछिमन बान सरासन आनू। सोषौं बारिध बिसिख कृसानू।।

'लंकाकांड' का मेरूदंड ही संघर्ष तत्त्व है। लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध में लक्ष्मण का शक्तिबाण से मूर्च्छित हो जाने के फलस्वरूप और राम के विलाप में संघर्ष अपने गहनतम रूप में विराजमान है-

जैहउँ अवध कौन मुहु लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गंवाई।।
वरू अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं।।

इसी प्रकार 'विभीषण कुंभकरण संवाद' 'कुंभकरण का युद्ध', 'राम-रावण युद्ध' के क्रम में रावण का यज्ञ-विध्वंस आदि संघर्ष जनित अंतर्वेशों के अतुलनीय उदाहरण हैं। 'रावण वध' के पश्चात 'मंदोदरी-विलाप' भी संघर्ष के लिए पर्याप्त भूमि प्रदान करता है।

'उत्तरकांड' इस दृष्टि से संपुष्ट नहीं है क्योंकि यहां संघर्ष तत्त्व शांति के अन्तर्गत समाहित है। कुछेक प्रसंग यथा राम का अयोध्या आगमन के पूर्व भरत की मंशा की जानकारी छिटपुट रूपेण संघर्ष को दर्शाता प्रतीत होता है।

इसके साथ ही 'रामचरित मानस के विविध पात्रों के माध्यम से तत्कालीन समाज के चित्रण द्वारा सामाजिक अंतर्द्वन्द्व को भी उपस्थित किया है। गोस्वामी जी ने समाज में परस्पर विरोधी तत्त्वजनित अंतर्वेगों को धर्म, दर्शन, सामाजिक वैमनस्य तथा विभेद यथा हिन्दू-मुस्लिम विरोध, शैव, शाक्त, मतानुचयायियों के परस्पर वैमनस्य के माधयम से प्रकट किया है। इसी प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न मान्यताओं यथा द्वैत्य-अद्वैत्य, सगुण-निर्गुण, विद्या-अविद्या, माया, जगत की सत्यता-असत्यता, जीव का भेद-अभेद, ज्ञान-भक्ति, कर्म का समन्वय, शैव-वैष्णव मतभेद एवं विभिन्न संप्रदायों के आपसी विरोध, वर्णाश्रम धर्म एवं मानवता सिद्धांत, परोपकार एवं अहिंसा जैसे नैतिक मूल्यों को महत्त्व देते हुए राजतंत्र के अंतर्गत जनतंत्र को आरोपित कर प्रजा परायणता की

दूरगामी कल्पना को साकार करने के क्रम में विरोध जनित बाधाओं के फलस्वरूप उपस्थित अंतर्द्वन्द्व मानस की कथा को यथार्थ के धरातल पर संपुष्ट करता है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 'मानस' में अन्त: और बाह्य संघर्ष प्रखर रूप में विद्यमान है। संघर्ष की समुचित योजना द्वारा मानसकार ने केन्द्रीय चरित्र और उसके समय-समाज के साथ संघर्ष को निरूपित कर चारित्रिक विकास तथा कथानक को अपेक्षित गति प्रदान की है।

सन्दर्भ

1. दैनिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित आलेख 'निराला : साकार दिव्य गौरव विराट': कन्हैयालाल नंदन
2. परिचद पत्रिका के निराला अंक में प्रकाशित रचना 'निराला की काव्यभाषा': डा. श्रीरंजन सूरिदंव
3. सहित्यिक निबंध : लेखक एवं संपादक डॉ. शंति स्वरूप गुप्त

❖

हिन्दी

भूमंडलीकरण के दौर में गबन

डॉ० श्याम शरण

प्रधान डाकघर, छपरा

किसी भी बड़े रचनाकार की यह महती विशेषता होती है कि किसी भी काल, युग में उसकी कृतियां पुरानी नहीं पड़ती हैं। समय उन रचनाओं में अपने लिए नई अर्थव्यवस्थाएं, नये प्रयोजनों का संधान करता है। आज के उपभोक्तावादी फैशनपरस्त और आभूषणप्रिय समाज में प्रेमचंद का 'गबन' हमारे सामने नए द्वार खोलता है, विशेषत: तब जब हमें अपने छोटे-से नगर के मुख्य बाजार से हटकर मुहल्ले और कॉलोनी वाले बाजारों में हर वर्ष स्वर्णकारों की दो-चार नई दुकानें, भले ही बड़े शो रूम्स के मुकाबले व छोटी हों, खुलती दिखाई देती हैं और वे धड़ल्ले से चल भी निकलती हैं। मुख्य बाजारों के स्वर्णाभूषणों के बड़े व्यापारिक संस्थान तो खूब चलते ही हैं, नित्य वे अपनी शाखाएं नए-नए बाजारों, मॉल्स में खोलते रहते हैं।

'गबन' का पुनर्पाठ प्रेमचन्द के नये अर्थ का सन्धान करता दिखाई देता है। आज के उपभोक्तावादी समय में लालसाएं जिस तरह आसमान को छू रही हैं, आकाश ही उनकी सीमा है। जिस प्रकार विज्ञापन और विपणन की नयी-नयी नीतियां डिजाइनर आभूषणों और वेशभूषाओं के लिए लालसाएं जगा रही हैं—मनुष्य को अपने साधनों से बाहर जाकर आकर्षक उत्पादों को आयात करने के लिए तरह-तरह के भ्रष्टाचार, कदाचार, धंधलियों में संलिप्त करती जा रही हैं, इन्हीं स्थितियों का शिकार रमानाथ, जालपा और कुछ अंशों में रतन भी होते हैं—अपने साधनों की सीमा का ध्यान किये बिना 'सब कुछ' को प्राप्त करने की लालसा और जुगतें आज के समय की विडम्बना, विद्रूपमयी स्थितियां हैं। 'गबन' की कथा केवल प्रेमचन्द के समय (1930-31 ई०) की न रहकर वर्तमान की कथा बन जाती है उसमें अतीत और वर्तमान एक बिंदु पर आ खड़े होते हैं।

'गबन' जिस रूप में आभूषण-प्रियता के खिलाफ खड़ा होता है, वह आज के उत्तर आधुनिक समय में बाजारवाद के खिलाफ एक पूरे आंदोलन का-सा रूप ले लेता है। वह जिस रूप में जालपा को 'प्यार करने की वस्तु से उपासना की वस्तु बनाने' का चरित्रांकन कौशल दिखलाता है, वह इस उपभोक्तावादी समय में त्राण की दिशा में एक प्रतिरोधी स्वर बनकर हमारे वर्तमान को एक दृष्टि प्रदान करता है। जालपा के चरित्र की गढ़न में प्रेमचन्द बहुत कुशल शिल्पी होने का परिचय देते हैं। वास्तविकता से पूरी तरह अनभिज्ञ स्त्री जब असलियत जान जाती है तो उसका रमणी-रूप ऐश्वर्य और भोग का पूरी तरह परित्याग कर एक सात्विकता में ढल जाता है, उसकी पूरी सोच एक रूपांतरण प्राप्त कर लेती है। उसे समझ में आ जाता है कि 'विलास वृत्ति संतोष करना नहीं जानती।' आज की 'स्व' का गौरव और दूसरों की ईर्ष्या ('ओनर्स प्राइड एण्ड नेवर्स एन्वी') के दर्शन को जीने वाली पीढ़ी को जालपा का चरित्र एक संदेश देता है।

गहनों से पेट न भरने और स्वर्णाभूषणों की दुकान पर खचाखच भीड़ के लिए प्रेमचन्द का यह कथन कितना सामयिक हो उठता है—"सब घरों का यही हाल है। जहां देखो—हाय गहने! हाय गहने!

गहने के पीछे जान दे दें, घर के आदमियों को भूख से मारें, घर की चीजें बेचें। और कहां तक कहूं, अपनी आबरू तक बेच दें। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सबको यही रोग लगा हुआ हैं' यदि यह रोग न भी लगे तो आज उपभोक्तावाद को बढ़ावा देती कंपनियां, बैंक-सभी आपको ऋण देने के लिए आमादा बैठे हुए हैं—कई-कई फोन आपको किये जाते हैं, ब्याज-मुक्त कार, टी॰ वी॰, फ्रिज, ए॰ सी॰ घर बैठे ले लो।

बैंक आपसे मनुहार कर रहे हैं कि हमसे 'लोन' ले लो और प्रेमचन्द समझा रहे हैं—'कर्ज से बड़ा पाप दूसरा नहीं। न इससे बड़ी विपत्ति है। जहां एक बार धड़का खुला कि आये दिन शराब की दुकान पर नजर आओगे।' प्रेमचन्द यूरोप की इस जीवन-पद्धति से प्रभावित नहीं होते-''यूरोप के लोग धनी हैं, उन्हें लुटाना शोभा देता है, हमें नहीं, हम दरिद्र हैं, हमारी कमाई का एक पैसा भी फिजूल खर्च न होना चाहिए।'' आज ओढ़ने-पहनने और सजने में जीवन की जो प्राथमिकताएं बदल गयी हैं, वह चिंता 'गबन' में भी है—''जिन्हें सवेरे का जलपान तक मयस्सर नहीं होता, उन पर भी गहनों की सनक सवार है।'' गहने आज गहनों तक ही सीमित नहीं रहे, शरीर-प्रसाधन के वैविध्य-भरे उत्पादों का अम्बार नये-नये आकर्षण जगा रहा है। जालपा का रतन के यहां पार्टी में जाने की तैयारी करना, सहसा ही 'किटी' पार्टियों के माहौल की तुलना कराने लगता है। आज विदेशी वस्तुओं, तरह-तरह के उत्पादों, का जो आकर्षण अभिजनों-एलीट्स में बढ़ रहा है, प्रेमचन्द स्वदेशी वस्तुओं और विदेशी वस्तुओं की तुलना कर, इस समस्या से जूझते हैं—''विलायती शराबें उड़ाओ, विलायती मोटरें दौड़ाओ, विलायती दवाइयां पियो, परदेश के नाम को रोये जाओ।''

कभी आश्चर्य होता है यह देख कर कि प्रेमचन्द की क्रांतिदर्शी रचनाकार कैसे आगत की इतनी सजीव-सटीक कल्पना कर सका है। 'स्वराज' की परिकल्पना पर वे अपने वक्त के नेताओं-कुलीनों को लताड़ते हैं—''तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाठ बनाये घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा। अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जाएगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।'' प्रेमचन्द का भद्र समाज आज के भद्र समाज से कुछ बहुत ज्यादा अलग नहीं था, अंतर केवल भावगत आया है, प्रवृत्तिगत स्थितियां जस की तस है।

प्रेमचन्द के विचारों, की प्रगतिशीलता और आधुनिकता पूर्ण दृष्टि से परिचय के लिए उनके 'स्त्री-विमर्श' को गहरे पैठ कर देखना चाहिए। जालपा, रतन, जग्गो जैसे चरित्रों के माध्यम से उन्होंने स्त्री-स्वातन्त्र्य और अस्मिता के ऐसे सवाल खड़े किए हैं जिनसे आज 'स्त्रीवाद' निरंतर जूझ रहा है। स्त्री की स्वाधीनता को वह देश की सभ्यता का मापक मानते हैं, रतन की वकील पति इस मान्यता की प्रतीति कई तरह से देता है। वह न केवल विधवा विवाह के पक्षधर हैं उन्हें विदेशों की भांति 'सत्तर वर्ष की वृद्धाओं' के 'युवकों से विवाह' पर भी आपत्ति नहीं है। शायद ऐसी खुली दृष्टि इधर से स्त्रीवादी विमर्श के उपन्यासों में भी नहीं है—'मनुष्य को कभी किसी सहगामिनी' की जरूरत होती है तो वह बुढ़ापे में, जब उसे हरदम किसी अवलंब की इच्छा होती है, जब वह परमुखापेक्षी हो जाता है।'

'गबन' में हमारे समय के लिए, हमारी समस्याओं में पैठ के लिए और कई प्रसंग हैं। जग्गो के यहां की 'प्रेम की रोटियां' जिनमें 'अमृत का निवास' है, रमा को खिलाकर प्रेमचन्द छुआछूत और जातीयता की संकीर्ण दीवारों को तोड़ने का उपक्रम करते हैं। रमा को पुलिस के चंगुल में दिखाते हुए वे आज के पुलिसिया हथकण्डों को साक्षात् कर देते हैं। भारतीय पुलिस का सनातन चरित्र

उजागर हो उठता है। कथा के विन्यास में विचारों की मधुवेष्ठित (शुगर कोटेड) खुराक देने में प्रेमचन्द का सानी नहीं। इस कला का एक बहुत उत्कृष्ट रूप तब दिखाई देता है जब प्रेमचन्द अपने गहन-चिंतन को कुछ सहज उपमाओं, दृष्टांतों, सूक्तियों आदि में मोतियों के रूप में पाठक को देते हैं–'विजय बहिर्मुखी होती है, पराजय अंतर्मुखी', 'भूखा आदमी इच्छापूर्ण भोजन चाहता है, दो-चार फुलकों से उसकी तुष्टि नहीं होती', 'वियोगियों के मिलन की रात बटोहियों के पड़ाव की रात है, जो बातों में कट जाती है।' अद्‌भुत कथा-कौशल में बुनी गयी यह औपन्यासिक कृति आज भी नयी है, कल भी रहेगी।

संदर्भ सूची

1. बाल मनोवैज्ञानिक प्रेमचन्द- विजय कुमार शर्मा।
2. भारतीय जनजागरण और प्रेमचन्द्र का उपन्यास- सत्यवती मितल।
3. हिन्दी पत्रकारिता- प्रेमचन्द और हंस - रत्नाकर पांडेय।

◆

हिन्दी

हिन्दी भाषा के विकास में डॉ० रामविलास शर्मा का योगदान

डॉ० प्रवीन कुमारी

नरेला, दिल्ली

भाषा हमारे व्यक्तित्व का आईना है। यह हर किसी के लिए सुलभ है, व्यक्ति के पूरे व्यक्तित्व में हवा-पानी की तरह गहराई तक बसी हुई है, इसलिए इसके सहारे शिक्षित और अशिक्षित, स्त्री और पुरूष, उच्च की और निम्न वर्ग आदि समाज के सभी तबके के व्यक्तियों को छेड़ा और उकसाया जाना संभव है। 'छेड़ना' और 'उकसाने' की झलक 'हिंदी-उर्दू' विवाद के संदर्भ में, हमें इस लेख में भी मिलते हैं। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के शब्दों में, ''भाषा अगर दो दिलों को जोड़ने का काम करती है तो वह दो दिलों को तोड़ने का साधन भी बनती है। अगर भाषा के सहारे हम 'सच' को पकड़ने की क्षमता रखते हैं तो उसी के सहारे हम 'झूठ' को भी सच साबित करने का सामर्थ्य रखते हैं।'' [भाषाई अस्मिता और हिंदी, पृष्ठ-19] इस लेख में रामविलास शर्मा ने, हिन्दी भाषा की विकास प्रक्रिया को भारतेन्दु युग के तहत दिखाया है। पूरा लेख 21 खण्डों में है, जिसमें शर्माजी शुरूआत के 10 खण्डों में विशाल हिन्दी-भाषा जाति, हिन्दी की साहित्यिक विरासत और उसका भाषायी परिवेश, लल्लूजी लाल और उनके पहले के लेखकों की रचनाओं में 'भये','सुनाय' का प्रयोग', आवै'- 'जावै की जगह आये', 'जाये की प्रतिष्ठा, पूर्वकालिक क्रियारूपों में कर और करके का प्रयोग, पंजाबी और राजस्थानी का प्रभाव, हिंदी-उर्दू के विकास में ब्रजभाषा की भूमिका, पुरानी हिन्दी में 'ने' का प्रयोग और लल्लूजी लाल और मीर अम्मन के गद्य की सामान्य विशेषमताएँ और भेद बतलायी गई हैं।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास और प्रसार की राह में जो कठिनाइयाँ थीं, उन्हें दूर करने के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 1873 ई. में 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' नाम की पत्रिका निकाली। इस पत्रिका का गहरा असर हिन्दी भाषा के निखार और साहित्य के विकास पर पड़ा। यह हमारे लिए गर्व की बात है कि, जातीयता की दृष्टि से आज हिन्दी बोलने वालों की संख्या दुनिया में सबसे ज्यादा है।

आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रगति के सौ वर्ष पूरे हुए हैं और इन सौ वर्षों में हमने अपना एक अलग मुकाम बनाया है, जो हमारे लिए जातीय और राष्ट्रीय महत्व की घटना है। हम देखते हैं कि, जिस तरह हिन्दी का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश है उसी तरह उसका एक भाषागत परिवेश भी है, जिसकी अपनी कुछ विशेषताएँ भी है:-

(1) 'हिन्दी के भाषागत परिवेश की पहली विशेषता यह है कि हिन्दी प्रदेश की बोलियों में सामान्य तत्वों के अलावा उनके व्याकरण और शब्द भण्डार की अपनी विशेषताएँ हैं। यह

अन्तर्जनपदीय परिवेश हिन्दी भाषा को प्रभावित करता है और स्वयं भी उससे प्रभावित होता है।' [हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा और भारतेंदु युग-पृष्ठ-141]

(2) 'हिन्दी-उर्दू का सह-अस्तित्व और परम्परा प्रभाव हिन्दी के भाषायी परिवेश की दूसरी विशेषता है।' [वही, पृष्ठ-142] यह भी तब जबकि विशिष्ट शब्द-भण्डार के विचार से (हिन्दी-उर्दू) दोनों में उतना फासला है जितना अंग्रेजी और लैटिन में नहीं है। यह और बात है कि संरचना और शब्द-भण्डार की दृष्टि से दोनों के रूप मिलते-जुलते हैं।

(3) 'हिन्दी के भाषागत परिवेश की तीसरी विशेषता इसके सब-स्टैण्डर्ड' रूप है, जो जनपदीय बोलियों के प्रभाव से बनते हैं। [वही, पृष्ठ, 143] जैसे महंगी आदि से प्रभावित पटना की हिन्दी, भोजपुरी से प्रभावित बनारसी और खड़ी बोली की राजधानी दिल्ली पर पंजाबी का असर।

(4) रामविलास शर्मा अरबी-फारसी के महत्व को दरकिनार करते हुए लिखते हैं कि ''किसी भारतीय भाषा के लिए अरबी या फारसी का वह महत्व नहीं हो सकता जो उसके लिए संस्कृत हमारे देश की ही नहीं हमारे प्रदेश की भी भाषा रह चुकी है। वे कहते हैं कि अगर उर्दु की शब्द उधार लेने की हैं तो वह तुर्की से ले क्योंकि दिल्ली की गद्दी पर तुर्क बैठे थे। 'तुर्की' भाषा से शब्द उधार लेने का है रामविलास शर्मा का यह कोण गले से नीचे नहीं उतरती।

लोकतांत्रिक परंपरा में भाषाओं के जायज हक को कुचला नहीं जा सकता है। यह किसी वर्ग विशेष पर अपना राय थोपने जैसा है। रामविलास शर्मा सारे विवाद की जड़ उर्दू में कोई बुनियादी फर्क देना चाहते हैं। उनका कहना है कि हिंदी उर्दू में कोई बुनियादी फर्क नहीं है। जबकि यह सैद्धांतिक रूप से माना भी जा सकता है किन्तु व्यावहारिक रूप से इसे हम नहीं मान सकते हैं। यह सही है कि 'दोनों ही खड़ी बोली को दो साहित्यिक शैलियां हैं।'[1] यह उदारता पूर्वक दिया गया बयान है। भाषा में उठे इन्हीं सब विवादों को देखकर प्रेमचंद ने कहा ''वह शब्द सरल है जो व्यवहार में आ रहा है। इसमें कोई बहस नहीं क्यों इतना सौतियाडाह है, मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को उर्दू नाम प्रिय है तों उन्हें इस्तेमाल करने दीजिए। जिसे हिंदी नाम से प्रेम है, वह हिंदी ही कहे। इसमें लड़ाई काहे की है।-[प्रेमचंद-'साहित्य का उद्देश्य, (पृष्ठ-106)]

इस तरह हम देखते हैं कि रामविलास शर्मा ने अरबी-फारसी हिंदी-उर्दू के संबंध में जिसे चौथी भाषाई विशेषता के रूप में इंगित किया है, उनका वह दृष्टिकोण एकांगी है।

(5) पाँचवी और अन्तिम विशेषता के रूप में वे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी का प्रभाव मानते हैं।

पुरानी चाल की हिन्दी के बाद भारतेन्दु हरिचन्द्र ने उसे नयी चाल में कैसे ढ़ाला इस पर शुक्ल जी अपनी टिप्पणी इस प्रकार करते हैं- ''मुंशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिए भी-लल्लूजी लाल में ब्रजभाषापन और सदसि मिश्र में पूरबीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक सीमित न था, वाक्य विन्यास तक में घुस गया था। राजा लक्ष्मण सिंट की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोलचाल का पुट उसमें कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट और सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।'' [हिन्दी साहित्य का इतिहास,

पृष्ठ-246] स्पष्ट है राजा शिवप्रसाद की तरफ से बिल्कुल आँख- मूँदकर भारतेंदु हरिश्चन्द्र को आचार्य शुक्ल ने प्रतिष्ठित कर दिया। ''1873 ई. में भारतेंदु से हिंदी चाल में ढ़ली'' इस एक वाक्य में पर हिन्दी साहित्य में बहुत विवाद उत्पन्न हुए हैं। इस लेख में भी राम विलास शर्मा की ज्यादा कोशिश यही दिखाने में है कि हरिश्चन्द्र के द्वारा ही हिन्दी नए चाल में ढ़ली।

अब सवाल यह उठाता है कि क्या सचमुच हिन्दी 1873 ई. में चाल में ढ़ली या इसके पीछे इसकी एक सुदृढ़ लंबी विरासत है? हलाँकि वो निष्कर्ष के रूप में स्वीकार करते हैं कि ''1873 ई. में हिन्दी नयी चाल में नहीं ढ़ली, यह कार्य इससे बहुत पहले सम्पन्न हो चुका था। 1857 ई. के आस-पास राजा शिवप्रसाद जैसी हिन्दी लिख रहे थे, उसी को भारतेन्दु ने अपनाया था। [हिन्दी भाषा की विकास परम्परा,-पृष्ठ-227]।

इस पर डॉ. तलवार अपनी पुस्तक रस्साकशी में लिखते हैं कि ''डॉ. शर्मा का बयान आधा सच है। उन्होंने अपने कथन का अधार 1857 ई. में छपे भूगोलहस्तामलक के दूसरे संस्करण को बनाया। भूगोल-हस्तामलक की भाषा शिवप्रसाद ने बैतालपच्चीसी की चाल पर रखी थी जो अरबी-फारसी के सरल और प्रचलित शब्दों से मिश्रित हिन्दी थी। यह हिन्दी भारतेंदु की पहचान नहीं है। भारतेंदु ने शिवप्रसाद की धार्मिक विषयों से संबंधित किताबों (मानव धर्म सार वगैरह) की हिन्दी को अपनाया था जिनमें संस्कृत के सरल और प्रचलित शब्दों से मिश्रित हिन्दी लिखी गई थी। वास्तव में शिव-प्रसाद की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भी भारतेन्दु के मुकाबले ज्यादा सरल साफ-सुथरी और प्रभावपूर्ण है। भारतेन्दु की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी बेढंगी और उबड़-खाबड़ है। [रस्साकशी, पृष्ठ-84]।

इन दोनों (राजा शिवप्रसाद सिंह और भारतेन्दु) की हिंदी के साथ-साथ लल्लूजी लाल और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की हिन्दी में भी अंतर खोजा जा रहा था। रामविलास जी के अनुसार, लल्लूजी लाल और भारतेन्दु की हिन्दी में 'भये' का प्रयोग होता था, पुरानी चाल की हिन्दी में भी 'भये' का प्रयोग होता था। 'भया' रूप तो जनपदीय बोलियों में अब भी प्रयुक्त होता है। किन्तु उसे पंडिताऊ या गँवारू समझकर हिन्दी की टकसाल से निकाल दिया गया है। वस्तुत: 'भये' का बहिष्कार आधुनिक हिन्दी-उर्दू की विशेषता है।

''जनपदीय खड़ी बोली का रूप हिन्दी-उर्दू रूप आगरे की देन है। व्यापार की बहुत बड़ी मंडी होने से यहाँ अनेक बोलियों को इकट्ठे होने और एक-दूसरे को प्रभावित करने का अवसर मिला। आगरे के कुछ खास शब्द-रूप पुरानी हिन्दी-उर्दू में प्रचलित थे, वे पुराने व्याकरणों, शब्द-कोशों और पाठ्यपुस्तकों में मिलते हैं। [रामविलास शर्मा, भारतेन्दु और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा, पृष्ठ-277]। खड़ी बोली ब्रजभाषा से भी प्रभावित रही है। आगरा ब्रज जनपद का नगर है, यही कारण है कि यहां जिस खड़ी बोली का विकास हुआ वह ब्रजभाषा से प्रभावित थी। पुरानी उर्दू अथवा मुसलमान लेखकों की हिन्दी पर जितना प्रभाव फारसी का है, उससे कहीं ज्यादा ब्रजभाषा का है। इस तथ्य को ठीक से नहीं समझ पाने के कारण ही यह भ्रम पैदा हो गया कि मुगलों के लश्कर में उर्दू का जन्म हुआ। ब्रजभाषा का यह प्रभाव दिल्ली-आगरे के साथ-साथ बीजापुर और हैदराबाद की हिन्दी पर भी है। हिन्दी-उर्दू एकता कायम में नजीर अकबराबादी का बहुत बड़ा योगदान है। वे कम्पोजीट कल्चर के हिमायती थे। ब्रजभाषा के 'य' रूप का दर्शन इनके यहां मिलते हैं। जैसे- महादेव जी का ब्याह कविता में-

पहले नॉव गणेश का, लीजे सीस नवाय।
जासे कारण सिद्ध हों, सदा मुहूरत लाय।।

लेकिन क्रियारूपों के 'य' और 'व' वर्णो का प्रयोग अब सिर्फ जनपदीय बोलियों में ही रह गये हैं। इन वर्णों को हटाकर हिन्दी-उर्दू ने अपनी रचना-शक्ति में कुड कमी कर ली है। 'व' के स्थान पर 'य' और 'ए' के स्थान पर 'ए' की प्रतिष्ठा कर हिन्दी-उर्दू टकसाली बन गई है। जैसे- गालिब के इस शेर में 'य' वाले रूपों का प्रयोग किया गया है:-

कभी नेकी भी-उसके जी में गर आ जाय है मुझ से।
जफायें करके अपनी याद शरमा जाय है मुझसे।।''

इसी तरह 'कर' के प्रयोग में भारतेन्दु सतर्क रहते हैं। वे लिखते हैं- ''यह प्रतिज्ञा करके बड़े क्रोध से राजभवन से चला गया'' (मुदाराक्षस')। इनसे पहले राजा लक्ष्मणसिंह भी अपने गद्य में ऐसी ही सतर्कता बरतते हैं, ''शकुन्तला सूरज निकलते ही शिरस्नान करके बैठे हैं'' (शकुन्तला नाटक)। हिन्दी में ऐसे अनेक क्रियारूप हैं जिनका प्रयोग पुरानी हिन्दी में होता था किन्तु आधुनिक हिन्दी में वे प्रयोग नहीं होते। 'आन' और 'पहिरना' ऐसे ही क्रिया रूप हैं गालिब ने भी आन का प्रयोग किया है। काम वह आन पड़ा है कि बनाये न बने,। पहिरना का आधुनिक रूप पहनना हो गया है। इसी तरह 'कारे' 'जहाँ' के साथ वहाँ का प्रयोग 'उस' की जगह 'विस' का प्रयोग आगरे की खड़ी बोली की विशेषता है। हिन्दी-उर्दू सीखने में एक कठिनाई 'ने' का प्रयोग है। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने एक बार प्रस्ताव किया था कि हिन्दी से 'ने' का व्यवहार उठा दिया जाये।

इस तरह हम देखते हैं कि पुरानी हिन्दी-उर्दू के बहुत से रूप, बहुत से प्रयोग आपस में टकरा रहे हैं और भाषा की भागीदारी में बहते-टकराते अपना रूप संवार रहे हैं। [भारतेन्दु युग पृष्ठ-180]

भारतेन्दु-युग की हिन्दी में भदेस पन के कारण बड़ी शक्ति है। आधुनिक हिन्दी ने भाषा की एक प्रबल शक्ति (भदेसपन) की उपेक्षा कर अपने को परिनिष्ठित किया है। जिससे दोनों जहां पहले एक धरातल पर थे, वहीं अब एक ने अपना मुख संस्कृत की तरफ और दूसरे ने अपना मुख अरबी-फारसी की तरफ ली है। अलगाँव का यह सिलसिला कोर्टविलियम कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष गिलक्राइस्ट से शुरू होता है। इससे पहले मीर, गालिब, नजीर, आदि ने साझी-संस्कृति के विकास में अपनी अहम भूमिका निभायी थी। मीर ने अपनी भाषा को हिन्दी कहा था। उनकी हिंदी, हिंदी-उर्दू का बेइंतहा खूबसूरत रूप है। 'सिरहाने मीर के अहिस्ता बोली अभी टुक रोते-रोते सो गया है।''इस तरह हम देखते हैं कि ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली-तीनों में मुसलमान कवियों ने रचनाएं की हैं। इससे इस धारणा को खारिज किया जा सकता है कि उन्होंने केवल खड़ी बोली के उस रूप को अपनाया था, जिसे उर्दू कहते हैं। गिलक्राइस्ट ही वह शख्स था, जिसने हिन्दु-मुसलमानों के भाषाओं को जातीय आधार पर अलग करने की कोशिश की, और एक ही भाषा के दो रूप करने में सफलता प्राप्त की। उसने अपने यहाँ उर्दू और माखा के मुंशियों से कहा था कि जब हिंदी लिखों, तब उसमें अरबी-फारसी के शब्द न आने दो, और जब उर्दू लिखो तो उसमें संस्कृत के शब्द न आने दो। किन्तु उसके आदेश की अवहेलना कर वे लोग दोनों शैलियों को मिला देते थे।

राजा शिवप्रसाद को अंग्रेजपरस्त समझा जाता रहा है। जबकि उनके प्रति ऐसी धारणा रखना उनपर अन्याय करना है। वस्तुत: वे ऐसे भाषा पर जोर देते थे जो ज्यादा शाइस्ता न हो। लेकिन उसमें रोजमर्रा की जिंदगी का भोंडापन भी न हों, हिंदु या मुसलमान उसकी तारीफ न करें तो उससे बिदके भी नहीं। आम जनता के बीच दोनों भाषाओं में दरार नहीं थी, दरार थी उच्चवर्गों का यह दृष्टिकोण भाषा के परिष्कार के नाम पर उसे जनपदीय बोलियों से शहरी बोलचाल से, दूर ढकेल रहा था और यह सिलसिला अंग्रेजी राज खत्म होने के पच्चीस साल बाद भी जारी रही है। ''भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का

यह युगान्तकारी महत्व है कि वह जो भाषा लिखते थे वह जनपदीय बोलियों तथा शहरी बोलचाल के बहुत पास थी। [......हरिश्चन्द्र युग, पृष्ठ-203]

1873 और 1973 तक पिछले सौ वर्षों में विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली कि, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संविधान बनाने वालों को यह सोचकर दुख हुआ कि हमारा राष्ट्र तो स्वाधीन हो गया किन्तु राष्ट्रभाषा अकिसित रह गयी है। इसलिए हिंदी पर दया करके उसे विकसित करने के लिए 15 वर्षों का समय दिया गया। शायद संसार के किसी भी भाषा के लिए उसी के देश में यह नहीं कहा गया होगा कि, यह भाषा अविकसित है और विकसित होने के लिए 15 वर्ष का समय दिया जाता है। तब-तक अंग्रेजी में इसके समकक्ष राजभाषा का कार्य होगा। फिर शुरू हुआ, कोश बनाने का सिलसिला। उसमें हजारों शब्द वही थे जो उन्नीसवीं सदी में प्रचलित थे। कुछ शब्द जॉन 'शेक्सपियर' की पुस्तक से, कुछ फैलन के कोश (1873 ई.) से और कुछ शब्द लल्लूजी लाल की शब्दसूची से लिये गये हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि ''शब्द पुराने हैं, पुरानी पुस्तकों में मौजूद हैं किन्तु हवा यह बाँधी गयी कि हिन्दी निदेशालय हजारों नये शब्द गढ़ने में लगा है। शब्द गढ़ना और बात है, शब्द संग्रह करना और बात।'' [हिन्दी......भारतेन्दु युग पृष्ठ-209]

उन्नीसवीं सदी में लल्लू जी लाल ने साढ़े तीन हजार से ऊपर हिन्दी की सूची बनायी थी और उनके फारसी और अंग्रेजी प्रतिरूप दिये थे। फैलन का शब्दकोश 1879 ई. में प्रकाशित हुआ। फैलन ने अपना कोश हिन्दी उर्दू के साधारण जानकारों के लिए बनाया था। जो पारिभाषिक शब्द उन्होंने दिये हैं, वे चालू हिन्दुस्तानी या हिन्दी के हैं। फैलन ने अपने शब्दकोश में पहली बार और बहुत ही स्पष्ट रूप से जातीय भाषा हिन्दी और जनपदीय बोलियों के संबंध की सही व्याख्या की। उनका शब्दकोश 19वीं सदी की भाषायी स्थिति का दर्पण है। जो पारिभाषिक शब्द उन्होंने दिये हैं वे चालू हिन्दुस्तानी या हिन्दी के है। ये गणित, भौतिक, विद्युत, ज्योतिष और वनस्पति शास्त्रों के हैं। फैलन के सामने तीन तरह के पारिभाषिक शब्द थे- अरबी, संस्कृत और हिन्दुस्तानी। फैलन ने पहली बार अपने कोश में आम जनता की बोलचाल और ग्रामीण माहभाषा को महत्व दिया। यहाँ तक कि ''अभी विद्यालयों में गँवारी बोली के लिए प्रोफेसर पद नहीं है लेकिन एक दिन आयेगा जब जनता की भाषा के लिए ऐसे पद होगें। '' [वही, पृष्ठ-257]

फैलन का शब्दकोश उन्नीसवीं सदी की भाषायी स्थिति का वह दर्पण है जिससे हमें पता चलता है कि हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की कमी का रोना भ्रामक था, जिसे गढ़ने का काम केन्द्रीय निदेशालय ने किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु हरिशचन्द्र और उनके सहयोगियों ने हिन्दी भाषा की प्रकृति पहचानकर उसे साहित्यिक ब्रजभाषा और तत्कालीन जनपदीय बोलियों की भाषा संपदा से वंचित न होने दिया। उनकी नयी चाल की हिन्दी पुरानी चाल की हिन्दी के बहुत निकट है किन्तु आधुनिक हिन्दी उनकी भाषा से दूर जा रही है। इस पर अंग्रेजी का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ रहा है।

हिन्दी में अंग्रेजी मुहावरों, शब्दों और वाक्यांशों का अनुवाद करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिससे हिन्दी का अपना रूप विकृत हुआ है और उसकी आन्तरिक क्षमता में भी कमी आयी है। भारतेन्दु युगीन हिन्दी, राजा शिवप्रसाद एवं फैलन के उत्कृष्ट योगदान को ध्यान में रखते हुए हमें हिन्दी को अंग्रेजी के प्रभाव से मुक्त कराने की जरूरत है। क्योंकि अपनी समस्याओं को जितनी अच्छी तरह से हम अपनी भाषा में समझ सकते हैं। उतनी अच्छी तरह से हम विदेशी चश्मों से नहीं समझ सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास [नागरी प्रचारिणी समा, वाराणसी], - रामचंद्र शुक्ल।
2. 'साहित्य का उद्देश्य' - प्रेमचंद।
3. भारत की भाषा समस्या - डा. रामविलास शर्मा।
4. आधुनिक भावबोध की संज्ञा - अमृत राय।
5. 'हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र' - रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव।
6. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा [राजकमल प्रकाशन, पटना], 1975- रामविलास शर्मा।
7. रस्साकशी [सारांश प्रकाशन, दिल्ली, हैदराबाद], 2002-डा. वीरभारत तलवार।

◆

रामचरितमानस में सत्संग महिमा

डॉ० राजेश कुमार सिंह

देवघर कॉलेज, देवघर

रामचरितमानस में सत्संग महिमा का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। तुलसी का जिस काल में जन्म हुआ था, उस समय उन्होंने जिस समाज को देखा था, वह बहुत ऊँचे आदर्शों पर नहीं चल रहा था। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार – ''उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में डूबे हुए थे और निचले स्तर के स्त्री-पुरुष दरिद्र, रोगी और अशिक्षित थे।''[1] उस समय नाथ पंथी रमते जोगियों के प्रभाव से जनता भ्रमित होकर तरह-तरह की करामातों को चिन्ह मानने लगी थी। भक्ति की सच्ची भावना दब गई थी। इसी कारण उन्होंने लोक को सच्चे धार्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए कहा कि सत्संग आनन्द और कल्याण की जड़ है। दुष्ट भी सत्संग पाकर सुधार जाते हैं। संतों के संग की महिमा और प्रभाव का वर्णन करते हुए वे कहते हैं-

जलचर थलचर नभचर नाना।
जे जड़ चेतन जीव जहाना।।
मति कीरति गति मूतिमलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहिंपाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लेकहुँ बेद न आन उपाऊ।।
बिनु सतसंग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।
सत संगत मुद मंगल मूल।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला।।
सठ सुधारहिं सतसंगति पाई।
पारस परस कुधात सुहाई।[2]

राम के चरणों में अनन्य प्रेम मोह के रहते संभव नहीं है। मोह विनाश के लिए सत्संग आवश्यक है –

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न खढ़ अनुराग।[3]

भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुसार समस्त साधानों का है परमात्मा की भक्ति। लेकिन यह तब तक संभव नहीं है जब तक हमें संत की कृपा नहीं प्राप्त हो जाती। संतों का संग करने से राम की भक्ति सुलभ हो जाती है –

सब कर फल हरि भगति सुहाई।
सो बिनु संत न काहुँ पाई।।
अस बिचारि जोइ कर सतसंग।
राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा।[4]

तुलसी से क्षण भर के सत्संग से प्राप्त सुख को स्वर्ग और मोक्ष के सुखों से बढ़कर बतलाया है –

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग।[5]

वास्तव में संत समागम के समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर हरि कृपा बिना संभव नहीं है। ऐसी बात वेद और पुराण भी कहते हैं –

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान।[6]

तुलसीदास ने भक्ति को स्वतंत्र साधन और सब सुखों की खान माना है। परन्तु सत्संग के बिना प्राणि इसे नहीं पा सकते और पुण्य समूह के बिना संत नहीं मिलते। सत्संगति ही जन्म-मरण के चक्र का अन्त करता है –

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी।
बिनु सत्संग न पावहिं त्रनी।।
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।
सतसंगति संसति कर अंता।।[7]

वस्तुत: भक्ति को स्वतंत्र साधन कहकर तुलसी ने अंधी भेड़ बनी हुई तत्कालीन जनता को जगाने का काम किया।

तुलसी के समय की धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं – ''जो हृदय सबके पास होती है वही अपनी स्वाभाविक वृत्तियों द्वारा भगवान की ओर लगाया जा सकता है, इस बात पर पर्दा डाल दिया गया था। इससे हृदय रहते भी भक्ति का सच्चा स्वाभाविक मार्ग लोग नहीं देख पाते थे।''[8] तुलसी ने जनता को सहज मार्ग बताते हुए सत्संग की महिमा को उजागर किया।

सत्संग के संबंध में जयदयाल गोचन्द का विचार ध्यान देने योग्य है। उनके मतानुसार- ''सत् जो भगवन है, उनके प्रति प्रेम और उनका मिलन ही वास्तविक एवं मुख्य सत्संग है। भगवत् प्राप्त भक्तों या जीवन मुक्त ज्ञानी महात्माओं का संग दूसरी श्रेणी का सत्संग है। भागवत् प्रेमी उच्च कोटि के साध ाकों का संग तीसरी श्रेणी का सत्संग है।

चौथी श्रेणी में सत्-शस्त्रों का अनुशीलन भी सत्संग है।''[9] आवश्यकता इस बात की है कि लक्षणों के आधाार पर संत की पहचान कर उनकी संगति की जाय। रामचरितमानस में संतों के लक्षण बतलाते हुए तुलसी लिखते हैं कि संत विषयों में लिप्त नहीं होते। उन्हें पराया दु:ख देखकर दु:ख और सुख देखकर सुख होता है। वे सम दृष्टि रखते हैं। संत घमंड से शून्य कोमल चित्त के होते हैं। वे दीनों पर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्म से राम की भक्ति करते हैं –

विषय अलंपट सील गुनाकर।
पर दुःख दुःख सुख सुख देखे पर।।
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।
लोभमरण हरष भय त्यागी।।
कोमल चित दीनन्ह पर दाया।
मन बच कर्म मम भगति अमाया।[10]

गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसे ही संतों के संग की महिमा का बारम्बार वर्णन किया है। रामचरितमानस में संत और कामी की संगति में अन्तर बतलाते हुए व लिखते हैं –

संत संग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ।।[11]

संत का संग मोक्ष (भव-बन्धन से टूटने) का और कामी का संग जन्म-मृत्यु के बंधन में पड़ने का मार्ग है। संत, ज्ञानी और पंडित तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्ग्रन्थ ऐसी बात कहते हैं। अतः मनुष्य को दुष्ट पुरुषों का संग कभी नहीं करना चाहिए।

दुष्ट पुरुषों के लक्षणों का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं कि उनका संग उसी प्रकार दुःखी देने वाला होता है, जैसे हरहाई (बुरे स्वभाव की) गाय कपिला (अच्छे स्वभाव वाली सीधी और दुधारू) गाय को अपने संग से नष्ट कर डालती है। दुष्टों का हृदय संताप ग्रस्त रहता है और परायी संपत्ति देखकर उन्हें जलन होती है। दूसरे की निन्दा सुनकर हर्षित होती है। वे काम, क्रोध, मद और लोभ के परायण तथा अकारण वैर करने वाले होते हैं –

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ।
भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ।।
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई।
जिमि कपिलहि घालइ हरहाई।।
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी।
जरहिं सदा पर संपति देखी।।
जहँ कहुँ निंदा सुनहि पराई।
हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।।
काम क्रोध मद लोभ परायन।
निर्दय कपटी कुटिल मलायन।।[12]

तुलसी ने असत् प्रवृतियों की भर्त्सना की और सत् प्रवृतियों की महिमा गाई। उन्होंने मनुष्यों को स्पष्ट दर्श दिया कि असत् प्रवृतियों का प्रतीक रावण जीवन भर त्रास और भय का प्रवर्तक एवं नियंता रहकर सुख लाभ नहीं कर सका, वहीं राम ने अपना स्वर्ग सुख त्याग कर दुष्टों एवं दुष्प्रवृतियों का विनाश किया। भ्रमित जनता को जगाने के लिए और भविष्य में सावधान रहने के लिए ही उन्होंने असंतों के लक्षण का भी वर्णन किया।

अंत में कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने रामचरितमानस में सत्संग की महिमा का वर्णन कर जन मानस को कल्याण का सुगम और सुलभ मार्ग बतलाया। वस्तुतः वे भक्ति के मार्ग को ऐसा नहीं

मानते जिसे ''लखै कोई बिरलै।'' उन्होंने सत्संग के माधयम से ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग बतलाकर भक्ति की सच्ची भावना जगाने का स्तुत्य कार्य किया।

संदर्भ-सूची

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ-125.
2. रामचरितमानस, बाल काण्ड - 212-5
3. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - 61
4. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - 119/9-10
5. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड - 4
6. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - 125(ख)
7. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - 44/3
8. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-97
9. जयदयाल गोचन्द का प्रत्यक्ष भगवद् दर्शन के उपाय, पृष्ठ-67
10. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - 37/1-2
11. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - 33
12. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - 38/1-3

◆

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रीय चेतना

आशा

तदर्थ व्याख्याता, स्वामी ब्रह्मानन्द कॉलेज, दिल्ली

भारतेन्दु युग में राजभक्ति तथा राष्ट्रभक्ति साथ-साथ विद्यमान थी। जबकि द्विवेदी युग में राजभक्ति नगन्य सी हो गयी थी। द्विवेदी युग विद्रोह का युग था। साहित्य और कला के क्षेत्र में बलिदान, संघर्ष, प्रतिशोधा, क्षोभ, आत्मसम्मान, वीरता, साहस, त्याग और नवजागरण का दृश्य इस युग में दिखाई पड़ता है। जब देश गुलाम होता है, तब अतीत का चिन्तन, परीक्षण और वर्तमान के अनुकुल उसका नवीकरण उभरता है। विदेशी शासक का विरोध और विनाश करने तथा उसका उल्लंघन, प्रतिकार एवं उसके प्रतिकूल आक्रोश प्रकट करने की भावना राष्ट्रीयता का अंग बन जाती है। भारतवर्ष भी द्विवेदी युग में गुलाम था। अंग्रेजों का उत्पीड़न कार्य चरम सीमा पर था। देश अंग्रेजों से आजाद होने के लिए छटपटा रहा था। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने युग के अनुकुल कविता का सृजन किया।

यदि महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित पत्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशित जनतांत्रिक विचारधाराओं वाले लेखों तथा निबंधों ने नवजागरण को लाने के लिए लेखकों, कवियों, नाटककारों को प्रेरणा दी तो मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रचनाओं द्वारा इस पावन यज्ञ में आहूति का कार्य किया। फलत: द्विवेदी युग में भारतेन्दु युग की तुलना में राष्ट्रीय नवजागरण का स्वर विकसित, अधिक तीव्र, अधिक उग्र और आक्रामक रूप में दिखाई पड़ता है। मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक काल के कवियों में अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। गुप्त जी केवल सृष्टा ही नहीं द्रष्टा भी थे। गुप्त जी का काव्य सोद्देश्य है। उन्होंने युग चेतना को सार्थक अभिव्यक्ति दी। उनकी महत्ता इस बात में है कि उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों, घटनाओं और पात्रों के माध्यम से सामयिक अपेक्षाओं की पूर्ति कर रचना धर्म की प्रासंगिकता और सार्थकता प्रतिपादित की। उन्होंने कविताओं से युग-मानस को झंकृत कर उसे नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना का मंत्र सुनाया, जिस पर जगत ने उन्हें ''राष्ट्रीय कवि'' की संज्ञा दी। मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीय भावना के संबंध में श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी जी का कहना है- ''मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीयता पराधीनता के दौर में विकसित होकर भी आत्मीय भाव से सहज है। उसमें आक्रामकता का अभाव है, तो वैष्णव भावना की निष्ठा है। ये विशेषताएँ मिलकर महात्मा गाँधी की राष्ट्रीयता के समतुल्य चलती हैं। इसीलिए गाँधी जैसे राष्ट्रपिता हैं, वैसे ही सहज भाव से मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्र-कवि हैं।'' गुप्त जी के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं-''गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झुमने वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव

और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं।'' गुप्त जी की 1909 ई. में प्रकाशित काव्य रचना 'रंग में भंग' यदि स्वतंत्रता आन्दोलन को सशक्त बनाने वाली, पाठकों में राष्ट्र प्रेम जागृत करने वाली प्रथम रचना है तो 'भारत-भारती' (1912 ई.) नवजागरण की लहर उत्पन्न करने वाली अगली सशक्त रचना है। इस काव्य के तीन खण्ड हैं - अतीत, वर्तमान तथा भविष्य। अतीत का वर्णन करके देशवाशियों को अपने स्वर्णिम अतीत के गौरव का, प्राचीन गरिमा मंडित संस्कृति का बोध कराकर उनमें आत्मविश्वास, स्वालंबन की भावना, आत्मविश्वास से जीने की इच्छा पैदा की गई है। ''

वर्तमान खण्ड'' में देशवाशियों को उनकी वास्तविक कुरूप, दीन-हीन, चरम-पतन और उत्कर्ष की स्थिति से परिचित कराया गया है। 'भविष्य खण्ड' में देश की उन्नति की कामना करते हुए देश के सभी वर्गों, जन समूहों, नर-नारी का आह्वान किया गया है कि वे अपने दुर्गुण, दुर्व्यसन त्याग दें क्योंकि अभी जागने का समय है, देश का भविष्य तय करने का समय है। गुप्त जी ने राष्ट्र प्रेम, समान सेवा तथा भारती स्तुति आदि विविध विषयों को लेकर लगभग पचास काव्य ग्रन्थों की रचना की है। भारत-भारती, जयद्रथ वधा, द्वापर, यशोधारा, सिद्धराज, विष्णु प्रिया, उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। गुप्त जी की सम्पूर्ण रचना का प्रधान मुद्दा जन-जागरण ही है।

राष्ट्रवादी कवि अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रेम का उत्कृष्ट भाव रखता है। अपनी राष्ट्र भूमि को पुत्र के समान प्रेम करता है। अपनी जन्मभूमि की स्तुति करता है। कोई राष्ट्रपुत्र अपने देश पर गर्व करता है। राष्ट्रवादी कवि, राष्ट्रपुत्र की भाँति गुप्त जी ने 'भारत-भारती' में भारतवर्ष की श्रेष्ठता की स्पष्ट घोषणा की:-

भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य
लीला-स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिाक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।।
हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान् की भव-भूतियों का यह प्रथम भाण्डार है,
विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहीं विस्तार हैं।''

अर्थात् भारत-भारतीकार ने हिमालय से घिरे तथा गंगाजल से युक्त ऋषिभूमि से अधिक किसी अन्य देश का उत्कर्ष नहीं माना। उन्होंने कहा कि भारत वर्ष के ब्रह्मावर्त प्रदेश में ही, ब्रह्मा जी ने सृष्टि रचना का आरंभ किया था।

मैथिलीशरण गुप्त ने स्वर्णिम अतीत का चित्रण बड़े ओज के साथ किया है। गुप्त जी की 'भारत-भारती' का अतीत खण्ड सम्पूर्ण द्विवेदी युगीन काव्य में भारत के अतीत-गौरवगान का श्रेष्ठतम अंश है। पूर्वजों की कीर्ति, उनकी उपलब्धियाँ, उनका चारित्रिक उत्कर्ष, दिखाकर वह पाठकों को निराशा, दुर्बलता तथा जड़ता त्याग कर उन्हीं के समान बनने की प्रेरणा देती है,

उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है,
गाते नहीं उन्हें हमीं गुण गा रहा संसार है।
वे धर्म पर करते निछावर तृण-समान शरीर थे,
उनसे वही गम्भीर थे, वर वीर थे, ध्रुव धीर थे।

वे मोह-बंधन-मुक्त थे, स्वच्छन्द थे, स्वाधीन थे,
सम्पूर्ण-सुख-संयुक्त थे, वे शान्ति-शिखरासीन थे।
वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिए जीते न थे,
वे स्वार्थ-रत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे।
संसार के उपकार-हित जब जन्म लेते थे सभी,
निश्चेष्ट होकर किस तरह वे बैठ सकते थे कभी?।।‘‘

‘‘भारत-भारती’’ में गुप्त जी ने उस समय की दीन दशा को दूर करने के लिए प्राचीन गौरव की ओर धयान आकृष्ट कराने हेतु चेतना उत्पन्न की है :-

हे ब्राह्मणों फिर पूर्वजों के तुल्य तुम ज्ञानी बनो,
भूलो न अनुपम आत्म गौरव धैर्य के धयानी बनो।
क्षत्रिय सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो,
निज देश को जीवन सहित, तन-मन, भेंट दो।

गुलामी गुलामी है, वह व्यक्ति के लिए कभी भी वरेण्य नहीं हो सकती। विदेशी शासन का मतलब है उत्पीड़न, शोषण, अनाचार और दुराचार। गुप्त जी ने स्वाधीन भारत को भी देखा था और पराधीन को भी। वे दोनों का अंतर समझते थे। उन्होंने दासता का भरसक विरोध किया। स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और जेल गए। उन्होंने विदेशियों के शोषण को देखा और अनुभव किया था। वे कहते हैं :-

घूम रहा है कैसा चक्र
वह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता तक्र
पिसे पड़े हो इसमें जब तक
क्या अन्तर आया है अब तक?
सहे, अन्तोगत्वा कब तक हम इसकी गति वक्र।।

राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत कवि देश की वर्तमान दशा पर क्षोभ भी व्यक्त करता है कि उसके देश की दशा बहुत खराब है। गुप्त जी ने ‘भारत-भारती’ में देश का वर्णन किया है:-

उच्छिन्न होकर अर्द्धमृत सा छटपटाता देश है।
सब ओर क्रन्दन हो रहा है, क्लेश को भी क्लेश है।
- - - - - - -
वह वेष-भूषा और भाषा, सब विदेशी हैं यहाँ
जातीयता क्या वस्तु है, निज देश कहते हैं किसे?
क्या अर्थ आत्म-त्याग का, वे जानते हैं क्या इसे?

गुप्त जी की ‘‘भारत-भारती’’ तो मुक्त आन्दोलन की गीता रही है। वही सही अर्थो में भारत-भारती हैं। उसने विदेशी शासन से मुक्ति पाने की हमें अपूर्व प्रेरणा प्रदान की है:-

मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती-
भगवान्! भारत वर्ष में गूंजे हमारी भारती।
हो भद्रभावोद् भाविनी वह भारती हे भगवते!
सीता पते! सीता पते! गीतामते! गीतामते!!

गुप्त जी ने अपनी कविताओं के माध्यम से देश के युवकों को स्वतंत्रता का संदेश दिया। देश-प्रेम और प्राणों को बलिदान करने की महती प्रेरणा दी। राष्ट्र के मानस को उसके पुरातन अतीत का गौरवगान सुनाकर सजग और सक्षम बनाया। अपने पतन के कारणों पर विचार-विमर्श करने के लिए आह्वान किया-

हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।

द्विवेदी युग की उग्र राजनीतिक चेतना के कारण जो प्रचण्ड देश भक्ति, राष्ट्रीयता और जन्म-भूमि प्रेम जागा उसकी उतेजना ने देशभक्तों की बलिदानी-वृति को तीव्र किया। सभी तत्कालीन कवियों ने देश के लिए बलिदान हो जाने की प्रवृति का काव्य रचा। मैथिलीशरण गुप्त ने कर्मवीरता को अपना उद्देश्य दिखाया था-

कर्म है अपना जीवन प्राण, कर्म पर हो जाओ बलिदान''

जागरण और अभियान के गीतों ने जन्मभूमि, मातृभूमि, पितृभूमि या देश के क्रूर और अन्यायी शासक के विरुद्ध जनमानस को तैयार किया। मैथिलीशरण गुप्त की कविता में राष्ट्रीय जागरण का ओजस्वी स्वर दिखाई पड़ता है। ''स्वदेश संगीत'' में गुप्त जी ने लिखा-

धरती हिलकर नींद भगा दे
वज्रनाद से व्योम जगा दे
दैव, और कुछ लाग लगा दे।

विदेशी शक्ति से देश की रक्षा के लिए ''साकेत'' के रामकृत संकल्प हैं-

पुण्य भूमि पर पाप कभी हम न सह सकेंगे
पीड़क पापी यहाँ और अब न रह सकेंगे।।

गुप्त जी का काव्य प्राचीन संस्कृति के भव्य आदर्शों को लेकर चला है और फिर हमारी वर्तमान समस्याओं का निरूपण किया है। अछूतोदधार, स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, ग्राम सुधार योजना, हिन्दु-मुस्लिम एकता आदि अनेक नए विषयों को लेकर उन्होंने बहुत कुछ कहा है। विधवाओं के संबंध में गुप्त जी के विचार कितने मर्मस्पर्शी हैं-

तुम बुढ़े भी विषयासक्त, बनी रहें वे किंतु विरक्त।
वे तो निरी बालिका मात्र, अस्पर्शित जिनका गात्र।
आप बनो विषयों के दास, वे अभागिनी रहें उदास।

इसी प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एकता पर उन्होंने लिखा-

हिन्दू-मुसलमान दोनों अब छोड़े यह विग्रह की नीति।

आधुनिक युग में, नारी को पुनः प्रतिष्ठा प्रदान की गई। गुप्त जी ने अपने काव्य में नारी जागरण को अंकित किया। समाज में नारी की करूण अवस्था के उन्होंने कई सुंदर चित्र प्रदान किए। नारी जीवन पर लिखी गई उनकी यह पंक्तियाँ विश्व-साहित्य के किसी भी महाकाव्य से कम नहीं है-

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

गुप्त जी के अनुसार भारत के पतन का कारण है कि हम नारी को उचित सम्मान नहीं देते-

ऐसी उपेक्षा नारी की, जब हम स्वयं कर रहे हैं।
अपना किया अपराध, उनके शील पर हैं धर रहे।।
भागें न फिर हमसे, भला क्यों दूर सारी स्त्रियाँ।
पाती स्त्रियाँ आदर जहाँ, रहती वहीं सब स्त्रियाँ।।

भारतीय संस्कृति एवं प्राचीन भारतीय आदर्शों के पुजारी होते हुए भी गुप्त जी नवीन भावनाओं के वाहक कवि थे। युग के अनुकूल आदर्शों को परिवर्तित करने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। उनका कथन था-

जावेंगें अवश्य हम अपने,
प्रिय पितरों के पथ से।
किन्तु चक्र तो नहीं फसेंगे,
पूछेंगे निज रथ से।।

गुप्त जी ने उत्साह, साहस और धौर्य बनाये रखने के लिए भारतीयों से कहा है कि तुम राम, कृष्ण, राणा प्रताप और शिवाजी की सन्तान हो। यदि सफलता प्राप्त करना चाहते हो तो कष्ट सहने पड़ेंगे-

जितने कष्ट कंटकों में जिनका सुमन खिला।
गौरव गंध उन्हें उतना ही यत्र-तत्र सर्वत्र मिला।।

''भारत-भारती'' के तीसरे खण्ड 'भविष्यत् खण्ड' में वह देशवासियों को सीधे सम्बोधित करता है। इसका प्रथम शीर्षक ही उद्बोधन है। इसमें देश की वर्तमान दुर्दशा पर क्षोभ प्रकट करने के बाद कवि उन्नति की कामना करते हुए देश के सभी वर्गों, जन-समूहों, अबला-वृद्ध, नर-नारी का आह्वान करता है कि वे अपने दुर्गुण, दुर्व्यसन त्याग दे, क्योंकि अभी जागने का समय है और मरणासन्न जाति पुनः जीवित हो सकती है।

निज पूर्वजों के सद्गुणों को यत्न से मन में धरो,
सब आत्म-परिभव-भाव तज निज रूप का चिंतन करो।
हे भाइयों ! सोये-बहुत, अब तो उठो, जागो अहो !
देखो जरा अपनी दशा, आलस्य को त्यागो अहो !
विष-पूर्ण ईर्ष्या-द्वेष पहले शीघ्रता से छोड़ दो,
घर फूँकने वाली फुटैली फूट का सिर फोड़ दो।।

गुप्त जी ने देशवासियों को उत्साहित करने के लिए खूब प्रयत्न किए हैं-

नर हो न निराश करो मन को।
कुछ काम करो कुछ काम करो।
जग में रहकर कुछ नाम करो।
यह जन्म हुआ किस अर्थ अहो।
समझो जिसमें यह व्यर्थ न हो।।''

''वसुधैव कुटुंबकम्'' की महती भावना गुप्त जी के काव्य का प्राण है। वे संपूर्ण मानवता के कल्याण की कामना करते हैं-

किसी एक सीमा में बंधकर रह सकते हैं प्राण?
एक देश का, अखिल विश्व का तात
चाहता हूँ कल्याण।।

उनकी प्रसिद्ध कविता ''वही मनुष्य है जो मनुष्य के लिए मरे'' में मानवतावादी भावनाओं के सजीव दर्शन होते हैं-

अनर्थ है कि बंधु ही न बंधु की व्यथा हरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।।

राष्ट्र कवि के रूप में गुप्त जी गाँधीवादी विचारधारा के पोषक हैं। वे कर्म और मन से गाँधी जी के सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले हैं। गाँधी वाद से प्रभावित होकर गुप्त जी ने लोक-कल्याण के लिए जन सेवा की घोषणा की-

न तन सेवा, न मन सेवा
न जीवन और धन सेवा,
मुझे है इष्ट जन सेवा
सदा सच्ची भुवन सेवा।।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मैथिलीशरण गुप्त जी सच्चे अर्थों में ''राष्ट्रकवि'' थे। उनके काव्य में 'राष्ट्रवाणी' को प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति मिली है। ''भारत-भारती'' राष्ट्रप्रेम का ज्वलंत ग्रंथ है। इनकी अन्य रचनायें रंग में भंग, स्वदेश संगीत, साकेत, यशोधरा, काशी और कर्बला आदि राष्ट्रीय गौरव का स्मरण दिलाने वाली कृति होने के साथ-साथ तत्कालीन भारत के जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना का शंख फूंकने वाली काव्य हैं।

संदर्भ-सूची

1. राजभाषा भारती, अप्रैल-जून - 2004 अंक, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली
2. इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, के एम.ए. (हिन्दी) पाठ्यक्रम के पत्र एम.एच.डी.-02
3. परीक्षा मंथन समसामयिक निबंध- 2004-2005
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
5. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-रामस्वरूप चतुर्वेदी
6. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृतियाँ - डॉ. शिव कुमार शर्मा
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास - देवी शरण रस्तोगी
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र
9. भारत-भारती- मैथिलीशरण गुप्त
10. साकेत - मैथिलीशरण गुप्त
11. रंग में भंग - मैथिलीशरण गुप्त
12. यशोधारा - मैथिलीशरण गुप्त
13. स्वदेश संगीत - मैथिलीशरण गुप्त
14. काशी और कर्बला - मैथिलीशरण गुप्त

◆

गीता में वर्णित कर्मयोग

सुमन्त कुमार

यू॰जी॰सी॰ (नेट), संस्कृत, कमलनगर, मिरजानहाट, भागलपुर

'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' महाभारत के भीष्म-पर्व का अंश है, जो कि अट्ठारह अध्यायों में संकलित है। भगवान श्रीकृष्ण तथा किंकर्त्तव्यविमूढ एवं मोह के कारण कर्त्तव्य-पथ से विचलित अर्जुन के संवाद-रूप में रचित 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि है। गीता की प्रसिद्धि का मूल कारण यह है कि जिन दार्शनिक एवं गूढ सिद्धान्तों का प्रतिपादन वेदों, उपनिषदों, आरण्यको इत्यादि में शिलष्ट-क्लिष्ट भाषा में हुआ है, गीता में उनका प्रतिपादन अत्यंत सरल, सहज रूप में हुआ है। यही कारण है कि गीता में प्रतिपादित जीवन-दर्शन को न केवल भारतीय जनमानस द्वारा अपितु वैश्विक स्तर पर भी अतयंत श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। जैसा कि पाश्चात्य विद्वान हम्बोल्ट ने गीता से प्रभावित होकर कहा है- किसी ज्ञात भाषा में उपलब्ध गीतों में सम्भवतः सबसे अधिक सुन्दर और दार्शनिक गीता है। गीता की महिमा एवं गुणवत्ता के कारण ही इसे मनुष्यमात्र के उद्धार के लिए रचित 'प्रस्थानत्रयी' में ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषद के साथ स्थान दिया गया है।

यद्दपि गीता में मानव जीवन से संबंधित अनेकानेक धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, किन्तु वास्तव में उसका उद्देश्य मनुष्य को उसके कर्त्तव्य का ज्ञान कराना ही है, जिसे गीता में 'कर्मयोग' के नाम से अभिहित किया गया है। लोकमान्यतिलक, अरविन्द प्रभृति विद्वान् गीता को कर्मयोग का शास्त्र मानते हैं। 'कर्मयोग' शब्द दो शब्दों के योग से बना है 'कर्म' एवं 'योग'। साधारणतः 'कर्म' का अर्थ है 'काम' एवं 'योग' का अर्थ है 'जोड़ना', किन्तु गीता के परिप्रेक्ष्य में इस 'कर्म' एवं 'योग' शब्द का विशेष अर्थ है। चूँकि गीता वर्ण-व्यवस्था में विश्वास करती है, इसलिए यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ है, 'अपने वर्णाश्रम धर्म से संबंधित कर्म' एवं 'योग' शब्द का अर्थ है, 'उसमें अपने को नियुक्त करना'। इस प्रकार 'कर्मयोग' शब्द का अर्थ हुआ- 'अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा कार्य करना। यहाँ यह ध्यातव्य है कि गीता में वर्णाश्रम व्यवस्था का विधान कर्म के आधार पर किया गया है, जन्म के आधार पर नहीं -

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
> तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्।।[1]

इस प्रकार गीता में कर्त्तव्य कर्म के विधिवत सम्पादन को मनुष्य की निःश्रेयस सिद्धि के लिए अविवार्य माना गया है। गीता के अनुसार मनुष्य के जीवन में कर्म अनिवार्य है। कोई भी मनुष्य चाहे वह विद्वान हो, मूर्ख हो, सबल हो, निर्बल हो, उसे कर्म करना ही पड़ता है, एवं ऐसा वह प्रकृतिजन्य गुणो से वशीभूत होकर करता है-

> न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।[2]

अतएव गीता के अनुसार कर्म के बिना व्यक्ति एक क्षण भी नहीं रह सकता, ऐसा निश्चित मत है। अतएव ऐसी परिस्थिति में एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है, कि मनुष्य के द्वारा किस प्रकार का कर्म करना चाहिए 2 कर्म दो प्रकार के होते हैं – सकाम एवं निष्काम। इसमें सकाम कर्म करने से मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र में संसरण करता रहता है, उर्थात विभिन्न प्रकार की कामनाओं एवं इच्छाओं से युक्त होकर कार्य करता हुआ मनुष्य फल के रूप में पाप एवं पुण्य का भोग करता हुआ विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। किन्तु 'निष्काम कर्म' के अनुष्ठान से मनुष्य को कर्म-बन्धन नहीं होता है, एवं न ही वह जन्म-मृत्यु के चक्रपाश में बँधता है। 'निष्काम कर्म' से तात्पर्य 'कामना' एवं 'फल की इच्छा' से रहित होकर कार्य करने से है। इस प्रकार कर्मफल का परित्याग करके निष्काम भाव से स्ववर्णाश्रमधर्म के अनुसार किया गया कर्म ही 'निष्काम कर्म' है, जिसे गीता में 'कर्मयोग' की संज्ञा दी गई है। गीता में कर्मयोग का मूलमंत्र अधोलिखित श्लोक है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते स्ङ्गोस्त्वकर्मणि।।[3]

अर्थात् मनुष्य का अधिकार केवल कर्त्तव्य कर्म करने में है, कर्म के फल में नहीं, क्योंकि मनुष्य केवल अपने वर्णाश्रमधर्म के अनुसार ही कर्त्तत्य-कर्म करने को स्वतंत्र है फल तो ईश्वर के अधीन है। पुन: गीता यह भी कहती है कि मनुष्य को कर्मफल का हेतु भी नहीं बनना चाहिए अर्थात मनुष्य की शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कर्म-उपादान के साथ किसी भी प्रकार की संलिप्तता नहीं होनी चाहिए। पुन: गीता मनुष्य को कर्म न करने में आसक्ति से वारित करती है, क्योंकि कर्म न करने से मनुष्य में आलस्य प्रमाद आदि तामसिक वृत्तियों का विकास होगा, एवं वह कभी संसारिक बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेगा।

उपर्युक्त श्लोक के विवेचन से स्पष्ट है कि गीता जहाँ कर्मयोगी को कर्म-फल की इच्छा से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रवृत्त करती है, वहीं कर्म न करने के निवृत्ति-मार्ग से भी वारित करती हैं। अर्थात गीता कर्मयोग के माध्यम से प्रवृति एवं निवृति में सामंजस्य स्थापित कर कर्म-फल की इच्छा से रहित होकर स्ववर्णाश्रमधर्म के अनुसार कर्त्तव्य-कर्म करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार किए गए कर्म में फलोत्पादिका शक्ति का अभाव होता है। फलस्वरूप इन कर्मो से बन्धन नहीं होता है। जिस प्रकार भुँजे हुए बीज में वपन की शक्ति नहीं होती है, उसी प्रकार कामनारहित एवं कर्म-फल-इच्छारहित कर्म में बन्धन की शक्ति नहीं होती है। ऐसा कर्म बन्धन का साधक नहीं आपितु बाधक होता है।

अतएव गीता कर्मयोगी को निष्काम-कर्म करने के लिए कर्तृत्वाभिमान एवं आसक्ति से रहित होकर कार्य करने को प्रेरित करती है। सांधारणत: हम कर्म करते हैं, एवं अपने को कर्त्ता मान लेते हैं। हम ऐसा मान लेते हैं कि जो यह 'गृहीत' या 'विचारित' विषय है, इसको करने के लिए 'मैं' ही अधिकृत हूँ – यही कर्त्तृत्वाभिमान है। अतएव कर्मयोगी को ऐसे कर्त्तृत्वाभिमान से रहित होकर कर्म करना चाहिए। परन्तु साधारण मनुष्य के मन में यह संदेह होता है कि यदि मनुष्य में 'कर्त्तापन' न रहे, तो कर्म करने की प्रवति नहीं होगी। इसके निस्तारण हेतु गीता में कर्मयोगी को अकर्ता बताने के लिए कर्म के पाँच कारण बताए गए हैं –

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधश्च च पृथग्चेष्टा दैवं चात्र पञ्चमम्।।[4]

अर्थात् अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा एवं दैव- इन पाँचों के समूह से कार्य सम्पन्न होता है। यहाँ 'अधिष्ठान' से तात्पर्य 'शरीर' से है। 'कर्ता' से तात्पर्य प्रकृति एवं प्रकृति द्वारा किए जाने वाले कार्यो से है।

करण तेरह हैं- इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना एवं घ्राण हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ-पाणि, पाद वाक्, उपस्थ, पायु हैं, एवं 'मन', 'बुद्धि' तथा 'अहंकार', ये तीन अन्त:करण है। इन तेरह करणों की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ हैं जैसे पाणि का कार्य है आदान-प्रदान करना, पाद का कार्य है गमन, वाक् का कार्य है बोलना, उपस्थ का कार्य है - मूत्र-विसर्जन, पायु का कार्य है मलत्याग। इन्हीं पंचज्ञानइन्द्रियों- श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना एवं घ्राण के क्रमश: श्रवण, दर्शन स्पर्श, स्वाद, सूँघना कार्य हैं। अन्त:करण में उदित निश्चयात्मिका वृति का नाम 'बुद्धि' है। बुद्धि में जब 'मैं' एवं मेरा यह अहंभाव उतपन्न होता है, तब उसको 'अहंकार' कहा जाता है। अन्त:करण की संकल्पात्मिका-विकल्पात्मिका वृत्ति का नाम 'मन' है। किसी कार्य को किया जाय या न किया जाय, उसको संकल्प-विकल्प कहते हैं। यहाँ दैव से तात्पर्य पूर्वजनित कर्मो के शुभाशुभ फलो के अनुसार मनुष्य की कर्म करने में प्रवृत्ति की क्रियात्मक तीव्रता से है। इस प्रकार जब इन पाँच कारणों के द्वारा किसी कार्य का सम्पादन होता है, तो एक कर्ता को ही कारण मान लेना केवल अभिमान या अहंकार के अतिरिक्त कुछ नहीं। अतएव इस कर्तृत्वाभिमान से शून्य होकर कर्म करना ही कर्म योग है -

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।[5]

साधारणत: हम सुख-प्राप्ति एवं दु:खपरिहार के लिए कर्म करते हैं, अतएव कर्म का मूल कारण आसक्ति ही है। इस आसक्ति के त्याग के लिए गीता भगवदर्थ कर्म करने का निर्देश देती है। अर्थात कर्मयोगी को यह समझना चाहिए कि 'मेरे द्वारा सम्पादित सभी कर्म भगवान के हैं', 'मैं ईश्वर के लिए भृत्यवत कर्म करता हूँ', इस प्रकार की विवेक-बुद्धि से सभी कर्मों का भार ईश्वर पर सौंप कर सब प्रकार से आशा-ममता, राग-द्वेष एवं हर्ष-शोक आदि विकारो से रहित होकर कार्य करना चाहिए-

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।[6]
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीनिर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर:।।[7]

इस प्रकार कर्मयोगी को कर्त्तृत्वाभिमान एवं आसक्ति से रहित होकर स्ववर्णाश्रमधर्म के अनुसार कर्म करना चाहिए। इस प्रकार कार्य करने वाले मनुष्य को कर्म-बन्धन किसी प्रकार प्रभावित नहीं करता। ऐसे जिष्काम-कर्म करते हुए कर्मयोगी को परमात्मा की प्राप्ति होती है, जो कि कर्मयोग के साधना की परिणति है -

तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरूष:।।[8]

पुन: गीता कर्मयोग को मोक्ष या नि:श्रेयस-सिद्धि के लिए केवल सैद्धान्तिक नहीं मानती। इसके अनुसार कर्मयोग बहुत पुरातन योग है, जिसके द्वारा राजा जनक जैसे अनेक कर्मयोगी महापुरूष परमात्मा को प्राप्त हो चुके हैं -

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।[9]

अतएव वर्तमान में या भविष्य में यदि कोई कर्म-योग के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, तो उसके लिए निष्काम कर्मयोग का मार्ग सदैव प्रस्तुत है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्तृत्वभिमान एवं आसक्ति से रहित होकर निष्काम भाव से स्ववर्णाश्रमधर्म के अनुसार किया गया भगवदर्थ कर्म 'कर्मयोग' है। ऐसा 'कर्मयोगी' निश्चित रूप से परमात्मा को प्राप्त कर लेता है- इसमें कोई संदेह नहीं है। अतएव कर्मयोग का मार्ग सर्वथा प्रशंसनीय है।

संदर्भ-सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर 4/13
2. वही 3/5
3. वही 2/47
4. वही 18/14
5. वही 3/27
6. वही 2/28
7. वही 3/30
8. वही 3/19
9. वही 3/20

❖

संस्कृत

महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् नाटक में संगीत–योजना

एक विवेचन

दीपिका कश्यप

किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

''मालविकाग्निमित्रम्'' नाटक की संगीत योजना कालिदास के अद्‌भुत नाट्य कौशल की परिचायिका है। कालिदास की प्रथम नाट्य रचना होने पर भी यह नाट्य शिल्प की दृष्टि से पूर्णत:परिपक्व है। भारतीय नाट्यकला में संगीत की महती भूमिका है।

संगीत के बिना नाट्यविद्या अकल्पनीय है। नाट्य प्रयोग को सफल तथा प्रभावोत्पादक बनाने में गीत, नृत्य और वाद्य का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संगीत रत्नाकर में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों के एकीकृत और समन्वित रूप को ही संगीत कहा गया है- ''गीतंवाद्यं तथा नृत्यं त्रयं-सङ्गीतमुच्यते।'' संगीत का अपर नाम तौर्यत्रिक भी है।

''मालविकाग्निमित्रम्'' में संगीत योजना सम्यक् ढ़ंग से हुई है। संगीत नाटक का प्राणभूत तत्त्व है। नाट्यशास्त्रमें आचार्य भरत ने नाट्य संग्रह के एकादश (II) तत्त्वों में अभिनयादि के समान ही संगीत को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। नाट्यकला के साथ संगीत का आनुषंगिक सम्बन्ध है, इसे नाट्य की शय्या कहा गया है।

गीत या गीति का ही नाट्य प्रकार ध्रुवागीति है। नाटक के पाठ्य में अनिबद्ध को छोड़कर निबद्ध पाठ्य में स्थल विशेष पर आयोजित ध्रुवाओं का अपरिहार्य महत्त्व है। ध्रुवागीति के अतिरिक्त नान्दी तथा भरतवाक्य निबद्ध पाठ्य के अनिवार्य अंग है।

नृत्य आदिकाल से ही नाट्य का अविभाज्य अंग है। मूल शब्द नृत्त है। नृत्त का ही गीत तथा अभिनयादि से समायोजन हो जाने पर वह नृत्य हो जाता है जो पदार्थभिनय का कारक है। मधुर और उद्धत भेद से इसके दो रूप दृष्टिगत होत हैं- ताण्डव और लास्य। ''मालविकाग्निमित्र'' में द्वितीय अंक के अन्तर्गत मालविका का छलित नृत्य विशुद्ध शास्त्रीय है।

संगीत का प्रभाव मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य जीव जन्तुओं पर भी पड़ता है। रंगशाला से मृदंग का गम्भीर घोष सुनकर मयूर मेघगर्जन समझ कर भ्रान्ति में नृत्य करने लगते हैं। मालविका के गायन तत्पश्चात् छलित नृत्य की प्रस्तुति में अपेक्षित नाट्यतत्त्वों क्रमश: सूचा (अवृर), नृत्त तथा शाखा, लय तथा रागबन्ध का परिचय प्राप्त होता है। इस नाटक में वाद्य प्रयोग में बार-बार मृदंग का ही नाम आता है। इस नाटक में प्रसंगवश मायूरी और मार्जना का प्रयोग मृदंग के प्रसंग में हुआ है। वस्तुत: कपलिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक की संगीत योजना में अत्यन्त साफल्य लाभ किया है।

नाटक में संगीत अत्यपेक्षित तत्त्व है। एकादश नाट्यसंग्रह में संगीत की भी गणना की गई है। नाट्यशास्त्र में अन्य शास्त्रों तथा कलाओं की भाँति संगीत शास्त्र पर भी बल दिया गया है। संगीत नाटक का सहजात सहचर है।

''मालविकाग्निमित्र'' कालिदास की प्रारम्भिक नाट्य रचना है तथापि नाट्यशिल्प की दृष्टि से अत्यन्त परिपक्व है। ''मालविकाग्निमित्र'' नाटक के आरम्भिक अंकों में संगीत का प्रचुर प्रयोग है। विशेषत: द्वितीय अंक इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है।

भारतीय नाट्यकला में संगीत का स्थान अपरिहार्य है और संगीत के बिना नाट्यविद्या अकल्पनीय है। नाट्यप्रयोग को प्रभावोत्पादक तथा सफल बनाने में नाट्य (अभिनय) के साथ गीत, नृत्य और वाद्य का प्रयोग निश्चित रूप से महान् योगदान करता है। पाठ्य, अभिनय और रसादि का ग्रहण ब्रह्मा ने ऋग्, यजु: और अथर्ववेद संहिता से किया गया है। उसी प्रकार सामवेद से गीत लेकर पञ्चमवेद 'नाट्यवेद' परिपूर्ण होता है।

संगीत रत्नाकर में नृत्य, गीत और वाद्य को संगीत कहा गया है-

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।[1]

आचार्य भरत ने नाट्योपकरणों में पाठ्य तथा अभिनयादि के समान ही गीत को अन्य नाट्यतत्त्वों जैसा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। नाट्यकला के साथ संगीत का आनुषंगिक सम्बन्ध है। संगीत का अपर नाम तौर्यात्रिक है। कोशग्रन्थों में संगीत को इसी नाम से अभिहित किया गया है।

तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्।[2]
तार्यत्रिकं नृत्तगीतवाद्यं नाट्यं च तत्त्रयम्।[3]

अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्त ने गीत का उद्भव सामवेद से माना है- गीतिषु सामाख्या।[4] शाङ्र्गधरपद्धति में गीति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता। गीतिरिति उच्यते हिसा..........।[5]

होने वाली मृदंग की ध्वनि मयूरों को भ्रमित कर देती है वे मेघ के गर्जन जैसी आवाज से बिना देखे ही वर्षाकाल समझ लेते हैं और नृत्य में मग्न हो जाते हैं।-

जीमूतस्तनितविशकिभिर्मयूरैरूदग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि।।[10]

उक्त पद्य में मायूरी और मार्जना जैसे शब्दों का प्रयोग है। संगीतशास्त्र की दृष्टि से इन दोनों की सार्थकता मृदंगवादन में दृष्टिगत होती है। मृदंगवादन में तीन प्रकार की मार्जनाएँ होती हैं। मायूरी, अर्घमायूरी तथा कार्मारवी।

''मालविकाग्निमित्र'' में वाद्य की दृष्टि से बार-बार मृदंग का ही नाम आता है। कालिदास ने अपने अन्य काव्यों में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के पंचम अंक में रानी हंस पदिका को गीत के साथ वीणावादन करते दिखाया है। वैतालिकों के गीत भी लयतालबद्ध हैं।

निष्कर्षत: कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में जिस सांगीतिक वातावरण की सृष्टि की है उससे उनके संगीत शास्त्र विषयक अगाध पाण्डित्य का परिचय मिलता है। यहाँ नाट्य और संगीत दोनों का मंजुल समन्वयन सहज, रोचक तथा आकर्षक है। अवसर विशेष पर उन्होंने नृत्य, गीत तथा वाद्यादि का प्रयोग संतुलित किया है।

संदर्भ-सूची

1. संगीत रत्नाकर - 1/21
2. अमरकोश - 1/7/10
3. शब्द रत्नाकर - 1880, हलायुद्य-93, मेदिनी-26/34
4. अभिनव भारती टीका 1/37 पर उद्धृत
5. संगीत रत्नाकर - 1/8/14, 15
6. नाट्यशास्त्र -
7. दशरूपक- 1/9
8. दशरूपक - 1/10
9. मालविकाग्निमित्रम् -2/8
10. मालविकाग्निमित्रम् -1/21

* * *

काव्यशास्त्र में औचित्य की उपेक्षा के कारक

डॉ० तोषी

व्याख्याता, जयप्रकाश महिला कॉलेज, छपरा

आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व हजारों वर्ष पहले महर्षि वाल्मीकि, व्यास, भास, अवश्घोष और कालिदास आदि महाकवियों की रचनाओं में औचित्य का प्रकृष्टतम निर्वाह हो चुका था। भले ही औचित्य का प्रत्यक्ष सिद्धान्त-दर्शन इस प्राचीनतम् कवियों के सामने लेखबद्ध न रहा हो पर काव्य की सहजात स्वरूप-निष्ठ सत्ता के रूप में औचित्य की भाव-दृष्टि इन कवियों में अत्याधिक समृद्ध थी। यदि यह सत्य है कि उदाहरण ग्रन्थों की समीक्षा के परिणाम-स्वरूप लक्षण-ग्रन्थों का उदय होता है तो हमारे प्रतिपाद्य को और भी अधिक बल मिल जाता है।

इतिहास इसका साक्षी है कि जिस समय औचित्य-सम्प्रदाय का उदय हुआ उससे पहले ही उदाहरण ग्रन्थों में औचित्य भाव प्रकर्ष और अपकर्ष, प्राप्त कर चुका था। क्षेमेन्द्र ने इसे अच्छी तरह देखा था और उनका विवेचन इसी दृष्टि का परिणाम है। तात्पर्य यह है कि काव्य में औचित्य की अपेक्षा के कारण हमें काव्य की ही प्रवृत्तियों में देखने होंगे जो कि उसके ऐतिहासिक अध्ययन की दिशाओं में पड़ती है। दूसरी बात यह है कि आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रवर्तित औचित्य-सम्प्रदाय के साथ इस विवेचन का यदि कोई सम्बन्ध करना अभीष्ट ही है तो उसका केवल एक ही रूप है। काव्य में कवियों द्वारा औचित्य की उपेक्षा का एक कारण यह भी हो सकता है कि क्षेमेन्द्र के समकालीन और परवर्ती कवियों ने क्षेमेन्द्र के औचित्य-सम्प्रदाय की कोई विशेष अपेक्षा नहीं की।

जहाँ तक प्रवृत्तियों का सवाल है वह विश्व-साहित्य का सत्य है कि इनका क्रम अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी रूप में चलता रहता है। आचार्य शंकरदेव ने कहा है कि जीवन का आग्रह कभी अन्तर्मुखी होता है, कभी बहिर्मुखी। व्यष्टि जीवन का भी यह सत्य है और समष्टि जीवन का भी। प्रात: से सांय तक हमारी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों की इतनी ज्ञात-अज्ञात आवृत्तियां होती रहती हैं कि उनका रोजनामचा बनाया जाना असम्भव है, पर बाहर-भीतर का भेद बहुत स्पष्ट है। हम कभी अपने बाह्य उपकरणों की ओर अधिक झुकते हैं तो कभी अपने अन्त:पक्ष की ओर।[1]

साहित्य की मूल चेतना भी अन्तर्मुखी आग्रहों में बदलती रहती है क्योंकि साहित्य व्यष्टि-समष्टि जीवन की पूर्ण प्रतिनिधि ईकाई है। और साहित्य में ही नहीं, साहित्य की आलोचना में भी यही चक्रनेमिक्रम चलता रहता है, साहित्य में साहित्यकारों के कारण और साहित्य की आलोचना में साहित्याचार्यों के कारण। साहित्याकार जब अपने साहित्य-निर्माण में अधिक अन्तर्मुखी होता है...... अर्थात् अधिक संवेदनशील होता है तब उसके साहित्य की चेतना के भी अन्तर्मुखी होने के कारण उसका वह साहित्य अलंकार्य-प्रधान होता है। और जब वह अपने साहित्य-निर्माण में अधिक

बर्हिर्मुखी होता है अर्थात् बाह्य साज-सज्जा की ओर अधिक दत्तचित्त होता है तब उसके साहित्य की चेतना के भी अधिक बहिर्मुखी होने के कारण उसका वह साहित्य अलंकार-प्रधान होता है।

वस्तुत: काव्य की मूल भावना या कवि की मूल संवेदना की ही इस संबंध में बहुत बड़ा हाथ है। काव्य की मूल भावना का अनुरोध करने वाला कवि निश्चय ही अन्तर्मुखी होगा और उसकी रचना में सहज सन्तुलन होगा। अन्तर्मुखी होने का मतलब यही समझना चाहिए कि काव्य की मूल भावना के अनुरोध से ही कवि ने उसकी अभिव्यक्ति की है। मूल भावना के अनुरोध से की गई अभिव्यक्ति में सन्तुलन रहना सर्वथा निश्चित है और यही सन्तुलन औचित्य की एकमात्र कुंजी है। दूसरी तरफ काव्य की मूल भावना से हटकर अभिव्यक्ति के लिए पृथक् प्रयत्न करने वाला कवि निश्चय ही बहिर्मुखी होगा ओर उसकी रचना में सहज सन्तुलन की क्षति रहेगी। यही अनौचित्य की दिशा है।

ध्वनिकार ने जब यह कहा था कि अलंकार ''अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य'' होना चाहिए तब उनका मतलब यही था कि काव्य की मूल भावना से हटकर कवि को अभिव्यक्ति पक्ष की साधना नहीं करनी चाहिए।[2] काव्य की उत्पति में यही सहज औचित्य होता है जिसे आदि कवि वाल्मीकि के ''मा निषाद प्रतिष्ठां'' वाले प्रसिद्ध पद्य से समझा जा सकता है। आदि कवि की छन्दोमयी अभिव्यक्ति उसकी मूल संवेदना के सहज प्रवाह में आ पड़ी थी। अनायास निकली हुई इस छन्दोमयी वाणी पर दूसरे ही नहीं बल्कि स्वयं आदि-कवि भी चकित थे। इतिहास साक्षी है कि मूल भावना का यह आग्रह संस्कृत साहित्य में जहाँ तक रहा वहाँ तक औचित्य के भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा रही और जहाँ से इसमें शिथिलता आनी प्रारम्भ हुई वहीं से अनौचित्य का पद-प्रवेश होने लगा।

साहित्य की कोई रचना न तो केवल किसी कवि के अन्तर्मुखी हाने का ही परिणाम हो सकती है और न केवल उसके बहिर्मुखी होने का ही। क्योंकि अनुभूति ओर अभिव्यक्ति इन दोनों पक्षों की अनिवार्य सत्ता वहाँ आवश्यक है। भेद जो किया जा सकता है वह कवियों के अधिक अन्तर्मुखी होने के आधार पर या अधिक बहुर्मुखी होने के आधार पर। पहला आधार औचित्य की अधिकाधिक प्रतिष्ठा कराने वाला है और दूसरा आधार अनौचित्य के अधिकतर सीमान्त खोलने वाला है। संस्कृत साहित्य में लगभग 9वीं शताब्दी तक का इतिहास पहली बात का उदाहरण है और इसके बाद का इतिहास प्राय: दूसरी बात का निदर्शन है।

कवियों कि इस अन्तर्मुखी ओर बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के मूल में अन्य अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक या व्यक्तिगत कारण हो सकते हैं। ऐतिहासिक कारणों से तात्पर्य है कि वे मोड़ जो कि साहित्य के प्रवाह में परम्परा और प्रयोग के फलस्वरूप उपस्थित होते हैं। संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि, व्यास आदि कवि-महर्षियों ने अनेक नये प्रयोग किए थे जिनमें से उदाहरणार्थ प्रकृति-चित्रण लिया जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत में प्रकृति का स्वतंत्र और स्वयं में परिपूर्ण चित्रण हुआ है। किसी भी चित्रणको पढ़ने पर पाठक को वही अनुभूति होती है जो किसी भावुक को स्वतंत्र प्रकृति-दर्शन से हो सकती है। मानवीय जीवन का योग भी वहाँ चार चाँद लगाने वाला हे न कि उसे ग्रहण की तरह दबा देने वाला यथा-

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरूणातपा।।

(वाल्मीकिरामायण, अरण्यकांड, सर्ग 13)

दूसरा उदाहरण है-

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना -
माविष्कृतारूणपुरस्सर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियभ्यत इवात्मदशान्तरेषु।। (अभिज्ञानशाकुन्तल 4, 2)

महाकवि कालिदास के बाद दो सौ वर्षों तक ही प्रकृति-चित्रण के उपर्युक्त प्रकार प्रयोग के रूप में चले। महाकवि भवभूति को इसका विशेष गौरव है, परन्तु भवभूति के बाद संस्कृत साहित्य में ये प्रयोग परम्परा बनने लगे ओर बहुत कुछ रूढ़ियों के रूप में कवियों की छाती पर सवार हो गये। कवियों ने इसे एक औपचारिकता समझ लिया कि यदि महाकाव्य लिखना है तो उसमें प्रकृति-चित्रण की लकीर पीटनी ही चाहिए, पर ध्यान रखने की बात है कि केवल परम्परा का निर्वाह करने से भी औचित्य नहीं आता।

अनौचित्य तब आता है जब परम्परा का अतिस्थूल या अतिवादी रूप उपस्थित किया जाता है। उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति का चित्रण वाल्मीकि ओर कालिदास ने भी किया था पर वहाँ अंगी की अतिविस्तृति वाला दोष नहीं था और न ही अस्वाभाविक अत्युक्तियाँ थीं जिनसे शृंगार या विप्रलम्भ शृंगार की जगह हास्यापरपर्याय की स्थिति खड़ी हो जाए। परन्तु परवर्ती कवियों ने प्रकृति की उद्दीपन विभाव की अतिशयता प्रकट कर दी। इतना ही नहीं, परवर्ती कवियों ने प्रकृति के उद्दीपन विभाव से सर्ग पर सर्ग मढ़ दिये जिनमें शृंगार की मूल भावना उतनी ही पतली पड़ गई जितनी इन कवियों की नायिकाओं की कटि। विरह का वर्णन भी एक मार्मिक अनुभूति से टूट कर तमाशे की चीज बनने लगा।

इसके अतिरिक्त अनेक रूढ़ियों या कवि-ख्यातियाँ जब केवल रस्म अदायगी के रूप में प्रस्तुत की जाने लगती हैं तब उनका भी आकर्षण समाप्त हो गया। कवि-ख्यातियों के आधार पर विचार किया जाय तो किस प्रकार औचित्य सम्प्रदाय में, रस सम्प्रदाय ध्वनि सम्प्रदाय आदि की स्वरूप प्रक्रियायें अध्यवसित होती हैं इसका रहस्योद्घाटन होता है।[7]

मात्र यह कह देने से काम नहीं चल सकता कि अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण भी गुण ही हैं परन्तु जिसे काव्य का प्राणतत्त्व कहा जाये वह औचित्य ही है। क्षमेन्द्र के बाद संस्कृत काव्य-शास्त्र में औचित्य की अपेक्षा का एक कारण यह भी है कि क्षेमेन्द्र के बाद किसी आचार्य ने संस्कृत में औचित्य की महत्ता दिखाने का पूर्ण प्रयत्न नहीं किया। जिस प्रकार धवनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय और अलंकार-संम्प्रदाय के पीछे सैकड़ों वर्षो तक आचार्य मम्मट, कविराज विश्वनाथ और जयदेव जैसे दिग्गज विभिन्न संप्रदायों को निखारने का कार्य करते रहे उस प्रकार औचित्य-संप्रदाय को जीवन्त करने वाला कोई परवर्ती आचार्य आलोचना के क्षेत्र में नहीं उतर सका। यदि ऐसा हुआ होता तो सम्भवतः औचित्य का दबदबा निर्माणात्मक साहित्य पर बना होता और संस्कृत-काव्य में कवियों द्वार औचित्य की उतनी उपेक्षा न की गई होती।

संदर्भ सूची

1. साहित्यशास्त्रीय समाधान पृ. 216
2. ध्वन्यालोक

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारों ध्वनौ मतः।

3. साहित्यदर्पण 7.23.25
4. नैषधीयचरित 9.123

स्वनाम यत्राममुधाभ्याधामहो
महेन्द्रकार्य.............सितीकृत्तः।

5. सरस्वती काण्ठाभरण, 1.76
6. व्यक्तिविवेक, 2.126

तस्य (औचित्यस्य) काव्यस्वरूपनिरूपण सिद्धस्य पृथगुपादानवैयश्यति।

7. औचित्यविचारचर्चा, 5

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा औचित्यं रससिदृस्य काव्यस्य जीवितम्।

❖

अभिज्ञानशाकुन्तलम् का धर्मशास्त्रीय आधार

डॉ० बबीता सिंह

व्याख्याता, पी०के० डिग्री कॉलेज, छपरा

महाकवि कालिदास को विद्वत्समुदाय साक्षात् भगवती सरस्वती का अवतार मानता है। परिणामस्वरूप ज्ञान क्षेत्र का ऐसा कोई विषय नहीं है, जो कालिदासीय साहित्य में उपलब्ध न हो। आद्य महाकवि कालिदास को परम्परागत विद्वान् ईसा की प्रथम शताब्दी का प्रमाणित करते हैं और उन्हें राजा विक्रमादित्य का सभासद एवं नवरत्नों में एक स्वीकार करते हैं।

यद्यपि 'कालिदासत्रयी किमु' उक्ति के अनुसार तीन कालिदासों की चर्चा की जाती है, परंतु लोकविश्रुत कालिदास ही प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने दो महाकाव्य- कुमारसम्भव तथा रघुवंश, तीन नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयाम्' तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एवं दो खण्डकाव्यों 'ऋतुसंहार' एवं 'मेघदूत' की रचना कर संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में अमरता प्राप्त की।

सनातन वैदिक धर्म का पूर्णत: पालक राजा दुष्यंत शकुन्तला के प्रति अपने आकर्षण को धर्मशास्त्र सम्मत प्रमाणित किये बिना पूर्ण संतुष्टि प्राप्त नहीं कर पा रहा है। इसीलिए वह शकुन्तला संबंधी अन्वेषण जारी रखता है, यद्यपि उसका मन आश्वस्त है तथापि वह शकुन्तला की सखियों की वास्तविकता का पता लगाने तक निश्चय नहीं कर पाता अर्थात् सम्यक् संकल्पज: काम: की स्थिति के निर्णय तक किसी से भी चर्चा नहीं करता और आत्मसंगत कह उठता है -

> भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जात:।।
> आशगंसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।। (अभि. शाकु. 1/27)

जहाँ तक परिभाषा का प्रश्न है, ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनकी परिभाषाएं विभिन्न पुराणों में प्राप्त है, जैसे 'कुलपति' शब्द है। महर्षि कण्व को कालिदास ने 'कुलपति' विशेषण के साथ ससम्मान किया है। जैसे-

वैखानस:-एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपात:, प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेय: सत्कार:। अपि च -

> रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविध्ना: क्रिया: समवलोक्य।
> ज्ञारस्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणांक इति।। (अभि.शा. 1/13)

इस प्रसंग में तीन शब्द धर्मशास्त्र सम्मत है - (1) कुलपति (2) अतिथि सत्कार तथा (3) क्रिया। इनका विवेच्य है -

(1) कुलपति -

आचार्यो बहुशिष्याणां मुनीनामग्रणीस्तु यः।
व्रतयज्ञादिकर्माढ्य स वै कुलपतिः स्मृतः।

(2) अतिथि- जब राजा आश्रम में जाता है तो प्रियंवदा व अनुसूया शकुन्तला को कहती है-

'अनुसूया - इदानीमतिथिविशेषलाभेन हला शकुन्तले। गच्छोटजम्। फलमिश्रमर्धमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति।'

राजा - भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्।

प्रियवंदा - तेन ह्यस्यां प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः।
(अभिज्ञान शाकुन्तलम् का प्रथम अंक)

इससे पूर्व भी वैखानस ने राजा से आतिथेय सत्कार ग्रहण करने का आग्रह किया है और कहा है- 'इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थ गतः।'

(3) क्रिया - यज्ञानुष्ठानादि क्रियायें। ये क्रियायें नौ प्रकार की कही गई हैं-

आरम्भो निष्कृतिः शिक्षा पूजनं सम्प्रधारणाम्।
उपायः कर्मचेष्टा व चिकित्सा नव क्रियाः। इत्यादि (भाव प्रकाश)

अतिथि पूजन न करने पर ही शकुन्तला को महर्षि दुर्वासा के शाप का शिकार बनना पड़ा था। उन्होंने स्वयं शाप देते समय जो संबोधन किया है- 'आः अतिथिपरिभाविनि' वह इसी का सूचक है।

'राजधर्म' भी धर्मशास्त्रीय विषय है। राजा दुष्यंत राजधर्म के विशिष्ट ज्ञाता के रूप में चित्रित किये गये हैं। राजा के रथ को पहचान कर वैखानस आदि ऋषिकुमार उसे आश्रममृग की हत्या से विरत होने की पुकार करते हैं। भो भो राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः और वह भी इस वचन को सुनकर राजा होते हुए भी नियमों का पालन करता है -

तत साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहार सायकम्।
आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।। (अभिज्ञान शाकुन्तलम् 1/11)

चक्रवर्ती सम्राट होते हुए भी दुष्यंत राजा योग्य व्यवहार से सुपरिचित है। आश्रम प्रवेश के समय वह राजकीय वेश से आश्रम में प्रविष्ट नहीं होता। वह सूत को कहता है -

'सूत! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनांनिनाम्। इदं तावत् गृह्यताम्। इति सूतस्य आभरणानि धनुश्च चोपनीयार्पयति।'

वह शकुन्तला की सखियों को अपना परिचय देते समय भी विनम्रता का परिचय देता है। स्वयं राजा घोषित न कर राजपुरुष बतलाता है - 'भवति यः पौरवेण राजा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविध्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।'

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का पञ्चम अंक तो राजधर्म के विशेषताओं से परिपूर्ण हैं। शिष्टाचार की व्याख्या धर्मशास्त्र का विषय है। धार्मिक कार्यो व अनुष्ठानों के प्रति वह सदा सजग है तथा उनका पालन भी प्राथमिकता से सम्पन्न करता है। इस बात को उसका कञ्चुकी भी जानता है। साथ ही वह लोकतंत्र का परिपालक है, क्योंकि षष्ठांश वृत्ति का उपभोक्ता है। कञ्चुकी कहता है - 'कामं धर्मकार्यमनिपात्यं देवस्य। तथापीदानीमेव धर्मासनाद्रुत्थिताय पुनरूपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम्। अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतंत्राधिकारः। कुतः -

भानुः सकृद्युक्ततुरङ एव रात्रिन्दिवं गंधवहः प्रयाति।
शेष सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।। (अभि.शा. 5/4)

कञ्चुकी से कण्व शिष्यों के शुभागमन को सुनकर वह शिष्टाचार वश जो आज्ञा देता है, वह राजधर्म के सर्वथा अनुकूल है-

राजा - तेन हि मद्वचनाद् विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः। अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति। अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि।

वह अग्निशरण शला (यज्ञशाला) में उनसे भेंट करता है।

राज्याभिषेकादिगुणयुक्तस्य गृहस्थस्य धर्मान् आह-महर्षिः याज्ञवल्क्यः -

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो, वृद्धसेवकः।
विनीतः सत्वसंपन्नः कुलीकः सत्यावाक शुचिः।।
अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरूषस्तथा।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित्।
स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः।। (309-311)

एक राजा में जो गुण अपेक्षित हैं, वे सभी गुण राजा दुष्यंत में विद्यमान हैं।

'राजधर्म' की चर्चा करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं -

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद् राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता।। (334)
पुण्यात् षड्भागमादत्ते न्यायेन परियालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात् प्रजानां परिपालनम्।। (135)
प्रजापीडनसंतापत् समुद्भूतों हुताशनः।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा न निवर्तते।। (342)

राजा दुष्यंत महर्षि कण्व के सन्देशहारी शिष्यों के आगमन को सुनकर चिंतित हो उठता है तथा अपने प्रजापालन धर्म में वाली आशांकाओं से कह उठता है -

वेत्रवति! किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः?

किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरूधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः।। (अभि.शा. 5/9)

राजा दुष्यंत तपस्वियों के आगमन पर शिष्टाचारवश सिंहासन पर नहीं है। पुरोहित सोमरात कहता है - 'भो भो! तपस्विनः, असावश्रभवान् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो प्रतिपालयति। पश्चतैनम्।'

राजा स्वाभाविक मानव स्वभाव के अनुकूल उन तपस्विजनों के साथ आई हुई शकुन्तला को देखकर कह तो उठता है -

कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्।। (अभिज्ञान शाकुन्लतम् 5/13)

परंतु फिर यह भी कहता है -

'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।'

यद्यपि राजा दुष्यंत तथा शकुन्तला का संबंध 'गान्धर्व विविध' से सम्पन्न हुआ था, जो धर्म शास्त्रानुकूल था, तथापि गौतमी का यह कथन विचारणीय है -

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न खलु पृष्टश्क्ष बन्धुजन:।
एकैकमेव च चरिते भणामि किमेकमेक्सय।। (अभिज्ञान शाकुल्नतम् 5/16)

शकुन्तला चाहते हुए भी जब राजा दुष्यंत को विनयपूर्ण व्यवहार के लिए कहती है-

शकु - 'पौरव, रक्षाविनयम्। मदनसंतप्तापि न खल्वात्मन: प्रभावामि।'

राजा - भीरू अलं गुरूजनभयेन। व दृष्टा ते विदितधर्मा तत्रभवानत्र तत्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपति:। अपि च -

गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षिकन्यका:।
श्रूयन्ते परिणीतास्ता पितभिश्चाभिनन्दिता:।। (अभिज्ञान शाकुन्तलम् 3/20)

शापवश विस्मृत राजा को शिष्य शाङर्गरव जब धर्मशास्त्रीय व्यवस्था सुनाता है, तो वह किंकर्तव्यविमूढावस्था में उपन्यस्त प्रकरण को ही नहीं समझ पाता -

शाङर्गरव: - कथमिदं नाम! भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाता:।'

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां,
जनोऽन्यथा भर्तुमतीं विशंड़क्ते।
अत: समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभि:।। (अभिज्ञान शाकुन्तलम् 5/17)

लोक में धर्माचरण में तीन वस्तुओं की ही परम आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। वे तीन हैं - श्रद्धा, वित्त तथा विधि। वस्तुत: यही शकुन्तला की रचना का कवि-अभीष्ट संदेश है, जिसमें शकुन्तला को श्रद्धा, सर्वदमन भरत को वित्त तथा राजा दुष्यंत को विधि रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक के अवसान में महर्षि मारीच यही सूचित करते हैं -

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिद भवान्।
श्रद्ध वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम्।। (अभिज्ञान शाकुन्तलम् 7/29)

◆

संस्कृत

महाकाव्य रघुवंशम् में सुभाषित

डॉ० कान्ति सिंह

व्याख्याता, संस्कृत विभाग, आर०डी०एम० डिग्री कॉलेज, छपरा

रघुवंशम् महाकवि कालिदास अनुपम महाकाव्य है। 19 सर्गो में निबद्ध यह महाकाव्य महाकवि की प्रौढ़तम रचना है। इस महाकाव्य में सूर्यवंश में उत्पन्न राजा दिलीप और उनके पुत्र रघु के वंशजों-अज, दशरथ, रामचंद्र, कुश, अतिथि, निषध इत्यादि का वर्णन है। इस महाकाव्य में 1569 श्लोक हैं जिसमें राजा दिलीप से अग्निवर्ण तक इकतीस राजाओं के जीवन और चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। कला पक्ष की दृष्टि से रघुवंशम् एक ऐसा काव्य है जिसमें अनेक नायकों के जीवन चित्रों का पट है और महाकाव्य की परिभाषा के अनुरूप योग्य कुमारोत्पति, नगरों, पर्वत, समुद्र नदियों, ऋतु, मधुपान, विवाह, युद्ध, सुरत, जलक्रीड़ा इत्यादि विषयों का वर्णन प्रत्येक राजा के संबंध में कहीं न कहीं किया ही है।

इस परिपाक की दृष्टि से 'रघुवंशम्' श्रेष्ठ हैं क्योंकि इसमें सभी रसों का पूर्णरूपेण परिपाक हुआ है। अलंकार एवं भाषाशैली की दृष्टि से भी यह अनुपम महाकाव्य है। त्यागमय जीवन से प्रारंभ हुए वंश का वर्णन करते हुए कवि ने अंत में जिस विलासमय जीवन का वर्णन किया है, वह कवि की निश्चछलता और निर्भीकता का परिचय देता है। आदर्शों की सृष्टि जितनी इस महाकाव्य में हुई है उतनी अन्यत्र नहीं। कवि ने अपनी शैली के द्वारा वैदिक उपदेशों को सरलता के साथ प्रदर्शित किया है।

महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' महाकाव्य में सारग्रभित-सुभाषितों का प्रयोग 'विषय-वस्तु' के वर्णन क्रम में किया है। महाकवि कालिदास 'रघुवंशम्' महाकाव्य के प्रथम सर्ग में कहते हैं कि मेरे द्वारा रचित 'रघुवंश' का आस्वाद काव्यों के गुण-दोष का विवेचन कर सकने में समर्थ रसिक ही कर सकते हैं क्योंकि सोने के खरेपन-खोटेपन की वास्तविक परीक्षा (उसे) अग्नि में डालने पर ही होती है-

हेम्न:संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि:श्यामिकाऽपि वा ।।[1]

राजादिलीप नि:संतान थे। वे गुरुवशिष्ठ के आश्रम आकर गो-सेवा करते हैं। पुत्रहीन दिलीप महर्षि वशिष्ठ से कहते हैं कि तप दान इत्यादि के पुण्य से केवल परलोक में ही सुख मिलता है किंतु शुद्ध वंश में उत्पन्न संतति से ऐछिक तथा पारलौकिक दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है–

संतपि: शुद्ध वंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ।[2]

गुरु वशिष्ठ उन्हें संतान प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं कि तूने सुरधेनु का अपमान किया था, इसलिए उसने तुझे शाप दिया। वही शाप तेरी संतति के मार्ग में रोड़ा बन रहा है। महर्षि वशिष्ठ दिलीप से कहते हैं कि–

प्रतिबध्नाति हिश्रेय: पूज्यपूजाष्यतिक्रम: ।[3]

अर्थात जो पूजनीय होते हैं, उनकी पूजा-वंदना नहीं करने से कल्याण के मार्ग में बाधाएं आती हैं।

महाकवि कालिदास रघु के विलक्षण-बुद्धि का वर्णन क्रम में कुमार रघु को पढ़ाने के लिए नियुक्त किए गए सभी विद्या गुरुओं के प्रयत्न सहज ही सफल हुए क्यों कि रघु बुद्धिमान था। महाकवि ने इसी प्रसंग में लिखा है– 'क्रियाहि वस्तुपहिता प्रसीदति'।[4] अर्थात् गुरु द्वारा दी गई शिक्षा योग्य शिष्य को दी जाने पर ही सफल होती है। शिक्षा सत्पात्र को देने से वह विलक्षण चमत्कार पैदा करती है।

डटकर अपना विरोध करने वाले रघु का पराक्रम देखकर इन्द्र को भी कौतुक हुआ क्योंकि 'पदं हि सर्वत्र गुणै र्निधीयते',[5] अर्थात वास्तविक गुणों का परिणाम किसी पर भी और कहीं न कहीं होता ही है। दिग्विजय के बाद रघु ने विश्वजित् नामक यज्ञ किया और उसमें उसने वह सारा का सारा ही द्रव्य सत्पात्रों को दक्षिणा के रूप में दे डाला जिसकी उसे प्राप्ति हुई थी। इसी प्रसंग में कालिदास कहते हैं–

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।[6]

अर्थात् सज्जनों का व्यवहार बादलों के समान होता है। दूसरों से वे जो कुछ भी लेते हैं, उसे उन्हें वापस लौटा देने के लिए ही लेते हैं।

रघुवंशम् के पांचवे सर्ग में जब 'प्रियवंद' नामक गंधर्व को घमंड के कारण मतंगमुनि ने शाप दे दिया, किंतु जब गंधर्व ने क्षमा मांगी, तब मुनि शांत हुए। इसी प्रसंग में महाकवि कालिदास कहते हैं कि शीतलता जल का स्वाभाविक धर्म है। थोड़े समय के लिए उसमें जो उष्णता आ भी जाती है, वह केवल अग्नि या सूर्य की किरणों के कारण ही–

उष्णत्वमग्न्यातपसं प्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य।[7]

स्वयंवर के समय इंदुमती ने अंगराज को अस्वीकार कर दिया। वास्तव में न तो अंगराज गुणहीन था और न ही इन्दुमति अगुणज्ञ थी किंतु किसी भी मनुष्य की व्यक्तिगत रुचि भिन्न होती है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन इस सुभाषित से होता है–

भिन्नरुचिर्हि लोक:।[8]

इन्दुमती का शोक करते हुए अज कहते हैं कि यदि यह पुष्पमाला प्राण घातक है, तो जब मैंने भी उसे अपने सीने पर रख लिया, तब वह भी मेरे प्राण क्यों नहीं लेती? इसका अर्थ यह है कि–

विषमण्यमृतं क्वचिद् भपेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ।[9]

अर्थात् परमेश्वर की इच्छा से विष का अमृत और अमृत का विष भी हो सकता है।

महाकवि ने अपने इस महाकाव्य में इस सांसारिक सत्य का रहस्योद्घाटन किया है जीवन मिथ्या है और मृत्यु ही सत्य है। अज को सान्त्वना देते हुए वशिष्ठ का शिष्य अज से कहता है-

मरणं प्रकृति: शरीरिणां विकृति र्जीवितमुच्यते बुधै:।[10]

मरण ही प्राणियों का स्वाभाविक धर्म है और जीवन तो उनका केवल सामयिक विकास है।

मनुष्य अविवेक के कारण अयोग्य आचरण करता है। दशरथ ने अधिक विचार न कर तथा राजधर्म का विचार नहीं करते हुए हाथी पर अर्थात् यह हाथी है ऐसा सोचकर शब्द वेधी बाण छोड़ दिया। अच्छे-अच्छे विद्वान भी अविवेक से अंधे हो जाने पर कुमार्ग पर चले जाते हैं–

अपने पदमपर्यन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिता: ।[11]

'ज्ञान' की कसौटी आयु नहीं होती है। जब यज्ञ की रक्षा के लिए विश्वामित्र ने वाल-उम्र के राम को भेज देने की प्रार्थना दशरथ से की, क्योंकि राम छोटे होते हुए भी तेजस्वी थे। तेजस्वी पुरुषों के बारे में आयु का विचार नहीं किया जाता–"तेजसां हि न वय: समीक्ष्यते" ।[12]

रघुवंशम् के 11वें सर्ग में जब दशरथ के मन में यह बात आई कि 'अब हमें योग्य पुत्रवधु चाहिए' तो जनक का पुरोहित शतानंद दशरथ के पास यह रुचिकर संदेश लेकर आये कि 'जनक ने अपनी कन्या प्रतिज्ञा पूरी करने वाले रामचंद्र को दी है। इस प्रसंग में कालिदास कहते हैं– 'सद्य एवं सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्ष फलधर्मिकाङ्क्षितम्'।[13] पुण्यवान् लोगों के मनोरथ कल्पवृक्ष के फलों के समान होते हैं। वे काल की कठिनाई दूर कर शीघ्र ही पक जाते हैं अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार शक्तिशाली और महान् लोगों की महानता तभी दिखती है जब अपने से अत्यधिक शक्तिशाली व्यक्ति को अपने अधीन कर लेता है या अपना प्रभुत्व उस पर कायम करता है। परशुराम राम से कहते हैं कि मैंने अपने पराक्रम से समस्त क्षत्रियों को नष्ट कर दिया है, तो भी तुझे जीते बिना मुझे संतोष नहीं होगा। इस प्रसंग में यह सारग्रमिंत उक्ति है– 'पावकस्य महिमा सगण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपिय:'।[14] अग्नि की महिमा तभी माननी चाहिए, जब वह सूखे घास में जलने के समान ही समुद्र में जले।

इसी प्रकार जब लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई राजा राम की पत्नी सीता को वन में ले जाकर छोड़ आने की आज्ञा चुपचाप मान ली जाये क्योंकि– 'आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया'।[15] बड़े-छोटों द्वारा नहीं किया जाता। उसका पालन चुपचाप करना होता है।

अस्तु कालिदास ने अपने इस अनुपम महाकाव्य में न केवल आदर्श चरित्र का चित्रण किया है, अपितु आदर्श भारतीय संस्कृति की झलक भी दिखाने का प्रयास किया है। अपने काव्य-प्रसंगों में जिस तरह से व्यवाहरक, कूटनीतिज्ञ एवं आचारपरक सदुश्रियों का प्रयोग किया है, उससे स्पष्ट होता है कि कालिदास एक काव्य शिल्पी ही नहीं, अपितु बहुमुखी प्रतिमा का महान् विद्वान् थे।

संदर्भ सूची

1. रघुवंशम्–1.10
2. रघुवंशम्–1.69
3. रघुवंशम्–1.79
4. रघुवंशम्–3.29
5. रघुवंशम्–3.62
6. रघुवंशम्–4.86
7. रघुवंशम्–5.54
8. रघुवंशम्–6.30
9. रघुवंशम्–8.46
10. रघुवंशम्–8.87
11. रघुवंशम्–9.74
12. रघुवंशम्–11.1
13. रघुवंशम्–11.50
14. रघुवंशम्–11.75
15. रघुवंशम्–14.46

◆

भारतीय समाज की जनसंख्या वृद्धि समस्या एवं समाधान

एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० अनुराधा गौतम

समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

परिचय

भारत जनसंख्या वृद्धि की इस प्रतियोगिता में काफी आगे है, भारत का भौगोलिक क्षेत्र विश्व का लगभग 2.4 प्रतिशत है। किन्तु यहाँ विश्व की 16 प्रतिशत जनसंख्या पायी जाती है, जनसंख्या की दृष्टि से भारत का स्थान विश्व में चीन के बाद दूसरा है, भारत में सन -1872 में प्रथम बार जनगणना किया गया था, किन्तु जनसंख्या का क्रमवार आकलन सन-1881 से किया जा रहा है, सन-1881 में भारत की कुल जनसख्या 23.7 करोड़ थी, जो 1 मार्च सन-1991 को 84.63 करोड़ हो गयी। ऐसा अनुमान लगाया जाता था कि 1997 में भारत की जनसंख्या 95 करोड़ से अधिक हो गया था। वर्त्तमान समय में ऐसा माना जाता है कि 2051 तक भारत की जनसंख्या लगभग दो गुणा हो जाएगा।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र का मुख्य उद्धेश्य निम्नलिखित है-

1. भारतीय समाज में जनसंख्या वृद्धि का बढ़ते प्रभाव का अध्ययन करना।
2. इसके अन्तर्गत जनसंख्या वृद्धि के कारणों को जानना।
3. जनसंख्या वृद्धि को रोकने के उपायों को खोजना।
4. जनसंख्या वृद्धि का समाजिक परिवर्तन में भूमिका को जानना।
5. इस शोध-कार्य के द्वारा यह पता लगाना कि जनसंख्या वृद्धि ने भारतीय समाज को कहाँ तक प्रभावित किया है।
6. इस शोध-पत्र द्वारा यह जानना है कि इसे किस प्रकार सीमित किया जाए।
7. भारतीय समाज के बदलते परिवेश में जनसंख्या वृद्धि का प्रभाव शोध को दूर करना आदि।

उपकल्पनाएं

1. जनसंख्या वृद्धि के कारण भारतीय समाज में खाधानों की कमी हो रही है।
2. इसके कारण भारतीय समाज का प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित हुआ है।
3. जनसंख्या वृद्धि ने भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार की कई समस्याओं को जन्म दिया है।

4. जनसंख्या वृद्धि के कारण बेरोजगारी, भूखमरी तथा शुद्ध वातावरण को बढ़ावा मिला है।
5. आज भारतीय समाज में जनसंखया वृद्धि ने विकास के मार्ग को रोकने का काम किया है।
6. जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए समाज के लोगों मे जागरूकता लाने की आवश्यकता है।
7. इसे रोकने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर विचार करने की आवश्यकता है।

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत मुख्यत: द्धितीयक ऑकड़ों का प्रयोग किया गया है। क्योंकि जिन विषय पर मेरा शोध है। उसकें लिए क्षेत्र अध्ययन महत्वपूर्ण नही प्रतीत होता है। अध्ययन का क्षेत्र सम्पूर्ण भारत होन के कारण केवल सांख्यकीय ऑकड़ों के विश्लेषणों द्वारा निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है। श्रोतों के रूप में विभिन्न पुस्तकालयों, पत्र-पत्रिकाओं, शोध-पत्र, उचित पुस्तकों का अध्ययन किया गया है।

विश्लेषण

जनसंख्या किसी भी राष्ट्र के लिए अमूल्य पूँजी होती है, जो वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन करती है, वितरण करती है और उपभोग भी करती है और इस तरह देश के आर्थिक विकास का संवर्धन करती है। इसलिए तो जनसंख्या को देश के लिए साधन भी और साध्य भी माना गया है। लेकिन हर किसी चीज की एक सीमा होती है और उसका उल्लंघन सर्वथा घातक है, भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के सम्बन्ध में यह कहना निहायत ही गलत नहीं होगा। जिस देश के साधन संसाधन वहाँ की आबादी के सापेक्ष होते है उसे एक अनुकूल या आदर्श जनसंख्या कह सकते है। पर विपरित स्थिति में जन उपलब्ध संसाधन देश की जनसंख्या को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं होते, तो इसे जनाधिक्य की संज्ञा दी जाती है। जनाधिक्य की समस्या से कई राष्ट्र संक्रमित है, पर अगर भारत की बात की जाए तो जनांकिकीविद् के लहजों में इसे जनाधिक्य की श्रेणी से दो कदम आगे कहा जा सकता है।

ऑकड़े गवाह हैकि भारत की आबादी बेलगाम, बेतहासा बढ़ती जा रही है। आजादी के समय भारत की जनसंख्या 33 करोड़ थी । 21 वीं शदी की शुरूआत क्या हुइ भारत ने जनसंख्या के मामले में अरबपति होने का दर्जा हासिल कर लिया । यह बात अलग है कि यह दृष्टि भारत के लिए संकट का कारण बन सकती है। भारत में जनसंख्या 2001 का कार्य अपने आप में एक दुगुणाकारी एवं ऐतिहासिक घटना है। क्योंकि यह 21वीं शताब्दी तथा तीसरी सहस्त्राब्दी में होने वाली पहली जनगणना है। 28 फरवरी से 9 मार्च 2001 के दौरान जनगणना किया गया। 01 मार्च 2001 को भारत की जनसंख्या 01 अरब 2 करोड़ 80 लाख थी। भारत के पास विश्व के कुल भू-भाग का 2.4 प्रतिशत भू-भाग मात्रा है। फिर भी विश्व की 16.7 प्रतिशत आबादी का भार उसे वहन करना पड़ रहा है। अगर वैश्विक स्तर पर नजर डाली जाए तो भारत और चीन ही अभी तक जनसंख्या में अरबपति हो पाए है और किसी भी देश को यह गौरव नहीं प्राप्त हुआ है। भारत का स्थान चीन के बाद में दूसरा आता है। आने वाले समय में उम्मीद यही है कि भारत चीन को रौंदते हुए आगे बढ़ जाएगा। क्योंकि वर्त्तमान में देश की वृद्धि दर 1.93 वार्षिक है। जो विश्व के अन्य देशों के मुकाबले कई कोस आगे है। यहाँ तक कि विश्व के सर्वाधिक आबादी वाले देश चीन की वार्षिक जनसंख्या वृद्धि दर 1 प्रतिशत है। यदि भारत की वृद्धि दर कम होकर अपने अधिस्तर पर भी आ जाए तब भी आने वाले कुछ वर्षों में देश का पहला स्थान होगा।

भारत की 1891 से 2001 तक जनसंख्या की प्रकृति–

1891–1921–अवरूद्ध जनसंख्या
1921–1951–मर्यादित वृद्धि
1951–1981–तीव्र उच्च वृद्धि दर (जनसंख्या विस्फोट)
1981–2001–उच्च वृद्धि के साथ मन्द होने के स्पष्ट संकेत।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा इस सदी के शुरू में जारी की गई एक रिपोर्ट के मुताबिक विश्व में प्रति मिनट 150 बच्चे जन्म लेते है जिनमें 45 का योगदान अकेले भारत ही करता है। भारत के इसी योगदान को देखते हुए रूस की मशहूर महिलावादी लेखिका मारिया आवारोबा ने सरकार को अपने देश रूस की आबादी में बढ़ोत्तरी के लिए भारतीय पुरूषों की सेवाएं लेने तक का सुझाव दे डाला। अपने देश रूस में आबादी की कमी से निपटने के लिए उन्होंने अपनी पुस्तक ''कास्टिंग इण्डिया'' में लिखा है कि सरकार को जन्म दर में वृद्धि के मकसद से रूसी लड़कियों के लिए दूल्हे के रूप में भारतीय पुरूषों की व्यवस्था करनी चाहिए।

जनसंख्या वृद्धि के कारण

भारत में रूढिवादिता आदि सामाजिक दायरों में फँसे लोग जनसंख्या वृद्धि के लिए उत्तरदायी ठहाए जा सकते हैं। हमारा ध्यान सिर्फ जन्म दर की निरन्तर होती वृद्धि की तरफ ही जाता है। लेकिन इसके पर्याप्त कारणों में मृत्यु दर की कमी को भी शुमार किया जा सकता है। देश में किसी भी कार्यक्रम का पूर्णरूपेण क्रियान्वन न हो पाना, अशिक्षा और गरीबी भी इसके कारण है। भारत के साथ एक त्रासदी यह भी है कि यहाँ अवांछित तरीके से भी जनसंख्या वृद्धि हो रही है। इसके तहत घुसपैठ जनित आबादी को गिना जा सकता है। एक अनुमान के मुताबिक 1 करोड़ बांग्लादेशी घुपैठिए भारत में रह रहे हैं। वाकायदा इन्होंने राशन कार्ड भी बनवा लिया है और मतदाता सूची में भी संसूचित है माना जाता है कि इन घुसपैठियों को राजनीतिक संरक्षण भी मिला हुआ है। असुरक्षा भाव भी जनसंख्या वृद्धि का कारण बनता है। अपनी जमात के विलुप्त न विरल हो जाने के बेतुके अंदेशो के बीच लोग सोंचते हैं कि हमारी संख्या जितनी अधिक होगी, हम उतने ही मजबूत होंगे। समाज में फैली बेश्यावृत्ति के कारण भी अवांछित बच्चे बढ़ रहे है। कुछ महत्वपूर्ण कारण निम्नलिखित है-

- ❑ सरकार द्वारा निरन्तर प्रयास के बावजूद कम उम्र में विवाह करना।
- ❑ धार्मिक विचार कि बच्चे भगवान की देन है। इसलिए स्वयं प्रयास नहीं करते है।
- ❑ सामाजिक मान्यता को मानकर कि भारतीय समाज में पुत्र का विशेष महत्व है। इसलिए पुत्र प्राप्ति के लिए निरन्त बच्चों को जन्म देना।
- ❑ जनसंख्या वृद्धि में अज्ञानता और अशिक्षा को भी जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।
- ❑ ग्रामीण क्षेत्रों में प्रजनन, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव होना।
- ❑ उच्च जन्म दर का प्रमुख कारण देश की गर्म जलवायु का होना।
- ❑ वैज्ञानिक प्रगति के कारण मृत्यु दर में कमी आई है।
- ❑ अप्रवास की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही है।
- ❑ रूढिवादिता और अंधविश्वास के घेरे में आकार शिक्षित नवदम्पति भी संदेह के कारण दो संतानों में अन्तर नहीं रख पाते है।

- गरीबी जनसंख्या वृद्धि का महत्वपूर्ण कारण है। इसके साथ अंधविश्वास जुड़े रहते हैं कि अधिक बच्चे होंगे तो कमाने वाले अधिक होंगे।
- प्रजनन आयु वर्ग का कुल जनसंख्या के साथ अनुपात अधिक होना।
- देश में गर्भ-निरोधक साधनों का अभाव होना।
- शिशु मृत्युदर अधिक होने के कारण अधिक बच्चे पैदा करना।
- समाज में विवाह की अनिवार्यता जन वृद्धि में सहायक।
- जीवन प्रत्याशा का लगातार बढ़ना आदि।

संदर्भ-सूची

1. जनांकिकी-आर.सी. चान्दना
2. भारत लोक और अर्थव्यवस्था - N.C.E.R.T.
3. जनांकिकी – डॉ. जीवन चन्द्रपंत
4. नेशनल पोपुलेशन पॉलिसी-2000 (प्लानिंग कमिशन ऑफ इंडिया, नई दिल्ली)
5. जनगणना रिपोर्ट-2001 (भारत सरकार)
6. योजना- अप्रैल 2002 व जुलाई-2003
7. कुरूक्षेत्र-जुलाई-2007
8. दैनिक हिन्दुस्तान, जनसत्ता, राष्ट्रीय सहारा, दृष्टिकोण मंथन।

❖

समाजशास्त्र

भारत में विवाह प्रथा में परिवर्तन

डॉ० सुरेन्द्र मोहन

एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, बी०डी० इवनिंग कॉलेज, पटना

औद्योगीकरण और नगरीकरण के परिणामस्वरूप ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिनका पूरे विश्व में विवाह संस्था पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। यद्यपि विभिन्न समाजों तथा प्रत्येक समाज के अंतर्गत विभिन्न समूहों ने औद्योगीकरण और नगरीकरण के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया व्यक्त की है किंतु विवाह को प्रभावित करने वाली कुछ सामान्य प्रवृतियां स्पष्ट परिलक्षित होती हैं।

विवाह के रूपों में परिवर्तन

बहु-विवाह की परंपरा वाले समाज की एकल विवाह प्रथा अपना रहे हैं। स्त्री की स्थिति में सामान्य सुधार और पुरुष के प्रभुत्व के पंजों से धीरे-धीरे उसकी मुक्ति के परिणामस्वरूप उन समाजों में भी जिनमें बहु-विवाह प्रथा प्रचलित है– बहु-पत्नी विवाह या एक से अधिक पत्नियां रखने की घटनाओं में कमी आई है। भारत में हिंदू विवाह अधिनियम में बहु-पत्नी और बहु-पति विवाहों दोनों पर रोक लगा दी है। पाकिस्तान जैसे मुस्लिम देश में भी एक ऐसा कानून लागू किया गया था जिसमें काजी के लिए यह अनिवार्य था कि वह बहु-विवाह तभी कराए जब पहली पत्नी ने अपने लिखित सहमति दे दी हो। एकल विवाह की प्रवृत्ति को पश्चिमी समाजों द्वारा प्रतिपादित विवाह के आधार के रूप में रोमानी प्रेम के नए विचार से बढ़ावा मिला है। जिसमें एक व्यक्ति विशेष को आदर्श साथी समझा जाता है।

तथापि यह मानना शायद गलत हो कि एक विवाह की यह प्रवृति अटूट एकल विवाह (Straight Monogamy) की है। आधुनिक समाज की परिस्थितियों ने विवाह को अस्थिर बना दिया है और विवाह बंधन को तोड़ा जा सकता है और आज व्यक्ति खुशी पाने के लिए एक से अधिक विवाह करने का खतरा मोल लेने को तैयार है। माता-पिता और मित्रगण की भी इसमें सहानुभूति होती है, अत: नए युग में अनेक समाज अटूट एकल विवाह को बनाए रखने की अपेक्षा क्रमिक एकल विवाह (Serial Monogamy) की प्रवृत्ति अपना रहे हैं। इसमें एक विवाह के टूटने के बाद दूसरा विवाह संभव होता है।

जीवन साथी के चयन में परिवर्तन

भारत जैसे परंपरागत देशों में जहां जीवन साथी के चुनाव का अधिकार पूर्ण रूप से माता-पिता का ही होता है वहां भी परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। युवक और युवतियों की राय को भी जीवन साथी के चुनाव में काफी अधिक महत्व दिया जाने लगा है। ऐसी स्थिति से, जिसमें उनसे इस विषय में कोई राय नहीं ली जाती थी कि उनका किसे विवाह होने वाला है, अब यह स्थिति आ गई है जिसमें लड़की/लड़के से राय ली जाती है और उनकी सहमति प्राप्त की जाती है।

शहरी मध्यम वर्ग के परिवारों में पुत्र और पुत्रियों को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वे दूसरों द्वारा लाए गए विवाह प्रस्तावों से इंकार कर दें। अधिक उन्नत और जागरूक शहरी परिवारों में माता-पिता अपने बच्चों को संभावित साथी से परिचित होने के अवसर भी देने लगे हैं। डेटिंग (तिथि निर्धारण) एक ऐसा प्रचलन है जिसमें भारत के महानगरों के कॉलेजों व विश्वविद्यालयों के लड़के व लड़कियां एक दूसरे को समझने और सापेक्ष आजादी का आनंद लेने के लिए एक दूसरे से मिलने जाते हैं। यह भी पश्चिमी समाज का ही अनुकरण है और पश्चिमी संस्कृति के संपर्क में आने का परिणाम है। भारत के शहरी वर्गों में समाचार पत्रों में विज्ञापन द्वारा जीवन साथी के चयन की प्रथा काफी अधिक लोकप्रिय हो गई है और इस दिशा में नवीनतम परिवर्तन यह हुआ है कि परस्पर अनुकूल साथियों को मिलाने का काम कंप्यूटरों से लिया जाने लगा है।

विवाह के समय आयु में परिवर्तन

भारत में पिछली कुछ सदियों से बाल विवाह की प्रथा प्रचलित थी और इसे प्राथमिकता और प्रोत्साहन दिया जाता था। बाद में समाज सुधारकों ने इस प्रथा को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयास किए। तद्नुसार बाल विवाह अवरोध अधिनियम जो शारदा एक्ट के नाम से लोकप्रिय है, 1929 में पारित किया गया। इस कानून के तथा आधुनिक औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के प्रभाव के बावजूद, विशेष रूप से ग्रामीण लोगों में कम आयु पर विवाह किए जाते रहे हैं। शहरी क्षेत्रों में भी लड़की की शीघ्रताशीघ्र विवाह करने का अत्यधिक प्रचलन था। किंतु स्कूलों और कॉलेजों में लड़कियों की बढ़ती हुए संख्या और नौकरी करने की उनकी इच्छा के साथ-साथ अधिकांश लड़कों के जीवन में देर से व्यवस्थित होने की समस्या के कारण विवाह की आयु बढ़ी है। सरकार ने अपनी जनसंख्या नीति के एक मुद्दे के रूप में अब विवाह की कम से कम आयु लड़कियों के लिए 18 वर्ष और लड़कों के लिए 21 वर्ष निधारित की है। सामान्यत: नगरों में विवाह अब इस निर्धारण आयु से काफी अधिक आयु में किए जा रहे हैं।

विवाह के रीति-रिवाजों में परिवर्तन

भारत में सामाजिक परिवर्तन ने अजीबोगरीब स्थिति पैदा कर दी है। औद्योगिकी और विज्ञान के अत्यधिक प्रभाव के कारण यह आशा की जाती थी कि एक धर्मनिरपेक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होगा और परिणामस्वरूप गैर-जरूरी रीति-रिवाजों को छोड़ दिया जाएगा। सभी समाजों में धर्म और समाज-सुधारकों ने हमेशा इस बात का आग्रह किया है कि निरर्थक रीति-रिवाजों पर व्यर्थ खर्च न किया जाए। किंतु यह देखने में आया है कि जागरुक व्यक्तियों की आशा के विपरीत जहां एक रीति-रिवाजों का संबंध है भारत में विवाह आदि और अधिक पारंपरिक हो गए हैं। आजकल बहुत से ऐसे रीति-रिवाज फिर से शुरू हो गए हैं जो स्वतंत्रता के बाद समाप्त हो गए प्रतीत होते थे। किसी सीमा तक यह रीति-रिवाज धनी परिवारों ने ही शुरू किए हैं। समाज में बहुत से व्यक्तियों के पास इतना धन होता है कि वे शादी-विवाह के मौके पर बहुत फिजूल खर्जी करते हैं और जो लोग इतने धनी नहीं हैं वे उनकी नकल करने की कोशिश करते हैं।

विवाह के लक्ष्यों में परिवर्तन और वैवाहिक स्थिरता

पहले यह समझा जाता था कि परंपरागत समाजों में विवाह का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य पुनर्जनन है। सभी समाजों में कई बच्चे होने से माता-पिता को उच्च स्थान मिलता था और हिंदुओं में विशेष

रूप से पुत्रों की कामना की जाती थी। इस प्रकार से बड़ा परिवार रखना विवाह का एक मुख्य लक्ष्य होता था और वर-वधू को शुभकामनाओं के साथ बहुत से बच्चे होने का आर्शीवाद दिया जाता था। किंतु आजकल के जीवन की परिस्थितियां कुछ ऐसी हैं कि बड़ा परिवार एक बोझ बन चुका है। वस्तुत: तीन या चार बच्चों वाले परिवार को भी पसंद नहीं किया जाता है। अनेक विकासशील देश बढ़ती जनसंख्या की समस्या से घिरे हुए हैं इसलिए वे छोटे परिवार के प्रतिमान को प्रोत्साहन देने के लिए वचनबद्ध हैं। परिवार के आकार को सीमित रखना ही इनमें से अनेक देशों की घोषित सरकारी नीति है। भारत ऐसा पहला देश था जिसने सरकारी परिवार नियोजन कार्यक्रम को अपनाया। उन एशियाई और अफ्रीकी देशों में जहां लोकतांत्रिक सरकारें हैं शिक्षा द्वारा सशक्त प्रचार करके नागरिकों को सीमित पुनर्जनन के लाभों को समझने और स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। चीन ने भी जनसंख्या नियंत्रण का कठोर कार्यक्रम अपनाया है जिसके अंतर्गत पुनर्जनन सीमित न रखने वाले युगलों के लिए हतोत्साही कार्यक्रम और दंड लागू किए गए हैं।

ये सभी प्रयास धीरे-धीरे भारत के लोगों और अन्य देशों के सांस्कृतिक मूल्यों को प्रभावित कर रहे हैं। इस वास्तविकता को समझा जा रहा है कि अधिक बच्चों की अपेक्षा, जिन्हें अच्छी तरह से खिलाया, पहनाया नहीं जा सकता या जिनकी देखभाल अच्छी तरह से नहीं की जा सकती, दो स्वस्थ बच्चे होना बेहतर है जिनकी देखभाल अच्छी तरह से की जा सकती है।

जैसे-जैसे पुनर्जनन और उसके साथ माता-पिता की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण होती जा रही है, पति-पत्नी के बीच साहचर्यता और बच्चों के लिए भावनात्मक सहारा देना विवाह के अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य बनते जा रहे हैं। वस्तुत: युवा लोग आज खुशी और आत्म-संतोष के लिए विवाह कर रहे हैं। वैवाहिक अस्थिरता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों में भविष्य में कोई सुधार होने की बजाय उनके और अधिक खराब होने की संभावना है। विवाह से संबंधित हमारे दृष्टिकोण, मूल्यों और आदर्शों में भी परिवर्तन हो रहा है। ऐसी स्थिति में विवाह का भविष्य क्या है? सामाजिक जीवन के संबंध में कुछ पूर्वानुमान लगाना कठिन और जोखिमपूर्ण है। किंतु इस बात की कोई संभावना नजर नहीं आती कि व्यक्ति और सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में विवाह को कभी छोड़ा या त्याग दिया जाएगा। यदि पाश्चात्य देशों के अनुभव से कुछ सीखा जा सकता है तो कहना होगा कि वहां तलाक की बढ़ती हुई संख्या के बावजूद लोग विवाह करने से पीछे नहीं रहते हैं और व्यक्ति की विवाह से खुशी की तलाश जारी है।

संदर्भ-सूची

1. गोरे, एम.एस.ए 1965, छी ट्रेडीशनल इंडियन फैमिली, एम.एफ. निमकाफ (संपादित;, कम्पैरेटिव फैमिली सिस्टम में हाटन-मिफलिन : बोस्टन।
2. कपाड़िया के.एस., 1966, मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस: मुंबई।

❖

ग्रामीण महिलाओं की राजनैतिक सशक्तिकरण का समाजशास्त्रीय विवेचन

डॉ॰ प्रदीप कुमार

श्रीकृष्ण नगर कॉलोनी, इशाक चक, भागलपुर

महिला सशक्तिकरण से तात्पर्य महिलाओं को पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वायत्तता से है। भारत में महिला सशक्तिकरण का प्राथमिक उद्देश्य महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक दशा को सुधारना है।

महिलाएं सदैव हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक व्यवस्थाओं का आधार रही है। आज की परिस्थितियों में जीवन के हर क्षेत्र में उनका योगदान बढ़ रहा है। सभी महिलाएं कर्मशील होती हैं। परंतु उनके द्वारा किये गये कार्य को मुद्रा में नहीं मापा जाता।

यही कारण है कि किसी भी प्रदेश की कुल आय में महिलाओं की आय नगण्य है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि अधिकतर महिलाएं असंगठित क्षेत्रों में कार्य करती हैं। परिणामस्वरूप उनके द्वारा अर्जित आय कुल सकल आय में दिख नहीं पाती।

इसलिए यह आवश्यक है कि महिलाओं के कार्य क्षेत्र को संगठित किया जाये और यह सुनिश्चित किया जाये कि उनके द्वारा अर्जित आय कुल सकल आय में दिख नहीं पाती। इसलिए यह आवश्यक है कि महिलाओं के कार्य क्षेत्र को संगठित किया जाये और यह सुनिश्चित किया जाये कि उनके द्वारा अर्जित आय उन्हें ही प्राप्त हो। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महिलाओं के दायित्व और जीवन संदर्भ भी बदलें हैं, ऐसे में आज महिला पुरुष के बीच की जिम्मेवारी हम सबकी है और सभी आज मदद कर रहे हैं।

बिहार सरकार ने 2006 एवं 2007 में संपन्न हुए पंचायत एवं नगर पालिका आम चुनावों में महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण दिया। यह आरक्षण एक ऐसे समय में दिया गया जब केंद्र में महिलाओं के विधायिकाओं में आरक्षण का मुद्दा बार-बार उठ रहा था और हर सरकार उसे ठंडे वस्ते में डालती रही। ऐसे में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि महिलाओं को दिया गया यह आरक्षण क्या लोकतांत्रिक प्रक्रिया की दिशा में उठाया गया कदम है।

मई 2006 में संपन्न हुए पंचायत चुनावों में ग्राम पंचायत सदस्य एवं ग्राम कचहरी पंच के लिए क्रमश: 114621 तथा 108994 निर्वाचित हुए, जिनमें महिलाओं की संख्या 62733 तथा 52805 रहीं, जबकि मुखिया तथा सरपंच के लिए क्रमश: 8458 एवं 8461 निर्वाचित हुए जिनमें 4222 एवं 4022 महिलाएं चुनी गयी। इसी तरह पंचायत समिति सदस्य तथा जिला परिषद सदस्य के लिए क्रमश: 11566 एवं 1160 सदस्य निर्वाचित हुए जिनमें महिलाओं की संख्या 5671 एवं 578 रहीं।

2006 का पंचायत चुनाव

पंचायत प्रतिनिधि	कुल संख्या	महिलाओं की संख्या	पुरुषों की संख्या
ग्राम पंचायत सदस्य	114621	62733	51888
ग्राम कचहरी (पंच)	108994	52805	56189
मुखिया	8458	4222	4236
सरपंच	8461	4022	4439
पंचायत समिति	11566	5671	5895
जिला परिषद	1160	578	582
कुल	**235260**	**130031**	**123229**

इस प्रकार उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय में पंचायत प्रतिनिधियों में महिलाओं की संख्या पुरुषों से भी अधिक है। कुल संख्या 235260 में 51.34 प्रतिशत महिलाएं अभी पंचायत प्रतिनिधि है। इस प्रकार देखा जा रहा है कि पंचायत के माध्यम से भी उन महिलाओं का जो पंचायत चुनाव में भाग ले रहीं हैं का सशक्तिकरण हो रहा है।

बिहार की कुल आबादी 8,29,98,500 है। यहाँ प्रति 1000 पुरुष पर 919 महिलाएँ हैं अर्थात् प्रति 1000 पुरुष पर 81 महिलाएँ कम हैं। यह देश के औसत से कम है। यह स्थिति हमेशा नहीं रही है। परंतु विगत वर्षो में महिला जनसंख्या में घटने की प्रवृत्ति देखी गयी है।

यदि 1991 की जनसंख्या पर गौर किया जाये तो पता चलता है कि पुरुष स्त्री का अनुपात वर्तमान से बेहतर था। विगत एक दशक में महिला की जनसंख्या में ह्रास और बढ़ा है। यह ह्रास गांवों की अपेक्षा शहरों तथा कस्बों में ज्यादा देखने को मिला है जहां साक्षरता दर ज्यादा है। यह इस बात का संकेतक है कि साक्षर समुदाय में महिलाओं के प्रति अनुदारता व संकुचन की प्रवृत्ति ज्यादा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्रामीण महिलाएं आज सशक्त हुई हैं तथा उनमें जागृति आयी है और वे हरेक क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं। महिलाओं के आर्थिक व सामाजिक दशा में सुधार आया है। हालांकि वे आज घर से बाहर भी निकल रहीं हैं, पर्दा भी न के बराबर ही है।

कुछ महिलाओं का मानना है कि वे अपना निर्णय लेने में घर के पुरुष सदस्य दखलअंदाजी करते हैं। वे आज हर समस्याओं के खिलाफ लड़ने को तैयार हैं तथा वे महिला अत्याचार के विरुद्ध मोर्चा खोलकर अपने अधिकारों के लिए लड़ने को तैयार हैं तथा अपने लड़कियां को भी शिक्षित बनाने के लिए पूरा जोर दे रहीं हैं। आज अगर देखी जाए तो निम्न वर्ग की महिलाओं में सुधार तो आया है परंतु उनमें और अधिक जागृति लाने की जरूरत है। अधिकांश महिलाओं का मानना है कि आज महिलाएं पहले से तो सशक्त हुई हैं परंतु फिर भी समाज में पुरुष वर्चस्व की स्थिति विद्यमान है।

भारत सरकार ने ग्रामीण विकास में महिला रोजगार की भागीदारी बढ़ाने के लिए समय-समय पर नीतियों का निर्माण किया है। महिलाओं और बच्चों के समग्र विकास को वांछित गति प्रदान करने के लिए 1985 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन महिला और बाल विकास विभाग गठित किया गया है। 2006 से इसे स्वतंत्र मंत्रालय का दर्जा दे दिया गया है।

महिला और बाल विकास मंत्रालय महिलाओं के विकास की देखरेख करने वाली प्रमुख एजेंसी के रूप में योजनाएं, नीतियां और कार्यक्रम तैयार करता है, महिलाओं के बारे में कानून बनाता है और

उनमें संशाधन करता है और महिलाओं को विकास के क्षेत्र में काम करने वाले सरकारी और गैर-सरकारी दोनों तरह के संगठनों के प्रयासों का दिशा-निर्देशन और समन्वय करता है।

इसके अलावा विभाग महिलाओं के लिए कुछ अभिनव कार्यक्रमों को भी लागू करता है। ये कार्यक्रम प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण, रोजगार और आमदनी बढ़ाने, कल्याण और सहायक सेवाओं तथा जागरूकता पैदा करने और महिलाओं में चेतना जगाने के क्षेत्र में होते हैं। इन सब कार्यक्रमों का अंतिम उद्देश्य महिलाओं को आत्मनिर्भर और सक्षम बनाना है। इन योजनाओं के फलस्वरूप भी महिलाओं में जागृति आयी है। महिलाएं आज घर से बाहर निकली हैं। उनमें राजनीतिक चेतना आयी है और वे राजनीति में भी अपना परचम लहरा रही हैं।

संदर्भ-सूची

1. भारतीय महिलाएं दशा एवं दिशा : सुभाष शर्मा।
2. महिला श्रमिक : सरोज राय।
3. कर्मशील महिलाएं एवं भारतीय समाज : डॉ॰ सुभाषचन्द्र गुप्ता।
4. कुरुक्षेत्र (पत्रिका ग्रामीण विकास मंत्रालय)।
5. राज्य निर्वाचन आयोग के वेबसाइट।

◆

दर्शनशास्त्र

अरविंद के दर्शन में अतिमानस की अवधारणा

अजय कुमार सिंह

शोध छात्र, एस०के०एम० विश्वविद्यालय, दुमका

समकालीन भारतीय दर्शन के पुनरूत्थान का कोटा जिन दर्शनिकों को है उनमें से अरविंद का नाम कई कारणों से विशेष महत्व रखता है। उन्होंने वेदान्त दर्शन को स्वीकार किया ही है पर व्यवहारिक स्तर पर भी उन्होंने व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय चेतना को उसके अनुरूप सक्रिय करने की चेष्टा की है। श्री अरविंद इस प्रकार के सात स्तरों की बात करते है। वे है शुद्ध सप्त, चित्शक्ति, आनंद, अति-मानस, गन प्राण तथा जड़त्व यदि सत को एक पूर्ण ईकाई की उपमा में समझने की चेष्टा हो, तो इन आठों स्तरों में प्रथम-चार उच्चत्तर गोलार्द्ध के अंतर्गत आयेंगे और अंतिम चार निम्नतर गोलार्द्ध के अन्तर्गत आयेंगे। निम्नतर स्तर में वे ही चार स्तर आते है जो विकास प्रक्रिया के क्रम में व्यक्त हो चुके है। उच्चतर गोलार्द्ध में उन्हीं स्तरों का उल्लेख है जिसमें विकास प्रक्रिया को अभी प्रवेश करना बाकी है। मन या सुक्ष्म शरीर आंनद का ही रूप है। प्राण शक्ति में सत् का शक्ति रूप उसकी चित् शक्ति ही निम्नतर स्तर में व्यक्त है, तथा जड़ तत्व भी अस्तित्व का सृष्टि में व्यक्ति रूप है। इन दोनों गोलार्द्ध के बीच की गांठ का बिन्दु वही है जहाँ मानस तथा अतिमानस के बीच रेखा खीचीं हुई है। श्री अरविंद कहते है कि इस विन्दु पर अभी एक पर्दा पड़ा हुआ है। उसी के कारण मानस को उस उच्चतर सत् की झांकी नहीं मिल पाती।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है परम सत् जिसे निम्नतर गोलार्द्ध भी अपने ढंग से प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा करता है। वस्तुत: एक त्रयात्मक सत् है, सच्चिदानन्द रूपों का विचार होता है। अतिमानस इन तीनों से सर्वथा पृथक स्तर नहीं है। क्योंकि उसे तो सत् चेतना कहा गया है, वह सच्चिदानन्द की सतत् चेतना है। इसी कारण श्री अरविंद सत् का विवरण सच्चिदानन्द ही कर पाते है। यह इसी त्रयात्मक भाव का एक नाम है।

श्री अरविंद के दर्शन में सत् के क्षेत्र को दो गोलार्द्ध में बांटा गया है उच्चतर तथा निम्नतर । सच्चिदानन्द रूपी विविध सत् उच्चतर गोलार्द्ध के है तथा जड़ तत्व प्राणतत्व मन तथा मानस निम्नतर गोलार्द्ध की सन्ताएँ है। इसमें एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जो प्रक्रिया निम्नतर गोलार्द्ध की प्रक्रिया है वह एकाएक गोलार्द्ध में कैसे प्रवेश कर सकती इन दोनों क्षेत्रों के मध्य में एक ऐसा माध्यम हो जो इन दोनों क्षेत्रों को सम्बन्धित कर पाये।

श्री अरविंद के अनुसार इसी प्रकार का माध्यम अतिमानस है। अतिमानस भी श्रेष्ठतर गोलार्द्ध का ही सत् है उसके साथ यह वह चरम लक्ष्य भी है जिसे प्राप्त करने में ही मानस की परिणति है। श्री अरविंद क्यों अतिमानस को चरम सत्य चेतना कहते है। ब्रह्मांड चित् शक्ति सत्य चेतना कहते है।

ब्रह्मांड भी चेतना का ही रूप है, और यही चेतना अनेक रूपों में व्यक्त होते हुए भी मूलत: एक रूप ही है। इसी कारण सृष्टि में अनेकता का भेद स्पष्ट होता रहता है, किन्तु इससे वह मूल सत्य खण्डित नहीं होता कि सत् मूलत: एक रूप है। इसी रूप में सर्वांगी चेतना होने के कारण अनेकता तथा एकात्म दोनों की चेतना होने के कारण यह चेतना 'चरम सत्य चेतना' है। इसे श्री अरविंद 'चरम सत्य चेतना' इस कारण भी कहते है।

अतिमानस को श्रेष्ठा या सर्जनात्मक भाव' तथा कभी कभी सत्‌भाव कहा गया है। श्री अरविंद समझते है कि सर्जनात्मक आधार चरम सत् से भिन्न नहीं हो सकता यदि सृष्टि का आधार ढूँढ़ना है, तो उसे सत् में ही ढूँढ़ना है, उससे पृथक नहीं। इसी माँग के अनुरूप की अरविंद 'अतिमानस' की अवधारणा को स्थापित करते है। सच्चिदानन्द शुद्ध सत् चित् एवं आनंद का रूप है, वह स्थान तथा काल के परे है। यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि प्रक्रिया तब आरम्भ होती है जब सत् में निहित तीनों रूपों के एकात्म का अतिमानस विभेदन प्रस्तुत करता है। अतिमानस मानस का चरम लक्ष्य है उसकी अंतिम परिणति उसके पश्चात् वे यह दिखाते है कि एक अर्थ में मानस भी अतिमानस में सर्वथा विपरित नहीं बल्कि उसमें निहित शक्तियों अतिमानस की शक्तियों के ही निम्नतर रूप है। तथा अपने इस चरम लक्ष्य की ओर उठने के लिए सतत तत्पर है।

श्री अरविंद के अनुसार मानस तथा अतिमानस का भेद 'सत्' के ग्रहण करने के ढंगों का भेद है। अतिमानस अनिवार्यत: सत् को पूर्ण अद्वेत एवं एकात्मरूप में ग्रहण करती है। किन्तु मानस अपने स्वरूपत: पूर्णता को खण्डित कर देती है। उसे उसके अंशों में विभाजित कर देता है। किन्तु मानस तथा अतिमानस को इस भेद में ही इस बात का संकेत मिलता है कि मानस में उपर उठने की तत्परता है। इससे प्राप्त ज्ञान आंशिक तथा धरातली है, किन्तु उनमें भी 'एकत्व' प्राप्त करने की उत्सुकता है, ईकाईयां स्थापित करने की प्रवृति है। मानस में भी अपूर्णरूप में अतिमानस की शक्ति कार्यरत है।

श्री अरविंद ने 'अतिमानस' की विशद चर्चा की है, क्योंकि सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों ही दृष्टियों से इस परिपूर्ण चेतना का विशेष महत्व है। मध्यस्थ कड़ी होने के बाबजूद सच्चिदानन्द के जिस रूप को यह चेतना प्रस्तुत करती है वह हमारे बोध-एवं संकल्प के लिए अभिगम्य है, इससे ये दोनों अनुचणित है, इसी की अभिव्यंजना के लिए सतत् प्रयत्नशील है और यही उनका अंतिम पड़ाव भी है। इस विशुद्ध परमसत् का सर्जना वृति से युक्तरूप 'अतिमानस' है। वह एक तथा अनेक के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी है, और हमारे व्यक्तिगत एवं सामुहिक विकास की दृष्टि से एक ऐसी ऊँचाई प्रस्तुत करता है जिसे प्राप्त करना हमारे लिए संभव है और वही अन्तत: हमारे जीवन का परमलक्ष्य है।

अतिमानस की त्रिपादीय अभिव्यंजना की चर्चा करते हुए श्री अरविंद कहते है कि वैविध्य में वितरित होने के बाबजूद तीनों में से किसी भी अभिव्यक्ति में एकता के बोध का विलय नहीं होता। प्रथम में विश्व एक संभावना के रूप में अस्तित्ववान रहता है। द्वितीय में एकता इस प्रकार परिवर्तित हो चुकती है कि वह वैविध्य के अग्रसर को पुष्ट करने वाली हो जाती है। यानि वैविध्य में वितरित होते हुए भी एकत्व अपने पृथक अस्तित्व के बोध का समर्पण नहीं करता पर तृतीय में एकत्व सम्पूर्ण रूप अनेकत्व में वैविध्य में अपने को वितरित कर देता है। इस वितरण की भी अपनी विशेषता है क्योंकि अभी अपने सार में सर्वत्र मौजुद है केवल बाह्य रूप में विभिन्न है। किसी वास्तविक विभेद का अभी अविर्भाव नहीं हुआ है केवल आनंद के लिए, लीला के लिए, दिव्य ने व्यवहारिक स्तर पर विभेद को स्वीकार लिया है।

कृष्ण गोपियों की रासलीला में इसी तथ्य की बड़ी भावपूर्ण व्यंजना मिलती है। व्यक्तिगत चेतना परम से अपनी एकता का एहसास रखते हुए व्यवहारिक स्तर पर अपने पर्थक्य को बनाये रखती है।

ये तीनों अभिव्यंजनाएं एक ही सत् की त्रिपादीय अभिव्यंजनाएं है, और इस स्तर पर भ्रम के अविर्भाव की कोई गुंजाइस नहीं है। इसके पश्चात् अतिमान सिकीय चेतना अपनी द्वितीय सर्जना-शक्ति से जिस प्रकार के वैविध्य का आविर्भाव करती है उसमें पार्थक्य का बोध मूल हो जाता है और एकत्व बोधक्षीण ही नहीं बल्कि लुप्तप्राय हो जाता है। इसी द्वितीय सर्जनाशक्ति को अरविंद ने निम्नमाया कहा है, और इसी माया का अतिक्रमण करके तथा प्रथम में अवस्थित होकर जीव को अपने सहज रूप को प्राप्त करना है। यह एकात्म की ओर उन्मुखता अध्यात्मिकता की पहचान है। किसी न किसी रूप में मानस में भी अतिमानसिक शक्ति विद्यमान है भले ही वह सर्वथा आंशिक या अपूर्णरूप में विद्यमान हो।

श्री अरविंद कहते है कि मानस जो उच्चतर प्रेरणाओं की ओर उठ पाता है या आध्यात्मिक क्रियाओं की ओर अग्रसर हो पाता है। वह मात्र इसी कारण है कि अतिमानस इसमें अवतरित है। अतिमानस का यह अवतरण तो सृष्टिके लिए अनिवार्य है क्योंकि यह आत्म का निम्नतर गोलार्द्ध में अवतरण है। इस अवतरण के बिना उत्थान या विकास की भी प्रक्रिया नहीं चल सकती। यदि अतिमानस किसी न किसी रूप में किसी आवरण में मानस अवतरित न हो तो मानस में अतिमानस की और उठने की प्रवृति ही नहीं जाग सकती।

◆

दर्शनशास्त्र

मानव के अस्तित्व एवं महात्मा गाँधी के ईश्वरीय विचार

रामाशीष मालाकार

शोध छात्र, एस०के०एम० विश्वविद्यालय, दुमका

महात्मा गाँधी मानव धार्मिक अनुभूति के एक ऐसे पैगम्बर थे जिन्होंने ईश्वर और आत्मा में अंतर नहीं किया बल्कि दोनों को एक-दूसरे के पूरक मानते थे। महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व धार्मिक परिवेश में विकसित हुआ, किन्तु धर्म से तात्पर्य उन्होंने बाह्य आडम्बर, रीति-रिवाजों से नहीं समझा। इसलिए उनके धर्म को नैतिक धर्म कहा गया। महात्मा गाँधी का जीवन बचपन से ही अध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। महात्मा गाँधी यह मानते हैं कि सभी धर्म मानव के विकास के लिए प्रयत्नशील है। गाँधीजी को ईश्वर के प्रति आस्था उनकी वैष्णव परिवार की सांस्कृतिक विरासत में मिली थी। बाल्यावस्था में ही उन्हें राम नाम की शिक्षा मिली थी। जीवन के अंतिम सोपान में भी गाँधीजी अपनी दैनिक प्रार्थना सभाओं में "रघुपति राघव राजा राम-ईश्वर अल्लाह तेरे नाम" का प्रिय भजन गाते थे। और जिस क्षण उन्हें गोली लगी थी, उनके मुँह से नि:सृत होने वाला आखिरी शब्द है- "हे राम"।

नरसिंह मेहता रचित 'वैष्णव जन तो तेरे कहिये' उनका सर्वप्रिय भजन था। गाँधीजी का कहना था, "मैं यह दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि बिना जल और बिना वायु के जीवित रह सकता हूँ परन्तु ईश्वर के बिना नहीं। तुम मेरी आँखे निकाल सकते हो, मैं नहीं मरूँगा परन्तु ईश्वर से मेरा विश्वास हटा दो तो मैं जीवित नहीं रहूँगा।" वे ईश्वर को ऐसी वर्णनातीत वस्तु मानते थे जिसे हम केवल महसूस कर सकते हैं, जान नहीं सकते। गाँधीजी के लिए "ईश्वर सत्य एवं प्रेम हैं।" गाँधीजी भाग्यवादिता के विरोधी थे और मनुष्य को अपने भाग्य का स्व्यं नियंता मानते थे, किन्तु मानव युक्ति एवं पूर्णत्व के लिए ईश्वर की शरणागति वे अनिवार्य समझते हैं। "पूर्णता या मोक्ष केवल ईश्वर की कृपा से ही संभव है। उनकी कृपा के समक्ष अपने सम्पूर्ण रूप से समर्पित किये बिना संयम एवं नियम भी संभव नहीं है।"

गाँधीजी ने दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग किसी गूढ़ अर्थ में नहीं किया है। वे शंकराचार्य की तरह अद्वैतवादी नहीं थे। और न ही उन्हें तत्त्व मीमांसा का द्वैतवाद और न तो स्यादवाद का तर्कशास्त्र ही स्वीकार्य था। शंकर की तरह वे भी संसार को मिथ्या अवश्य कहते थे। "इस परिवर्तनशील संसार में आनन्द या सच्चा सुख सचमुच एक सपना है। किन्तु हम अपने भाई-बन्धुओं के दु:ख को मिथ्या कहकर नैतिक दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते। स्वप्न की स्थिति में स्वप्न भी सत्य होता है। और दु:खी व्यक्ति का दु:ख भी एक कठोर सत्य है।" उन्होंने कभी-कभी सगुण और साकार ईश्वर का खंडन किया है। ईश्वर सगुण और सरकार नहीं है। मनुष्य रूप में पृथ्वी पर ईश्वर के समय-समय पर अवतार का अर्थ केवल यही हो सकता है कि ऐसा अवतारी पुरुष ईश्वर के समीप रहता है।[1]

ईश्वर की सर्वव्यापक सत्ता में गाँधीजी का पूर्ण विश्वास था। ईश्वर सम्बन्धी अपनी धारणा का उद्‌गार करते हुए उन्होंने लिखा कि मैं ईश्वर को सृजनशील मानता हूँ और नहीं भी मानता। जैन दृष्टि से विचार करने पर मैं ईश्वर की सृजनशीलता का प्रश्न ही नहीं उठने दूँगा। किन्तु रामानुज के दृष्टिकोण से उसे मैं स्वीकार करता हूँ। असफल बात तो यह है कि हम अज्ञात और अज्ञेय ब्रह्म को जानना चाहते हैं और इसलिए हमारी बाजी असमर्थ हो जाती है और उत्तर आत्मविरोधी पूर्ण जैसी लगती है। इसलिए वेदों में ब्रह्म को नेति-नेति कहा गया। वह एक है फिर भी अनेक है, वह अणु से भी सूक्ष्म है, किन्तु आकाश से भी महान है।[2]

भगवान के विराट् स्वरूप की कल्पना गाँधी जी को अभिभूत कर देती थी। "ईश्वर वह अवर्णनीय सत्ता है, जिसका हम सभी अनुभव तो करते हैं किन्तु उसको जान नहीं सकते ...... मेरे लिए तो ईश्वर सत्य और प्रेम, नीति धर्म और अनिर्वचनीय है। ईश्वर प्रकाश और सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियों का आधार है और फिर भी वह सबके परे है। ईश्वर अन्तरात्मा भी है। वह निरीश्वरवादियों के लिए उसका निरीश्वरवादी है। वह वाणी और तर्क से परे है। वह उसके लिए सगुण और साकार है। जो उसका साक्षात संस्पर्श चाहते हैं किन्तु वह नि:विशेष एवं शुद्ध सार तत्त्व भी है। वह धीर भी है, किन्तु चंचल और गतिमान भी है। संसार में वह सर्वाधिक उदार एवं जनतांत्रिक विचार का भी है क्योंकि शुभ और अशुभ के बीच हमें वह अपना पथ चुन लेने में स्वतंत्र रखता है। किन्तु वह सबसे बड़ा निरंकुश और स्वेच्छाचारी भी है। क्योंकि कभी वह हमारे सम्पूर्ण पुरुषार्थ पर पानी फेर देता है और स्वतन्त्रेच्छा से आनन्द के लिए लीला करता है। और हम त्राहि-त्राहि करते हैं। इसलिए हिन्दू धर्म में इस सृष्टि को ईश्वर की माया या लीला कहा गया है।"[3]

अपनी पारिवारिक परम्परा और अपनी चित्त प्रकृति के कारण गाँधी का हृदय ईश्वर के ऐश्वर्य एवं उनके सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् रूप में अत्यन्त अभिभूत था। उन्होंने सर्वशक्तिमान तथा दयावान ईश्वर में विश्वास के साथ अशुभ की कल्पना का सामंजस्य कर परम्परा का पालन किया। उनका मानना है कि ईश्वर एक सच्चे एवं कठोर शिक्षक की भाँति सम्पूर्ण कोमलताओं का त्याग कर हमें अपने कर्म का फल या दण्ड भोगने को इसलिए बाध्य करता है कि हम स्वयं परिष्कार कर सकें। गाँधी को ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास था और वे कभी यह विश्वास नहीं कर सकते थे कि जो जगत में अशुभ है वे ईश्वर की किसी दुष्ट प्रेरणा के प्रतिफल हैं।

ईश्वर सत्य है और सत्य ईश्वर है– यह गाँधीजी का आत्मपरक शोध है। उन्होंने लिखा है– "जो ईश्वर को प्रेम के रूप में मानते हैं; उनके साथ मैं भी ईश्वर को प्रेम मानूँगा । किन्तु मेरे अन्त:स्तल में यह बात बैठ गयी है कि ईश्वर चाहे जो कुछ भी हो, ईश्वर सत्य है।" किन्तु दो वर्षों बाद, एक कदम और भी आगे चलकर मैंने कहा कि "सत्य ही ईश्वर है" सत्य प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन प्रेम ही है। किन्तु मैंने यह भी पाया कि अंग्रेजी भाषा में प्रेम के अनेक अर्थ हैं। वासना के अर्थ में पार्थिव प्रेम हमारे पतन का भी पोषक है।

अहिंसा के अर्थ में प्रेम को मानने वाले बहुत ही कम लोग होते हैं। किन्तु सत्य हमेशा एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ तक कि निरीश्वरवादियों को भी सत्य की शक्ति में विश्वास है। सत्यान्वेषण के भावावेश में निरीश्वरवादियों ने सत्य के लिए ईश्वर के अस्तित्व को भी अस्वीकार कर दिया था । यही कारण था कि मैंने "ईश्वर सत्य है" की अपेक्षा "सत्य ही ईश्वर है" कहना अधिक उचित समझा।[4]

ईश्वर के अस्तित्व की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में गाँधीजी का कहना था कि "यदि हमारा अस्तित्व है और हमारे पिता का और उनके पिता, पितामह आदि का अस्तित्व है तो फिर हमें सम्पूर्ण जगत्पिता के अस्तित्व को भी स्वीकार करना होगा।" आगे उन्होंने लिखा है, कि एक अवर्णनीय रहस्यमय शक्ति सब जगह व्याप्त है। मैं उनको देखता नहीं हूँ किन्तु उनका अनुभव करता हूँ। "वह अदृष्ट शक्ति है, जिसकी सत्ता का हम सभी अनुभव करते हैं, फिर भी वह सभी प्रमाणों से परे हैं क्योंकि यह उन सबों से भिन्न है जिनका हम इन्द्रियों से प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। वह इन्द्रियातीत है।"

ईश्वर के संदर्भ में गाँधीजी ने वैज्ञानिक पद्धति पर व्यावहारिक प्रमाण देते हुए कहा है– "जो केवल बुद्धि से तुष्ट करे वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर तो हृदय का सम्राट् है और उसको यह प्रमाणित करता है। सृष्टि की हर महानता में हमें उनके दर्शन होते हैं।" जो व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण चाहेगा तो वह ईश्वर के प्रति विश्वास में मिलेगा। चूँकि विश्वास का कोई बाहरी प्रमाण नहीं हो सकता है। अत: सबसे सुन्दर बात तो यही है कि इस विश्व की नैतिक व्यवस्था में विश्वास रखते हुए सत्य और प्रेम आदि नैतिक नियमों की श्रेष्ठता को स्वीकार करें।[5]

गाँधीजी कहते थे, "सत्य ही ईश्वर है" ऐसा उन्होंने इसलिए कहा कि सत्य वही है जिसकी सत्ता होती है। ईश्वर की तीन सत्ता तीनों काल में व्याप्त हैं, अत: वह सत्य है । गाँधीजी ने अपना पूरा जीवन सत्य-शोध में उत्सर्ग कर दिया। उन्होंने अपनी आत्म-कथा का नाम भी स्यात् इसलिए रखा "My experiments with truth". सामान्यत: सत्य से तात्पर्य लिया जाता है– सत् बोलना किन्तु गाँधीजी ने इसका व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है और कहा है कि विचार, वाणी और आचार में सत्य होना आवश्यक है। गाँधीजी निरपेक्ष सत्य को जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं।

गाँधीजी का सत्य व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनका परिवेश सम्पूर्ण समाज है। गाँधीजी की इच्छा थी कि सम्पूर्ण सत्य का अनुपालन धर्म, राजनीति, अर्थनीति, परिवार नीति सब में होनी चाहिए। उनके विचार में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् में भेद नहीं है। ईश्वर को वे इन तीनों को त्रयी मानते हैं। अर्थात् गाँधीजी ने कला के लिए कला सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। वे ऐसी परिपूर्ण कला की बात करते थे– उस सच्ची कला से, जिससे सुख, संतोष और कलाकार के जीवन की सात्विकता प्रकट होती है।

गाँधीजी ने अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में इन सत्य के साथ निरन्तर प्रयोग किया है। "यंग इंडिया" 1926 में उन्होंने लिखा था, "स्वभाव से ही सत्य स्वयं प्रकाश है। जैसे अविद्या रूपी आवरण छट जायेगा, वैसे ही सत्यरूपी सूर्य पुन: प्रकाशित हो जायेगा।" सत्यान्वेषण के लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है। गाँधीजी प्राचीन हिन्दू नीति शासन के आधार पर कहते थे कि व्यक्ति जबतक काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, माया– इन षड्रिपुओं के प्रभाव में रहेगा, वह सत्य का दर्शन नहीं कर सकता। जो स्वयं नैतिक रूप से शक्तिमान हो, वही सत्य को जान सकता है।

गाँधीजी सत्य के सनातन व्याख्या से सहमत थे। उनके अनुसार वही बोलना चाहिए जो शुभ और सुन्दर हो। गाँधीजी की आत्मा मूल-साध्य और साधन की एकता और पवित्रता है। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दोनों के बीच अन्योन्याश्रित संबंध की महत्ता को वे स्वीकार करते थे। वे मंजिल और प्रयत्न को अलग नहीं मानते थे। यह भावना किसी भी राष्ट्र और समाज की सर्वांगीण विकास की नींव रखती है।

गाँधीजी मानते थे कि ईश्वर का साक्षात् रूप मनुष्य है। अत: मनुष्य की सेवा मानव मात्र के लिए प्रेम, दलितों का उत्थान, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति ही, सच्ची ईश्वर भक्ति है। इसी आधार पर वह कहते थे कि बुराई से घृणा करो, बुरे व्यक्ति से नहीं। वे मानते थे कि शैतान से शैतान व्यक्ति में भी देवत्व का निवास होता है। इसलिए उसके अन्दर के देवत्व को जगाओ, उसे उत्प्रेरित करो। 'कोई एक गाल में मारे तो दूसरा गाल बढ़ा दो' के पीछे गाँधीजी की यह भावना थी। इसी संदर्भ में 'बुरा न देखो', 'बुरा न सुनो', 'बुरा न बोलो'—को भी समझा जा सकता है। उन्होंने एक धर्म, एक जाति तथा मानवों के लिए एक ईश्वर का आह्वान किया।

सन्दर्भ-सूची

1. हिन्दू धर्म, पृ० 131
2. यंग इंडिया, 21 जनवरी, 1926
3. यंग इंडिया, 5 मार्च, 1925
4. यंग इंडिया, 31 दिसम्बर, 1931
5. यंग इंडिया, 19 अक्टूबर, 1928

◆

अर्थशास्त्र

जीडीपी और विकास की सही तस्वीर

डॉ० अरूण कुमार सुमन

लाइब्रेरियन, राजकीय उच्च विद्यालय, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर

अर्थव्यवस्था की सही तस्वीर नहीं दर्शाते हैं जीडीपी के आंकड़े

जीडीपी वृद्धि दर के आंकड़ों से बहुत अधिक उत्साहित नहीं होते हुए राष्ट्रपति एपीजे अब्दुल कलाम ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि देश के वास्तविक आर्थिक विकास का पता लगाने के लिए शहरी और ग्रामीण लोगों के जीवन स्तर में होने वाले सुधार का आकलन करना चाहिए। राष्ट्रपति ने कहा कि 'सिर्फ जीडीपी की माप की आर्थिक विकास का संकेतक नहीं मानना चाहिए और मैंने अर्थव्यवस्था की वास्तविक मजबूती का पता लगाने के लिए नेशनल प्रॉस्पेरिटी (एनपीआई) को सुझाव दिया है।' उन्होंने एक सवाल के जवाब में कहा कि एनपीआई में जीडीपी गरीबी रेखा से नीचे बसर करने वालें लोगों की संख्या में कमी और सामाजकि मूल्यों का समावेश होगा।

पीयूआरए पर भरोसा: यह पूछने पर कि क्या आर्थिक विकास का लाभ समाज के सबसे कमजोर तबके को मिल रहा है, उन्होनें कहा कि उनकी प्रिय परियोजना पीयूआरए (ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी सुविधाओं का प्रसार) के क्रियान्वयन के जरिए जीडीपी वृद्धि के फायदों को जनता तक पहुंचाया जा सकता है। कलाम ने कहा कि वह अपने राष्ट्रपति भवन छोड़ने के बाद भी पीयूआरए परियोजना पर काम करते रहेंगे। उन्होंने कहा की 'शहरी लोगों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली सुविधाओं का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं किया जा सकता है। उन्होंने मिडिया से कृषि क्षेत्रों में रहने वाले 60 करोड़ भारतीय अपनी आजीविका के लिए कृषि क्षेत्र पर निर्भर है।

दस प्रतिशत विकास दर संभव: भारतीय अर्थव्यवस्था ने वर्ष 2006-07 के दौरान 9.4 प्रतिशत की विकास दर हासिल की है, जबकि 2005-06 के दौरान विकास दर नौ प्रतिशत रही थी। वित्त मंत्री कुछ दिनों पहले कह चुके हैं कि चालू वर्ष के दौरान जीडीपी की विकास दर बढ़कर 10 प्रतिशत हो सकती है। सरकार द्वारा जारी आंकड़ों के मुताबिक 2006-07 के दौरान जीडीपी वृद्धि दर पिछले 18 वर्षों के दौरान सबसे अधिक रही है। इससे पहले भारत ने 1988-89 में 10.5 प्रतिशत की विकास दर हासिल की थी। भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) बीते वित वर्ष के दौरान बढ़कर 28, 48, 157 करोड़ रुपये हो गया है। लेकिन खुशहाली की इस तस्वीर में चुनौतियां भी छिपी हुई है।

कृषि की दशा सुधारने की चुनौती: बीते वर्ष के दौरान विकास दर भले ही 9.4 प्रतिशत रही हो लेकिन कृषि क्षेत्र 2.7 प्रतिशत पर अटका हुआ है, जिसका सीधा अर्थ है कि आर्थिक विकास के इस जलसे में देश के दो तिहाई लोगों की कोई हिस्सेदारी नहीं है। सरकार को खेती की दशा

सुधारने के लिए भी खासी माथापच्ची करनी होगी। गौरतलब है कि इस दौरान अर्थव्यवस्था के आठ क्षेत्रों में सिर्फ दो क्षेत्रों की विकास दर में कमी हुई है। जिसमें कृषि भी शामिल है हालांकि वर्ष 2005-06 के दौरान कृषि क्षेत्र का निष्पादन पूर्वानुमानों के मुकाबले बेहतर रहा था। संशोधित कृषि क्षेत्र की वृद्धि दर छह प्रतिशत रहने का अनुमान व्यक्त किया गया है जो पूर्वानुमानों के मुताबिक 3.9 प्रतिशत था।

हर संभव कदम उठाएगी सरकारः आर्थिक विकास के आंकड़ों की घोषणा करते हुए वित्त मंत्री ने कहा था कि समाज के प्रत्येक तबके तक आर्थिक विकास का लाभ पहुंचाने के लिए सरकार हर संभव कदम उठाएगी। उन्होंने कहा कि मैं मानता हूं कि इस बारे में काफी कुछ करने की जरूरत है और हम ऐसा करेंगे। लगातार उच्च विकास दर के जरिए हम गरीबी दूर कर सकेंगे, लोगों को अच्छी नौकरी मिलेगी और मानव विकास सूचकांकों में सुधार होगा। उन्होंने कहा कि 2006-07 के दौरान वित्तीय घाटा कम होकर 3.5 प्रतिशत रह गया है जो सरकार द्वारा तय लक्ष्य के मुकाबले काफी कम हैं इस दौरान राजस्व घाटा दो प्रतिशत रहा है।

विकास दर का विकल्प

आजकल जीडीपी की ऐतिहासिक बढ़त चारों तरफ चर्चा का विषय बनी हुई है। लोग इसे खुशहाली का आइना भी बता रहे हैं, परंतु वास्तविक स्थिति कुछ और ही है। हमारी जनसंख्या का एक बड़ा भाग गरीबी, कुपोषण एवं भुखमरी से जकड़ा हुआ है। पिछले कुछ महीनों की बात करें तो बढ़ती जीडीपी की दर को बढ़ती मुद्रास्फीति ने फीका कर दिया। आज इस बात पर काफी सहमति है कि जीडीपी की वृद्धि दर और आम आदमी की खुशहाली में कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, फिर भी मुख्यधारा से जुड़े अर्थशास्त्री जीडीपी को ही विकास का आधार मानते हैं। ब्रिटिश कंजरवेटिव लीडर डेविड कैमेरान के अनुसार आम आदमी की खुशहाली जीडीपी से अधिक महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रपति कलाम ने भी राष्ट्रीय समृद्धिशीलता सूचकांक (नेशनल प्रॉसपेरिटी इंडेक्स) का सुझाव दिया है, जिसमें उन्होंने जीडीपी के साथ-साथ सांस्कृतिक विरासत और प्राचीन सभ्यता पर आधारित एक न्यूनतम गुणात्मक जीवन स्तर की बात कही है।

देश-विदेश के अर्थशास्त्री काफी वर्षों से इस बात पर संदेह प्रकट कर रहे हैं कि जीडीपी विकास दर की विश्वसनीय सूचक रही है। ऐसो पिगाऊ जैसे अर्थशास्त्रियों ने बहुत पहले यह बात कही थी कि जीडीपी बढ़ने से जीवन की गुणवत्ता में सुधार होने की गारंटी नहीं दी जा सकती। इसका कारण है कि जीडीपी बढ़ने मात्र से मानव कल्याण, जनता का सुख और समृद्धि सुनिश्चित नहीं होता। 90 के दशक के मध्य 400 महान अर्थशास्त्रियों, व्यवसायिकों, नोबल पुरस्कार विजेताओं ने मिलकर एक संयुक्त बयान जारी किया था कि जीडीपी को विकास दर का मापदंड न माना जाये। इसके पीछे तर्क यह था कि जीडीपी बाजार के क्रिया-कलापों की मात्रात्मक तस्वीर ही पेश करती है और इसमें सामाजिक और पर्यावरण संबंधी लागत का पूरा अभाव होता है। अर्थशास्त्री हरफोर्ड के अनुसार जीडीपी में उन बातों को भी शामिल किया जाता है जो व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक है। उदाहरण के लिए हथियारों की बिक्री, घटिया भवन निर्माण और बाद में महंगे मरम्मत कार्य आदि, जबकि बच्चों की देखभाल, प्राकृतिक स्थलों का भ्रमण जैसी महत्त्वपूर्ण बातों का जिक्र नहीं होता।

हरफोर्ड याद दिलाते है कि जीवन का अर्थ केवल बैंक बैलेंस बढ़ाने तक ही सीमित नहीं है। इन सबके मद्देनजर ऐसे विकल्पों की तलाश रही है जो विकास की सही और उपयुक्त तस्वीर पेश कर सके। विकास दर का एक ऐसा ही मापदंड 'विशुद्ध आर्थिक कल्याण' अर्थात् नेट इकोनॉमिक वेलफेयर सुझाया गया। इस विकल्प को संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक शब्दावली में भी स्थान मिला। इस मापदंड की विशेषता यह रही कि इसमें राष्ट्रीय उत्पाद और उपभोग का वही अंश शामिल करने का सुझाव दिया गया जो प्रत्यक्ष रूप से लोगों की आर्थिक खुशहाली से जुड़ा हो। कैलिफार्निया के अर्थशास्त्रियों ने 1995 में विकास दर के लिए एक नया मापदंड सुझाया, जिसे शुद्ध प्रगति सूचकांक (जेनुइन प्रोग्रेस इंडिकेटर) कहा गया। इसमें 26 तरह की सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरण संबंधी मदों को शामिल किया गया।

जीपीआई और जीडीपी में अंतर यही है कि जीडीपी में लोगों के कुशल क्षेम होने की स्थिति का पता नहीं चलता, जबकि जीपीआई में पर्यावरण की गुणवत्ता, स्वास्थ्य सुविधाएं, जीविकोपार्जन की सुरक्षा, समान अवसर, शैक्षिक योग्यता, घरेलू और ऐच्छिक रूप से किये गये कार्यों का मूल्य, बीमारी, अपराध एवं प्रदूषण की रोकथाम में किये गये व्यय भी शामिल किये जाते हैं। 70 के दशक में भूटान नरेश ने जीडीपी की जगह सकल राष्ट्रीय खुशहाली (ग्रास नेशनल हैपिनेस) जैसे अभिनव मापदंड लागू करने का फैसला किया था। जीएनएच के चार स्तंभ हैं- न्याय संगत और सतत सामाजिक-आर्थिक विकास, सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण एवं प्रोत्साहन, पर्यावरण की सुरक्षा और कुशल शासन। जीएनएच के लिए सकल राष्ट्रीय चरित्र (ग्रास नेशनल करेक्टर) की भी आवश्यकता है। आज पैसा कमाना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह भी है कि पैसा कमाया कैसे जाता है? यदि लोग तनावग्रस्त हैं तब वे अपने काम-काज को सुचारू रूप से नहीं कर सकते, जिससे संस्था, समाज और परिवार का भला नहीं होता।

आज लोग जीवन की गुणवत्ता कैश बैलेंस बनाने, कार, उपभोक्ता वस्तुओं के खरीदने और भोग विलास की वस्तुओं से मापते हैं। इन सब वस्तुओं से भौतिक संतुष्टि तो होती है, पर आंतरिक संतुष्टि नहीं मिलती। आंतरिक संतुष्टि तो अपने कार्य में संतोष, पारिवारिक जीवन में संतुष्टि तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन की गुणवत्ता, वातावरण, मनोरंजन और सामाजिक व्यवहार से ही मिलती है। जब एक-एक व्यक्ति खुशहाल होता है तो राष्ट्र भी खुशहाल बन जाता है।

विकास की कसौटी

आजकल किसी भी देश के विकास को इससे आंका जाता है कि उसकी आर्थिक वृद्धि दर कितनी है या उसका बाजार कितना बड़ा है। लेकिन यह कसौटी चाहे जितनी प्रचलित हो, इसे लेकर समय-समय पर सवाल उठते रहे हैं। अभी राष्ट्रपति अब्दुल कलाम ने भी कहा है कि केवल जीडीपी को राष्ट्र की तरक्की का सूचकांक नहीं मान लेना चाहिए। पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में एक समारोह को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि हालांकि हमारा जीडीपी सालाना नौ फीसदी की रफ्तार से बढ़ रहा है, मगर यह देश की बड़ी आबादी के जीवन-स्तर को प्रतिबिंबित नहीं करता। यानी आर्थिक वृद्धि दर का ग्राफ ऊपर उठतना इस बात की गारंटी नहीं है कि आम लोगों का जीवन-स्तर भी ऊपर उठा है। इसलिए राष्ट्रपति ने राष्ट्र की खुशहाली का एक नया मानक बनाने

की जरूरत जताई है जिसमें जीडीपी के अलावा आम लोगों, खासकर गरीबी रेखा से नीचे की आबादी के रहन-सहन में सुधार को भी मापदंड बनाया जाये। उनका यह भी सुझाव है कि हमें सार्वजनिक जीवन के हर क्षेत्र में ऐसी मूल्य-व्यवस्था स्वीकार करनी होगी जो हमारी सभ्यतागत विरासत के अनुरूप हो। साफ है कि उन्होंने देश की समग्र समृद्धि को आंकने की जो अवधारणा पेश की है उसके दो आयाम हैं। एक तो यह कि राष्ट्रीय आय में क्या सबकी भागीदारी हो पा रही है। दूसरे, हम सिर्फ भौतिक विकास कर रहे हैं या सभ्यतागत मूल्यों के नजरिए से भी आगे बढ़ रहे हैं।

जीडीपी का मानक कितना अपर्याप्त है यह इसी से जाना जा सकता है कि उंची विकास दर के वर्षों में हर साल देश में हजारों किसानों ने खुदकुशी की है और यह सिलसिला अब भी जारी है। नौ फीसदी विकास दर के बरक्स देश के सैंतालीस फीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। इस तरह के और भी आंकड़े दिये जा सकते हैं। यही नहीं, अब दुनिया भर में यह महसूस किया जाने लगा है कि केवल राष्ट्रीय आय या सकल उत्पादन या अर्थव्यवस्था के आकार को मापदंड बनाना आम लोगों के हित में नहीं है और न ही इससे यह पता चलता है कि कोई समाज अपने को कितना खुशहाल अनुभव करता है। इसलिए जीडीपी की बजाय लोगों के स्वास्थ्य और प्रसन्नता को पैमाना मानने की मुहिम शुरू हुई है।

कुछ साल पहले इसी सिलसिले में भूटान की राजधानी थिंपू में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था जिसमें कई देशों के समाजशास्त्रियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। सवाल है कि सकल उत्पादन या वृद्धि दर का तो आंकड़ा निकाला जा सकता है, पर यह कैसे जानें कि कोई समाज खुद को कितना खुश अनुभव करता है। वैकल्पिक मानदंड स्थापित करने की कोशिश में लगे लोगों के मुताबिक जीवन प्रत्याशा को कसौटी बनाएं तो इससे न सिर्फ किसी समाज की भौतिक संपन्नता का पता चलेगा बल्कि यह भी कि वहां के लोग कितनी सुरक्षा और शांति अनुभव करते हैं। इस लिहाज से जो अध्ययन हुए हैं। उनके मुताबिक वे देश सबसे ज्यादा खुशहाल हैं जिनकी जनसंख्या कम है और जहां भौतिक संपन्नता सबको या ज्यादातर लोगों को हासिल है। कहा जा सकता है कि भारत और चीन जेसे देश, जिनकी आबादी बहुत विशाल है, इस सूची में ऊपर आने की बात सोच नहीं सकते। फिर भी जब हम विकास की बात कर रहे हैं तो हमें जीडीपी के अलावा कुछ और मापदंड स्वीकार करने में हिचक क्यों होनी चाहिए! मसलन, हमें यह देखने की कोशिश तो करनी ही चाहिए कि क्या समूची आबादी को शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया हो पा रही हैं, और बेरोजगारी की दर कितनी है। आपराधिक घटनाओं, असामयिक मौतों और प्रदूषण को भी हम विकास को मापने की वैकल्पिक कसौटी में जोड़ सकते हैं। इसमें दो राय नहीं कि राष्ट्रपति ने जो मुद्दा उठाया है वह हमें नए सिरे से सोचने के लिए प्रेरित करता है।

संदर्भ-सूची

Baran, Paul A.: *The Political Economy of Growth,* New York, Modern Reader Paperbacks, 1975.

Basu, Kaushik. *Analytical Development Economics, The Less Developed Economy Revisited,* Cambridge, Mass.: MIT Press, 1997.

Benería, Lourdes. *Gender, Development, and Globalization, Economics as if All People Mattered,* New York and London, Routledge, 2003.

Cootner, Paul : *The Random Character of Stock Market Prices*, MIT Press, 1964.

Dimson, Elroy: *Stock Market Anomalies*, Cambridge University Press, 1988.

Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.

Weber, M.: *The Theory of Social and Economic Organizations*, New York, Oxford University Press, 1947.

West, Thomas L.: and Jeffrey D. Jones: *Handbook of Business Valuation*, New York: Wiley, 1992.

Woodward, J.: *The Oxford Handbook of Philosophy of Economics*, New York, Oxford University Press, 2009.

Yegge, Wilbur M., *A Basic Guide for Valuing a Company*, New York, Wiley, 1996.

Zipp, Alan S., *Business Valuation Methods* New York, American Institute of Certified Public Accountants, 1990.

❖

वेदांत दर्शन और स्वामी विवेकानन्द

डॉ० गोपाल पाल

अध्यक्ष, बांग्ला विभाग, देवघर कॉलेज, देवघर

विश्व में विवेकानन्द का नाम वेदांत दर्शन के संदर्भ में सदैव याद किया जायेगा। इसलिए ही उन्हें ''भारतीय वेदांत की धरोहर'' कहा जाता है। पश्चिमी देशों में जाकर हिन्दू धर्म के आदर्शों के बारे में लोगों को जानकारी प्रदान कर स्वामीजी ने उनकी भारत के बारे में कई भ्रांतियां दूर की। स्वामीजी का गीता और उपनिषदों पर बहुत अच्छा आधिपत्य था। बौद्ध और जैन साहित्य के वे पंडित थे। ईसाई धर्म ग्रंथों से उनका परिचय स्थापित हो चुका था।

विवेकानन्द वेदांत दर्शन के निष्णात अध्येता थे। वे अद्वैत वेदांत के संदेश वाहक तथा मायावादी थे, किंतु उनकी बुद्धि समन्वयवादी थी। उन्होंने ब्रह्म को सत्य माना था। उनका सच्चिदानन्द ब्रह्म में पूर्ण विश्वास था। उनके अनुसार ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था में पूर्ण सत्य का साक्षात्कार ही ब्रह्म है।

विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन के अंर्तगत उस ईश्वर का प्रतिपादन नहीं किया जो मृत्यु के बाद स्वर्ग में समस्त सुख दे सकता है, किंतु जीवित व्यक्तियों को रोटी उपलब्ध नहीं करा सकता। वे मानव को धर्मसंगत आचरण और विचार करने की प्रेरणा देते थे। मानव के समस्त विकास के लिए उन्होंने वेदांत दर्शन का सहारा लिया। उनके अनुसार वेदांत के सिद्धांत शाश्वत हैं जो अन्य व्यक्तियों और अवतारों के सहारे के बिना, स्वयं अपनी नींव पर खड़े हुए हैं। केवल वेदांत को ही पूर्ण सार्वभौमिक धर्म की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि यह सिद्धांत का प्रतिपादन करता है, व्यक्तियों का नहीं। वेदांत की प्रमाणिकता मानव के चिरन्तन स्वभाव में है।

विवेकानन्द के वेदान्त दर्शन के तीन प्रमुख आधार हैं– प्रथम, मानव की वास्तविक प्रकृति ईश्वरीय है, द्वितीय, जीवन का लक्ष्य उस ईश्वरीय प्रकृति की अनुभूति है, तथा तृतीय, सभी धर्मों का मूल लक्ष्य समान है। वेदान्त कोई संसार त्यागने का उपदेश नहीं अपितु समस्त संसार को ब्रह्ममय का पाठ पढ़ाता है। ि

ववेकानन्द ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों में स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्म की अनुभूति के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग तीनों का ही समन्वय आवश्यक मानते हैं। वे योग को ही धर्म का मूल आधार मानते हैं। उनके अनुसार योग एक सामान्य जन के लिए मानव और मानवता का सम्मिलन है, एक रहस्यवादी के लिए निम्न तथा उच्च सत्ता का मिश्रण है, एक प्रेमी के लिए प्रेम के देवता का मिलन है तथा एक दार्शनिक के लिए समस्त अस्तित्व का बोध है।

विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त पण्डितों के शास्त्रार्थ और सन्यासियों की साधन का विषय नहीं है वरन् यह प्रतिदिन के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की कुंजी है। उनके लिए तो वेदान्त व्यक्ति

के उत्थान और समाज के निर्माण तथा राष्ट्र के समन्वय का शास्त्र है। विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त का आदर्श मानव के सच्चे स्वरूप को जानना है।

विवेकानन्द यह चाहते थे कि वेदान्त के आधार पर भारत को एक बार फिर अतीत का गौरव प्राप्त हो जाय। धर्म के प्रति विवेकानन्द का दृष्टिकोण वैज्ञानिक और बुद्धिवादी है। विज्ञान और धर्म के बीच वे बहुत कम अंतर खोजते थे। दोनों ही एकता के लिए अभियान करते हैं और दोनों ही व्यक्ति और जाति के लिए मुक्ति की खोज करते हैं। एक अर्थ में, समस्त ज्ञान ही धर्म है, और एक अन्य अर्थ में समस्त ज्ञान ही विज्ञान है। धर्म की वैज्ञानिकता का अर्थ यह है कि वे अंधविश्वास को उपयुक्त नहीं मानते थे। विवेकानन्द के अनुसार, ''धर्म आध्यात्मिक जगत के सत्यों से उसी प्रकार संबंधित है जिस प्रकार से रसायनशास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान जगत के सत्यों से हैं। जिस प्रकार से प्राकृतिक विज्ञान भौतिक जगत के नियमों का अनुसंधान करता है उसी प्रकार धर्म नैतिक और तत्वमीमांसीय जगत् के सत्यों से संबंध और मनुष्य के आंतरिक स्वभाव के भव्य नियमों की खोज करता है।

विवेकानन्द हिन्दू धर्म के पक्षपाती इस आधार पर थे कि वह नैतिक मानवतावाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद का सार्वभौमिक प्रतिरूप है। उनके अनुसार हिन्दू का दुरूह पंथों, कर्मकाण्डों एवं अंधविश्वासों, परंपरागत मतवादों और आदिम कर्मकाण्ड का पुंज नहीं है जिन्हें देखने के लिए यूरोपीय आलोचक दुर्भाग्यवश सदैव इच्छुक रहता है। अपितु हिन्दू धर्म एक ऐसा व्यापक सत्य है जो न्याय, सांख्य और वेदांत के द्वारा अपने हृदय में गंभीरता एवं दार्शनिक प्रतिभा को शरण दे सकता है। उनके अनुसार हिन्दू धर्म मानव जाति के उद्धार के लिए नैतिक तथा आध्यात्मिक विधानों और काल निरपेक्ष नियमों की संहिता है। पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, किंतु उन्हें पाखंडी पुरोहितों से बहुत चिढ़ थी जिन्होंने अपने स्वार्थों के कारण हिन्दू धर्म को कलंकित कर रखा था। स्वामीजी ने अपने देशवासियों के जाति आदि के नाम पर बनी पृथकता की दीवारों को गिरा देने का अनुरोध किया।

विवेकानन्द का हिन्दू धर्म विशाल एवं विस्तृत है जिसमें उन्होंने उपनिषदों, गीता, वेदांत और भक्ति आंदोलन के विभिन्न, संतों, सभी की विचारधाराओं को सम्मिलित किया। उन्होंने वेदांत में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतवाद को सम्मिलित किया। उनके अनुसार विभिन्न दर्शन पद्धतियों में कोई विरोध नहीं है। मानव बुद्धि अद्वैतवाद से प्रारंभ होती है, विशष्टाद्वैत तक उठती है तथा अंत में अद्वैतवाद में उसका अवसान होता है। मनुष्य शरीर बुद्धि अथवा मन नहीं है, वह आत्मा है जिसे न अग्नि जला सकती है, न शस्त्र काट सकते हैं और न पानी गीला कर सकता है तथा जिसे वायु सुखा नहीं सकती। यह परमात्मा का ही एक अंश है।

विवेकानन्द धर्म का मूल तत्व प्रेम, सेवा तथा त्याग में देखते हैं। भारत का संदेश वेदांत का संदेश है। यह मानव निर्माण का धर्म है, यह शक्ति का धर्म है। उन्होंने दरिद्र नारायण की सेवा करने और उनका उत्थान करने की बात कही। उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि वे बार-बार जन्म लेकर, कष्ट उठाकर दरिद्रों की सेवा करते रहें। उनके वेदांत धर्म ने उन्हें समस्त मानव जाति की सेवा करने का अवसर दिया।

संदर्भ-सूची

1. स्वामी विवेकानन्द :"इज वेदान्त दी फ्यूचर रिलीजन" अद्वैत आश्रम।
2. मजूमदार डॉ॰ आर॰सी॰ :"दी कल्चरल हेरीटेज ऑफ इण्डिया" भाग 4, रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर कलकत्ता।
3. निशि कुमारी :"समकालीन भारतीय दर्शन में योग और वेदांत, स्वामी अभेदानन्द, महर्षि रमण और स्वामी शिवानन्द की विशेष संदर्भ में समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्यन"।
4. श्रीमद्भागवद्गीता।
5. ऋग्वेद–पुरुष सूक्त।

❖

बिहार में शिक्षा का गुणात्मक विकास
एक अवलोकन

डॉ० संतोष कुमार

एम०ए०, एम०एड०, पीएच०डी०, मगध विश्वविद्यालय, बोध-गया

किसी भी देश का विकास तभी संभव हो पाता है जब उस देश की आधारभूत संरचना मजबूत हो। आधारभूत संरचना को दो भागों में बाँट कर देखा जा सकता है। एक भौतिक आधारभूत संरचना, जिसके अन्तर्गत-पानी, सड़क एवं ऊर्जा को रखा जाता है और दूसरा सामाजिक आधारभूत संरचना, जिसके अंतर्गत शिक्षा एवं स्वास्थ्य को रखा जाता है।

उपर्युक्त सभी तत्वों में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शिक्षा ही राष्ट्रीय विकास का आधार होता है। इसके कारण उत्पादन क्षमता में सुधार के साथ ही आत्मसम्मान यानी मानवीय गरिमा को बढ़ता है तथा मानव को मानव पूंजी में रूपान्तरित करता है। जहाँ तक बिहार की शिक्षा का प्रश्न है तो बिहार की धरती प्राचीन काल से शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यहाँ प्राचीन काल में ही नालन्दा, विक्रमशीला विश्वविद्यालय स्थापित थे।

लेकिन आजादी के बाद बिहार शिक्षा में भारत के सबसे पिछड़े राज्य में शामिल हो गया। किन्तु हाल के वर्षों में शिक्षा में सुधार देखने को मिला है। यानी शिक्षा के क्षेत्र में विकास हुआ है। 2011 की जनगणना में साक्षरता में 63.8% की वृद्धि दर देखी गयी है। जबकि 2001 में बिहार की साक्षरता का प्रतिशत 47.0% थी, वह बढ़कर 63.8% रही जो बिहार में 1961 की दशकीय वृद्धि ही नहीं बल्कि देश के 2001-2011 के बीच के दशकीय वृद्धि से भी अधिक रही, यानी 16.8% की वृद्धि हुई है। इस प्रगति को देखने के बाद प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हाल के दिनों में बिहार में जो शिक्षा का विकास हुआ है, वह गुणात्मक है या मात्रात्मक, यानी दोनों दृष्टिकोण से देखने की जरूरत है। मात्रात्मक विकास का तात्पर्य किसी भी व्यक्ति, विषय-वस्तु की संख्या में कमी या वृद्धि से लगाया जा सकता है।

मात्रात्मक शिक्षा का विकास

इसका शाब्दिक अर्थ हुआ, किसी भी व्यक्ति, विषय-वस्तु की संख्या में वृद्धि करना। जैसे-शिक्षक-छात्र अनुपात में वृद्धि, स्कूलों की संख्या में वृद्धि और साक्षरता दर अनुपात में वृद्धि करना आदि। गुणात्मक शिक्षा का तात्पर्य किसी भी व्यक्ति, विषय-वस्तु के गुण अथवा कौशलता एवं योग्यता में कमी या वृद्धि से लगाया जा सकता है।

शिक्षा का गुणात्मक विकास

इसका शाब्दिक अर्थ हुआ किसी भी व्यक्ति, विषय-वस्तु के गुण से अथवा कौशलता एवं योग्यता में वृद्धि करना। जैसे शिक्षक छात्र अनुपात में स्कूल की आधारभूत संरचना का विकास,

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के शिक्षा का विकास एवं साक्षरता दर में वृद्धि आदि से जाना जा सकता है।

आधारभूत संरचना के अंतर्गत स्कूल भवन, स्कूल भवन में पर्याप्त रौशनी एवं हवा की व्यवस्था, शौचालय की समुचित व्यवस्था, शुद्ध पेय-जल की व्यवस्था, स्कूल में साफ-सफाई की पर्याप्त व्यवस्था, टेबल, बेंच, कुर्सी आदि की समुचित व्यवस्था, शिक्षण सहायक सामग्री (TLM) की पर्याप्त व्यवस्था एवं आधुनिक साधन की व्यवस्था आदि को रखा जा सकता है।

2011 की जनगणना के अनुसार बिहार साक्षरता की दर के मामले में आज भी देश में सबसे पीछे हैं। हालाँकि साक्षरता दर में अभूतपूर्व वृद्धि दर देखा गया है। जहाँ वर्ष 2001 में साक्षरता दर 47.0% था जो बढ़कर वर्ष 2011 में 63.8% हो गयी। यानी गत दशक में साक्षरता दर में 16.8% की वृद्धि हुई जो पूरे भारत में सभी राज्यों में सर्वाधिक रही है। यह सराहनीय मानी जा सकती है जो निम्न तालिका से स्पष्ट है-

तालिका-1

वर्ष	भारत			बिहार			लैंगिक अंतराल	
	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	भारत	बिहार
1961	40.4	15.4	28.3	35.2	8.2	22.0	25.1	27.0
1971	46.0	22.0	34.5	358	10.2	23.2	24.0	25.5
1981	56.4	29.8	43.6	43.8	15.8	32.3	26.6	28.0
1991	64.1	39.3	52.2	52.5	22.9	37.5	24.8	29.6
2001	75.3	53.7	64.8	60.3	33.6	47.0	21.6	26.7
2011	82.1	65.5	74.0	73.4	53.3	63.8	16.6	20.1

उपर्युक्त तालिका-1 से स्पष्ट होता है कि बिहार में शिक्षा का तेजी से विकास हो रहा है।

किसी भी राज्य की शिक्षा की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए शिक्षा के दो पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जो इसी मात्रात्मकता तथा गुणात्मकता को स्पष्ट करता है- आउटपुट और इनपुट। आउटपुट में साक्षरता दर, नामांकण अनुपात, छीजन दर इत्यादि तथा इनपुट में शिक्षा सुविधा की उपलब्धता, शिक्षक छात्र अनुपात इत्यादि को देखा जा सकता है।

बिहार की शिक्षा के विकास पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो प्रतिशत की वृद्धि केवल मात्रात्मक प्रवृत्ति को ही दिखाता है। क्योंकि हाल ही में एक सर्वेक्षण रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें स्पष्ट चर्चा था कि बिहार की छात्राओं में गुणात्मकता का अभाव है। जब कक्षा पांचवी तथा छठी की छात्राओं से जोड़-घटाव, गुणा-भाग पूछा गया तो उसे हल करने में सक्षम नहीं हुए। एक तरफ तो गणित के साथ यह हाल था, दूसरी तरफ छात्रों से सामान्य ज्ञान के तहत पूछा गया कि बिहार के मुख्यमंत्री कौन हैं तो बच्चे नहीं बता सके। ऐसी बातें कहीं न कहीं बिहार के शिक्षा पर प्रश्न चिन्ह अवश्य खड़ा करता है। केवल प्रतिशत में दिखला कर शिक्षा के विकास को नहीं दिखलाया जा सकता है। प्रारंभिक शिक्षा ही किसी देश की शिक्षा का बुनियाद होती है।

फिर देखा जाए तो जो शिक्षक प्रशिक्षित थे वह भी किसी तरह डिग्री पैसा से खरीदा हुआ था। उसे नियुक्ति कर दिया गया, जो अपने आप में अपूर्ण व्यवस्था था। एक सर्वेक्षण में यह बात स्पष्ट हुआ है कि जो शिक्षक जिस विषय पर बहाल हुए थे उसमें ज्ञान का अभाव देखा गया। जिन्हें स्वयं उस विषय का ज्ञान नहीं था, वह छात्र को कैसे पढ़ा सकते हैं।

दूसरी तरफ शिक्षकों का वेतन भी इसमें बाधा उत्पन्न कर रहा हैं, क्योंकि कम वेतन होने के कारण अच्छे छात्र आज भी शिक्षक की नौकरी नहीं करना चाहते। अगर कुछ बन भी जाते हैं तो मजबूरी में। जब उन्हें दूसरा कहीं अवसर मिलता हैं तो वह दूसरे विकल्प की तरफ चले जाते हैं। यानी शिक्षा जहाँ है वहीं रह जाती है, जो एक सर्वे से स्पष्ट हुआ है।

शिक्षक नियुक्ति की बात को लेकर चला जाए तो उसकी भी हाल ठीक नहीं है। एक तो शिक्षक छात्र अनुपात 1:40 का आंकड़ा मानी गयी है, जो वर्तमान बिहार में उपलब्ध नहीं है। वर्तमान में 1:59 अनुपात में शिक्षक छात्र उपलब्ध हैं। दूसरी तरफ जो वर्तमान में नये शिक्षक हैं, उनमें ज्ञान का अभाव देखा गया है। वे न तो प्रशिक्षित हैं और न ही ज्ञानवान्। चूँकि बहाली की प्रक्रिया में उनकी बहाली का आधार मार्क्स को बनाया गया, जो अपने-आप में अधूरा था, क्योंकि वर्तमान सरकार को पता था कि इससे पूर्व सरकार में शिक्षा का बुरा हाल था फिर भी उसी शिक्षण व्यवस्था वाले लोगों को नियुक्ति कर दी गयी, जो ज्ञान का सही मूल्यांकन नहीं था।

बिहार के शिक्षा में क्षेत्रीय असंतुलन भी देखने को मिल रहा है। 2011 की जनगणना के अनुसार देखा जाए तो सर्वोच्च पांच साक्षरता वाले जिलां में सभी दक्षिण बिहार के ही हैं। इसमें कोई भी उत्तर बिहार का जिला शामिल नहीं है।

लिंग आधारित साक्षरता का भी हाल बुरा है, क्योंकि आज भी महिला साक्षरता मात्र 53 प्रतिशत है, जो एक साक्षरता के बीच अंतर 17.0 प्रतिशत है जो काफी अधिक है। हालाँकि 2001 की जनगणना में यह अंतर 28.0 प्रतिशत थी, यानी इस प्रवृत्ति में कमी आयी है।

बिहार में वर्ष 2006-07 से वर्ष 2011-12 तक प्राथमिक व उच्च प्राथमिक स्तर पर कुल नामांकन की वार्षिक वृद्धि दर 3 प्रतिशत तथा 1.2 प्रतिशत थी। इसके साथ ही SC एवं ST विद्यार्थियों के मामले में वृद्धि दर अधिक थी। जहाँ वर्ष 2006-07 में वार्षिक वृद्धि दर 2.2 प्रतिशत थी, जो वर्ष 2011-12 में बढ़ कर 8.6 प्रतिशत हुई, जो काफी अधिक दर से बढ़ा। अगर लड़कियों एवं लड़कों के नामांकन की तुलना की जाए तो लड़कियों के नामांकन में उत्साहवर्द्धक वृद्धि देखने को मिल रही है। वर्ष 2006-07 में लड़कियों के नामांकन वार्षिक वृद्धि दर 11.7 प्रतिशत थी, जो लड़कों के नामांकन अनुपात से 0.43 अधिक थी, जो वर्ष 2011-12 में बढ़कर 0.85 प्रतिशत हो गया यानी दुगुणा के बराबर। इस प्रकार देखा जाय तो बिहार में लैंगिक समानता की दिशा में प्रति की जानकारी देता है। यही बात SC व ST की लड़कियों में भी देखी गयी है।

बिहार ने प्राथमिक स्तर पर उच्च नामांकन की सफलता तो प्राप्त किया, लेकिन इसे स्कूल में टिकाए रखना बहुत बड़ी चुनौती है, क्योंकि बिहार में खास शैक्षिक स्तर पर पहुँचने से पहले छात्रों का स्कूल छोड़ देना एक बड़ी समस्या है। यानी छीजन को लेकर सन् 2006-07 से 2010-11 तक प्राथमिक, उच्च प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तरों की छीजन दर में कमी को देखी गयी है। फिर भी बहुत अधिक हैं। प्राथमिक स्तर पर छीजन दर 2006-07 में 46.1 प्रतिशत थी जो 2010-11 में 39.27 प्रतिशत रह गई। वहीं उच्च प्राथमिक स्तर पर 2006-07 में 61.8 प्रतिशत, जो 2010-11 में 55.14 प्रतिशत पर आ गयी।

लेकिन देखा जाय तो आज भी आधे से अधिक विद्यार्थी माध्यमिक कक्षाओं में नामांकन से पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं। माध्यमिक व उच्च माध्यमिक स्तरों पर छीजन दर प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक स्तरों की अपेक्षा काफी अधिक है। वर्ष 2010-11 में माध्यमिक स्तर पर छीजन दर 62.24 प्रतिशत थी। यानी देखा जाय तो कक्षा एक में नामांकित एक तिहाई विद्यार्थी ही माध्यमिक शिक्षा पूरी कर पाते हैं।

हालाँकि माध्यमिक व उच्च माध्यमिक स्तरों पर छीजन दरों में साल दर साल कमी आती गई है। लेकिन यह अभी भी काफी अधिक है। SC एवं ST विद्यार्थियों की दशा भी वैसी ही है। अनुसूचित जाति में छीजन दर प्राथमिक स्तर पर 38.8 प्रतिशत, उच्च प्राथमिक 66.5 प्रतिशत और माध्यमिक स्तर पर 77.6 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति, प्राथमिक स्तर पर 27.1 उच्च प्राथमिक 52.6 प्रतिशत और माध्यमिक स्तर पर 69.5 प्रतिशत है। हालाँकि SC एवं ST वर्ग में साल दर सालों में छीजन दर में कमी आयी है। किन्तु आज भी फासला बहुत अधिक है। हाल के वर्षों में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति वर्ग में साल दर साल छीजन दर में जो कमी आई है उसे निम्न तालिका से स्पष्ट किया गया है-

तालिका-2

वर्ष	अनुसूचित जाति								
	प्राथमिक			उच्च प्राथमिक			माध्यमिक		
	बालिकाएं	बालक	योग	बालिकाएं	बालक	योग	बालिकाएं	बालक	योग
2006-07	51.2	51.6	51.5	77.8	72.8	72.8	86.7	85.4	85.9
2007-08	51.0	53.3	52.4	70.3	71.8	71.2	86.0	83.0	84.1
2008-09	49.5	50.5	50.1	69.4	70.5	70.1	83.2	82.8	83.0
2009-10	49.7	50.9	50.4	69.8	72.7	71.6	80.7	81.4	81.1
2010-11	35.9	40.9	38.8	63.8	68.2	66.5	7.8	78.0	77.6
वर्ष	अनुसूचित जनजाति								
2006-07	32.4	35.7	34.5	61.6	79.8	66.9	81.9	83.8	83.0
2007-08	25.6	35.1	31.6	57.2	67.8	64.3	82.2	82.8	82.6
2008-09	29.2	30.9	30.3	55.8	65.0	61.9	75.9	79.6	78.4
2009-10	15.6	8.1	10.9	20.1	11.9	14.8	62.1	66.4	65.0
2010-11	19.8	31.6	27.1	46.1	56.5	52.6	66.8	70.9	69.5

उपर्युक्त तालिका-2 से स्पष्ट होता है कि अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के शिक्षा में विकास तो हो रहा है किन्तु छीजन दर को रोकने में अभी भी सरकार अक्षम ही रही है।

सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है कि विद्यालय परित्याग के पीछे अनेक कारण जिम्मेवार हैं। जैसे- आर्थिक कारक, सामाजिक व सांस्कृतिक कारक, विद्यालय का वातावरण एवं अधिसंरचना का अभाव आदि। इन समस्याओं से निपटने के लिए कुछ नीतिगत हस्तक्षेप की मांग करती है। इसके लिए शिक्षा पर अधिक व्यय की आवश्यकता है ताकि शिक्षक की नियुक्ति, विद्यालय अधिसंरचना का विस्तार किया जा सके। क्योंकि बिहार में समग्र अर्थव्यवस्था का विकास करना है तो मानव पूंजी का विकास अत्यंत अनिवार्य है। बिहार में शिक्षा पर व्यय की गयी राशि को निम्न तालिका के द्वारा समझा जा सकता है-

तालिका-3

वर्ष	शिक्षापर व्यय (करोड़ रु०)			शिक्षा पर व्यय	
	योजन	गैर-योजना	योग	कुल बजट के प्रतिशत में	सामाजिक सेवाओं पर व्यय के प्रतिशत में
2007-08	1046.26	4741.76	5788.02	18.3	54.3
2008-09	1565.52	5099.47	6664.99	17.9	51.7
2009-10	1585.02	5958.68	7543.70	17.6	52.7
2010-11	3356.97	4667.28	8024.25	15.8	49.7
2011-12	3499.41	6585.91	10085.32	16.8	51.6
वार्षिक चक्रवृद्धि दर	37.40	5.85	13.84	—	—

उपर्युक्त तालिका-3 से स्पष्ट होता है कि बिहार में विगत वर्षों में शिक्षा व्यय में कमी हुई है जिसके कारण शिक्षा के गुणात्मक विकास में रुकावट पैदा हो रही है।

उपरोक्त तथ्यों के विश्लेषण से बात सामने आयी है कि बिहार में शिक्षा का जो विकास प्रतिशत में दिखलायी देता है, उसमें गुणात्मकता का अभाव नजर आता है। यह केवल मात्रात्मकता को ही दर्शाता है। यानी यह समावेशी विकास पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करता है।

संदर्भ-सूची

1. प्राचीन भारत का इतिहास- झा व श्रीमाली
2. भारत 2013-प्रकाशन विभाग (सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय)
3. जनगणना रिपोर्ट 2011, गृह मंत्रालय
4. आर्थिक समीक्षा, 2012-13, बिहार सरकार
5. बजट 2013-14, बिहार सरकार
6. शिक्षा विभाग 2012-13, बिहार सरकार

❖

वैश्वीकरण के दौर में शिक्षकों का प्रशिक्षण

डॉ० अनिता शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, दाउ दयाल महिला (पी०जी०) कॉलेज, फिरोजाबाद

21वीं शताब्दी में पूरी दुनिया की तस्वीर बदल चुकी है। आज आप दुनिया की कोई भी चीज कहीं खरीदना चाहें, आसानी से खरीद सकते हैं। आप जहाँ चाहे वहाँ जाकर काम कर सकते हैं। आज जहाँ कई मामलों में भारत के लिए शंका बनी हुई है वहीं दूसरी तरफ नई संभावनएं भी बढ़ रही हैं। सूचना-प्रौद्योगिकी का उदाहरण लिया जा सकता है, जिस क्षेत्र में भारतीय प्रोफेशनल पूरी दुनिया में अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर चुके हैं। शिक्षा में वैश्वीकरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। आज शिक्षा को सिर्फ भारत के संदर्भ में नहीं सोचकर बल्कि पूरी दुनिया के परिप्रेक्ष्य में सोचने की आवश्यकता है।

पिछले कुछ सालों में भारत में विदेशी बोर्ड से मान्यताप्राप्त स्कूलों की संख्या में, विशेषकर इंटरनेशनल बैकलॉरेट ऑर्गनाइजेशन और कैम्ब्रिज इंटरनेशनल एग्जामिनेशन से मान्यता प्राप्त स्कूलों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। इसके अलावा विदेशी बोर्ड से अन्तरस्नातक की पढ़ाई चाहने वाले छात्रों और अभिभावकों की संख्या भी बढ़ती ही जा रही है।

इस संदर्भ में जरूरी है कि भारत की वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का बनाया जाए। इसके लिए सबसे जरूरी है शिक्षकों के प्रशिक्षण में सार्थक बदलाव किया जाए और उनके स्तरीय प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।

किसी भी समाज के निर्माण का सूत्रधार शिक्षक को ही माना जाता है। बदलते हुए सामाजिक परिवेश में शिक्षा का स्वरूप भी बदल रहा है, और साथ में शिक्षकों की भूमिका भी बदल रही है। इसलिए यह जरूरी है कि शिक्षकों की शिक्षण प्रणाली में भी आमूल-चूल परिवर्तन लाया जाए ताकि आने वाले समय की चुनौतियों का सामना कर सकें।

NCTE समेत अन्य संस्थाओं ने भी शिक्षक-शिक्षण प्रणाली में सार्थक बदलाव के लिए गंभीर प्रयास किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया है। आज दुनिया में भूमण्डलीकरण का दौर चल रहा है। किसी भी विकास की प्रक्रिया में मानव संसाधन सबसे महत्वपूर्ण कड़ी है। इसलिए विज्ञान और तकनीक के विकास के साथ-साथ मानव संसाधन का समुचित विकास जरूरी है। जब मानव संसाधन की बात होती है तो दुनिया भारत की तरफ देखती है। सूचना-तकनीक से लेकर प्रबंधन तक भारतीयों ने अपनी कार्यकुशलता साबित की है। ऐसे में शिक्षकों की जिम्मेवारी और भी बढ़ जाती है। इसलिए कुशल शिक्षकों के निर्माण के लिए उनके प्रशिक्षण की प्रणाली में व्यावहारिक सुधार लाना ज़रूरी है, ताकि आने वाली पीढ़ी को विश्वस्तरीय चुनौतियों के लिए तैयार किया जा सके।

भारत में इस क्षेत्र में कुछ तो प्रयास हुए हैं पर वो अपर्याप्त है। इसके अलावा तेज़ी से बढ़ती जनसंख्या और उतनी ही तेज़ी से बढ़ता ज्ञान का भण्डार कार्य को और दुष्कर बना देता है। आज भी

देश में शिक्षकों की बहुत कमी है, इसलिए चुनौती दो प्रकार की है:- पहला ये कि अधिक से अधिक शिक्षकों को तैयार किया जाए और दूसरा उनमें गुणवत्तापूर्ण शैक्षणिक क्षमता का विकास किया जाए।

इस क्रम में समग्र शिक्षा के ज़रिए आने वाली पीढ़ी में प्रासंगिक ज्ञान, आवश्यक कुशलता, स्वाभाविक क्षमता के साथ-साथ तौर-तरीक़े एवं सामाजिक मूल्यों का विकास करना भी ज़रूरी है, और नई पीढ़ी को समग्र शिक्षा प्रदान करने के लिए विषय-सूची, तरीक़ा, माध्यम और शिक्षा की प्रक्रिया में व्यापक सुधार लाना होगा, ताकि भविष्य में वे बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवेश में कुशलतापूर्वक कार्य कर सकें। यह समग्र शिक्षा ही है जो सही व्यक्ति को उचित समय पर उचित कार्य के लिए तैयार कर सकेगा।

यही नहीं भारत में आज शिक्षकों को शिक्षित करने की जो प्रणाली है उसमें भी व्यापक सुधार की आवश्यकता हैं। अभी भी हमारी शिक्षा पद्धति व्यावहारिकता से दूर है। भारत में शिक्षकों को एक समान प्रशिक्षण दिया जाता है जबकि हमारे समाज में लोगों की आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति में काफी भिन्नता है। शहरी लोगों की आवश्यकता अलग है तो ग्रामीण लोगों की भिन्न। धर्म भी शिक्षा के मामले में अपनी भूमिका अदा करता है। इसलिए जरूरी है कि शिक्षकों के प्रशिक्षण का कार्यक्रम बनाते समय इन बातों का ध्यान रखा जाए।

इसके अलावा सैद्धांतिक पढ़ाई पर सिर्फ ध्यान ना देकर गतिविधि आधारित प्रशिक्षण देना जरूरी है। और समय के साथ आने वाली नई तकनीक को कार्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए। हाँ नई तकनीक का अँधाधुंध अनुसरण भी नहीं होना चाहिए। अपने सामाजिक परिवेश और मूल्यों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

शिक्षा देने का कार्य महज एक पेशा नहीं है। एक शिक्षक के कँधों पर किसी भी समाज का भविष्य होता है। पर भारत जैसे देश में जहाँ बेरोजगारी की समस्या मुँह बाए खड़ी है, शिक्षक की नौकरी भी सिर्फ एक रोजगार बन कर रह गया है। यह बहुत ही दु:खद पहलू है।

एक और कड़वी सच्चाई है- बाजारवाद के इस युग में जब आदमी की हैसियत उसकी आर्थिक स्थिति से लगाई जाती हो वहाँ शिक्षकों की हालत बहुत दयनीय है। आज शायद ही कोई युवा मिले जिससे पूछा जाए कि तुम क्या बनना चाहते हो - उसका जवाब एक क्रिकेटर या एक गायक होगा पर शिक्षक शायद नहीं होगा।

आज विकसित देशों में शिक्षकों को सबसे महत्वपूर्ण प्रोफेशनल के रूप में देखा जाता है जिनकी समाज के निर्माण में अहम भूमिका होती है। आज जरूरी है कि भारत में शिक्षकों को उचित स्थान और उचित रिवार्ड दिया जाए। तभी हम भारत के बहुमूल्य मानव संसाधन को पूरी दुनिया के लिए एक चुनौती की तरह पेश कर सकते हैं।

◆

राजनीति शास्त्र

विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन की समीक्षा

शैफाली सिंह

शोध छात्रा, बी०बी०ए० केन्द्रीय विश्वविद्यालय, लखनऊ

विनोबा भावे 18 अप्रैल 1951 को आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना के नालगुंडा जिले के पंचमपल्ली गांव में भूमिहीन हरिजनों की दर्द भरी कहानी सुनकर भूदान का कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने अनुमान लगाया कि यदि भूमिहीन कृषकों को किसी प्रकार से भूमि प्राप्त हो जाये तो भारत की भूमि समस्या का समाधान हो सकता है। उनके अनुमान से पांच करोड़ एकड़ जमीन भारत से भूमिहीनता को मिटाने के लिए आवश्यक थी जो कि कुल काश्तकारी जमीन का छठा हिस्सा था। उन्होंने गांव-गांव में घूम कर भूमि का दान मांगा और भूदान आन्दोलन का सूत्रपात किया। वहां से वे पुनः पवनार आश्रम आये, तीन महीने बाद उन्होंने दिल्ली की ओर प्रयाण किया और 62 दिन की पवनार से दिल्ली की यात्रा में उन्हें 19 हजार 436 एकड़ भूमि दान में मिली। इसके बाद उन्होंने उत्तर प्रदेश की पदयात्रा की और वहाँ उनको 2,95,018 एकड़ भूमि प्राप्त हुई। बिहार में उन्हें 839 दिन की यात्रा में 22,32,474 एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त हुई। बिहार के लिए उन्होंने यह दिखा दिया कि अहिंसा की शक्ति से भूमि समस्या का निराकरण कैसे किया जा सकता है। इसके बाद विनोबा ने उड़ीसा की 249 दिन की पदयात्रा में 2,57,277 एकड़ भूमि, आन्ध्र प्रदेश की 224 दिन की पदयात्रा में 50,754 एकड़ भूमि, तमिलनाडु में 341 दिन की पदयात्रा में 47,092 एकड़ भूमि केरल की 138 दिन की पदयात्रा में 1,571 एकड़ भूमि तथा कर्नाटक की 212 दिन की पदयात्रा में 1,109 एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त की। विनोबाजी ने सर्वोदय कार्यकर्ताओं को 8 मार्च 1953 को चान्डिल्य में सम्बोधित करते हुए कहा, ''हमारा उद्देश्य केवल भूदान प्राप्ति ही नहीं है। हमें स्वतंत्र लोकशक्ति का निर्माण करना है, जो हिंसक शक्ति के विरोधी और दंड शक्ति से भिन्न होगी। इस अहिंसक लोकशक्ति से देश की विभिन्न समस्यायें आसानी से हल की जा सकेंगी।''

विनोबा जी के भूदान आन्दोलन का यह प्रभाव हुआ कि जयप्रकाश नारायण ने इस अहिंसक क्रांति के लिए लगभग 600 कार्यकर्ताओं के साथ जीवन दान का व्रत लिया। जमीन के दाम गिरने लगे। जमींदार स्वयं विनोबाजी के पास आते और हाथ जोड़कर भूमि का छठा हिस्सा स्वीकार करने का आग्रह करते। किन्तु बिहार में इसकी एक प्रतिक्रिया यह हुई कि अनेक बड़े जमीन्दार घबरा गये। कांग्रेस तथा उसके समर्थक राजनीतिक क्षेत्रों में खलबली मच गई। जमीन हाथ से जाती देखकर कई कांग्रेसी झल्ला उठे और उन्होंने किसी तरह से विनोबा जी को बिहार से विदा किया। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि बिहार के जमींदार तथा बिहार की कांग्रेसी सरकार ने बिहार के भूदान आन्दोलन को जर्जरित कर दिया और भूमिहीनों की समस्या वैसे की वैसी बनी रह गई।

भूदान आन्दोलन शनैः शनैः शिथिल होता गया। उनकी पदयात्रायें दिखावा रह गई। बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी तथा मंत्री उनकी पदयात्रा की अगवानी करते और स्वागत के लिए तैयार रहते लेकिन विनोबा जी के साथ फोटो खिंचाते ही फिर गायब हो जाते। उन लोगों का भूमि समस्या को हल करने में अथवा राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने में कोई योगदान नहीं था। वे केवल स्वार्थवश विनोबाजी के साथ हो जाते थे। भूदान के बाद विनोबा जी ने ग्रामदान की योजना प्रारम्भ की। उन्हें पहला ग्रामदान 23 मई 1951 को उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले के मंगरात गांव में प्राप्त हुआ जहाँ सभी भूमिवालों ने अपनी जमीन विनोबाजी को दान कर दी। विनोबाजी ने ग्रामदान की 4 शर्त्तें रखीं थी : (1) गांव के सब वयस्क निवासी, स्त्री हों अथवा पुरुष, मिलकर ग्रामसभा बनायें। (2) गांव के सब भूमिवान अपनी-अपनी जमीन का स्वामित्व ग्रामसभा को सौंप दें। (3) गांव के सब भूमिवान अपनी जमीन का बीसवां हिस्सा ग्रामसभा को दान कर दें ताकि वह भूमिहीनों को दिया जा सके। (4) गांव में ग्राम कोष खोला जाये जिसमें भूमिवान लोग अपनी जमीन में होने वाली पैदावार का चालींसवा हिस्सा जमा करें और मजदूरी करनेवाले या वेतन पाने वाले लोग प्रतिमाह एक दिन की मजदूरी या वेतन जमा करें।

विनोबा ही ग्रामदान के माध्यम से प्रत्येक गांव को एक परिवार जैसी सूरत देना चाहते थे। परिवार के सदस्य जिस प्रकार मिल-जुलकर आपसी सलाह से काम करते हैं उसी तरह गांव के सारे विवाद ग्रामसभा के द्वारा तय करें, उन्हें कोर्ट अथवा पुलिस थाने में जाने की आवश्यकता नहीं रहे। सारे झगड़े ग्रामसभा में निपटाये जायें। इसी तरह प्रत्येक गांव में ग्राम भंडार की स्थापना की जाय। गांव की सफाई, सिंचाई, शिक्षा, सुरक्षा, चिकित्सा, पशुपालन आदि ग्रामसभा की देख-रेख में हो। ग्रामसभा द्वारा इन कार्यों के लिए जमीन दी जाये तथा उद्योग धंधों की स्थापना करें। खेती की व्यवस्था अलग-अलग होते हुए भी लगान ग्रामसभा द्वारा दिया जाये। विनोबा के अनुसार ग्राम स्वराज्य का आदर्श 'खेत गांव का, खेती किसान की' था। किन्तु विनोबाजी का यह कार्यक्रम अधिक सफल नहीं हुआ। विनोबाजी ने ग्रामदान के पश्चात् प्रखण्डदान मांगा और उसके बाद जिलादान की मांग की। बिहार में दरभंगा पहला जिला था जिसका जिलादान हुआ। एक-एक करके सभी जिलों का दान हो गया और पूरा बिहार ही दान में आ गया। लेकिन इससे भूमिहीनों की समस्या नहीं सुलझी और यह केवल दिखावे का ही आन्दोलन रहा। विनोबा ने सरकार की सामुदायिक योजना और ग्रामदान योजना के बीच घनिष्ठ सहयोग की मांग की और यह सहयोग कुछ अर्से तक प्राप्त भी हुआ लेकिन सामुदायिक विकास के अधिकारियों द्वारा मिलने वाला सहयोग जनता में भ्रांति फैलाने में सहायक हुआ। जनता यह समझने लगी कि शायद भूदान तथा ग्रामदान का कार्य सरकारी है। सामुदायिक विकास का काम ढीला पड़ने के कारण ही भूदान काम भी शिथिल होने लगा। इसके लिए भूदान आन्दोलन के अन्तर्निहित दोष काफी हद तक उत्तरदायी है। पहला दोष यह था कि जमीन के बंटवारे में दानदाता का सहयोग नहीं लिया गया था। भूदान का सारा तंत्र ऐसा खड़ा किया गया था मानो भूदान वालों को भूमिवान के प्रति डर तथा अविश्वास है। इसका नतीजा यह हुआ कि भूदान करने वालों ने विशेष रुचि नहीं दिखाई। भूदान कार्यकर्ता भी अच्छे-बुरे सभी तरह के लोग थे। अतः कुछ भूमि भूमिहीनों को मिली तो कुछ भूमि हड़प ली गई। स्वयं विनोबा ने बाद में यह स्वीकार किया कि भूमिवानों की सलाह न लेकर उन्होंने बड़ी गलती की थी। उनके अनुसार यह उनके पुण्य का अहंकार था कि वे न्याय की बात छोड़ गये लेकिन इस चेतावनी के बाद भी विनोबा ने भूमिवानों को भूमि वितरण के कार्य में सम्मिलित नहीं किया।

दूसरी त्रुटि विनोबा के आन्दोलन में यह रही कि कार्यकर्ताओं के मामले में हुए खर्चे का ठीक से हिसाब नहीं रखा गया। भूदान आन्दोलन को गांधी स्मारक निधि से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी चूंकि विनोबा ने यह आन्दोलन अखिल भारत सर्व सेवा संघ के अन्तर्गत चलाया था। सर्व सेवा संघ के अधीन प्रान्तीय भूदान समितियां काम करती थीं जिसका लेखा-जोखा परीक्षकों को पंसद नहीं आया। कार्यकर्ताओं ने ठीक से हिसाब रखने में असमर्थता प्रकट की। उनका यह उत्तर था कि क्रांति के काम में लगे हुए लोग हिसाब-किताब ठीक से नहीं रख सकते। परिणाम यह हुआ कि गांधी स्मारक निधि ने विनोबाजी को शिकायत की और इससे आन्दोलन को आर्थिक सहायता मिलनी बन्द हो गई। विनोबाजी तथा जयप्रकाश नारायण के अलावा और कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जो भूदान आन्दोलन के लिए निस्वार्थ भाव से अपना जीवन अर्पित करता। फिर भी भूदान आन्दोलन ने वह कार्य कर दिखाया जो सरकारी तंत्र नहीं कर सकता था। 1957 तक 40 लाख एकड़ से ज्यादा जमीन भूदान में प्राप्त हुई थी। यद्यपि 5 करोड़ के लक्ष्य की दृष्टि से चालीस दसवें हिस्से से भी कम था किन्तु इससे लाखों भूमिहीनों को जीवन का नवीन मार्ग प्राप्त हुआ। भूमिहीनों में भूदान आन्दोलन ने नवीन जीवन का संचार किया। अनेक समाज सेवी आगे आये और सर्वोदय कार्यकर्ताओं का निश्चित समुदाय जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ। विनोबाजी की अहिंसक क्रांति जैसे-जैसे ग्रामदान, जिलादान, संपत्तिदान की ओर आगे बढ़ी भूदान आन्दोलन कमजोर होता गया। यदि सर्वोदय आन्दोलन केवल भूदान तक ही सीमित रहता तो उसका लक्ष्य भी पूरा हो जाता और आन्दोलन को शिथिल नहीं होना पड़ता।

भूदान की असफलता आर्थिक विषमता, गरीबी तथा बेरोजगारी की समस्या के लिए चुनौती थी। भूदान आन्दोलन के सम्बन्ध में जयप्रकाश नारायण ने अपनी जेल डायरी में 18 अगस्त 1975 को यह अंकित किया, ''शायद विनोबाजी यह समझते थे और अब भी समझते हैं कि बिना किसी संघर्ष के, शांतिपूर्ण संघर्ष के बगैर भी राजनीतिक तंत्र में क्रमागत परिवर्तन लाया जा सकता है, लेकिन ग्राम स्वराज्य कार्य के वर्षो के अपने अनुभव से मेरा यह निश्चित मत बन गया है कि ग्राम स्वराज्य अपने में एक मूल्यवान राजनीतिक संगठन है बशर्ते कि वह काम करे और सिर्फ कागज पर न रहे। ग्राम स्वराज्य आंदोलन में क्रमागत राजनीतिक परिवर्तन लाने की कोई क्षमता नहीं थी। सैद्धांतिक दृष्टि से इस क्षमता का कोई कारण नहीं था...जिले लिए गए, फिर नमूना बनाने की दृष्टि से प्रखंड लिए गए, लेकिन सफलता नहीं मिली। भूदान से शुरू होकर और ग्रामदान में से होकर (आने वाले ग्राम स्वराज्य के लिए एक तरह का आधार समझे गये थे) बीस साल से ज्यादा लम्बे अरसे तक चलने के बाद ग्राम स्वराज्य आन्दोलन उस निष्फल हालत में पहुंच गया था जिसमें वह आज है।''[1] विनोबा भावे ने भूदान कार्यक्रम शुरू किया। भूदान कार्यक्रम में यह कहा गया कि यह आन्दोलन भूदान में प्राप्त भूमि को भूमिहीन व्यक्तियों को बन्दोबस्त कर दिया जाय। बड़े भूस्वामियों से आग्रह किया गया कि अपनी जमीन का कुछ हिस्सा दान करें ताकि गरीब भूमिहीन मजदूरों को जीवन यापन के लिए कुछ जमीन मिल सके।

लेकिन सच्चाई यह है कि भूमिहीन गरीबों के दुखों की विनोबा भावे को चिन्ता कम थी, कम्युनिस्टों का भय ज्यादा था। देश में कम्युनिस्टों के बढ़ते प्रभाव से वे चिंतित थे। वे नहीं चाहते थे कि भूमि आन्दोलन के जरिये गरीब भूमिहीन कम्युनिस्टों के प्रभाव में आ जाये। विनोबा भावे ने स्वयं कहा कि कम्युनिस्ट धनी व्यक्तियों की कृति हैं। कम्युनिस्टों के खतरों से लड़ने में पुलिस बहुत

मददगार नहीं हो सकती। इनको जड़ से उखाड़ फेंकने का एक ही रास्ता है–शान्तिपूर्ण तरीके से भूमि का वितरण।[2] जो भी हो, भूदान कार्यक्रम में एक अच्छी बात यह कही गई कि भूमि का वितरण किया जाय और भूमिहीन गरीब मजदूरों को जमीन दी जाय।

विनोबा भावे ने भूदान अभियान चलाने के लिए देश में सबसे उपयुक्त बिहार को माना। वे 14 सितम्बर, 1952 को बिहार आये। भूदान के अभियान के दौरान उन्होंने विभिन्न जिलों का दौरा किया। सुदूर गांवों में भी वे गये। बिहार में उनका भूदान अभियान 27 महीनों तक चला। वे 31 दिसम्बर, 1954 तक बिहार में रहे। बिहार की धरती को उन्होंने अहिंसा का नया प्रयोग करने के सर्वाधिक उपयुक्त माना। क्योंकि उन्हें मालूम था महात्मा बुद्ध ने इसी बिहार से अहिंसा का संदेश विश्व के अन्य देशों में फैलाया। लेकिन इस संदर्भ में वंद्योपाध्याय भूमि सुधार आयोग ने दुख के साथ लिखा है कि भूदान यज्ञ कमिटी और राज्य सरकार के राजस्व विभाग की अकुशलता के कारण ज्यादा कुछ हासिल नहीं किया जा सका।[3]

आयोग ने बिहार में भूमि सुधार के सभी पहलुओं– आर्थिक, सामजिक, न्यायिक आदि के संबंध में सभी तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के लिए सरकारी अभिलेखों, सरकारी अधिकारियों, राजनीतिक दलों, संगठनों, बुद्धिजीवियों, शोध संस्थानों आदि का सहारा लिया। जमीनी हकीकत की जानकारी पाने के लिए आयोग ने 14 जिलों में 15 जन सुनवाइयां आयोजित की। इन जन सुनवाइयों में स्थानीय अधिकारियों, राजनीतिक नेता एवं कार्यकर्त्ताओं, जनसंगठनों के प्रतिनिधि और जमीन से जुड़े आम लोग शामिल हुए। आयोग ने सबकी बातें सुनी और उनके सुझावों को नोट किया। सभी तथ्यों और जानकारियों के आधार पर आयोग ने माना कि भूदान कार्यक्रम में बड़े पैमाने पर धोखाधड़ी, षड्यंत्र, कानूनों का उल्लंघन, जमीन की हेरा-फेरी और जालसाजी की गई हैं। इन सब गलत धंधों में भूस्वामी, सरकारी अधिकारी, भूदान यज्ञ कमिटी और राज्य सरकार के राजस्व विभाग के अधिकारी शामिल हैं। इन सबों ने सांठगांठ करके भूदान के मूल उद्देश्य को ही रौंद डाला।

भूदान में मिली जमीन की देखभाल करने, उसके अभिलेख तैयार करने, उसका वितरण करने आदि कामों के लिए राज्यस्तर पर भूदान यज्ञ कमिटी का गठन किया गया था। प्रत्येक जिले में उसकी जिला इकाइयाँ भी गठित की गई। 1954 में भूदान कार्यक्रम को कानूनी मान्यता देने के लिए बिहार भूदान यज्ञ अधिनियम पारित हुआ।[4]

भूदान यज्ञ कमिटी ने आयोग को जानकारी दी कि भूदान में कुल 6,48,476 एकड़ जमीन प्राप्त हुई। उनमें से 2,78,320 एकड़ जमीन वितरण के अयोग्य पायी गई। शेष में से 2,55,347 एकड़ भूमि 6,15,454 परिवारों के बीच वितरित की गई। 1,14,708 एकड़ भूमि वितरण के लिए शेष रह गई हैं, जो अभी तक वितरित नहीं की गई है।

इन आंकड़ों को देखकर आयोग आश्चर्यचकित हो गया। किसी को भी यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि जमीन का इतना बड़ा रकबा किस आधार पर वितरण के अयोग्य मान लिया गया। इसकी जानकारी न भूदान यज्ञ कमिटी को है और न ही राजस्व विभाग को। जमीन का चरित्र क्या है, यथा जंगल है, पहाड़ है, नदी, झील या जलकर, ऊसर है, खेती योग्य है, इसकी भी जानकारी कमिटी और राजस्व विभाग को नहीं है। कमिटी और राजस्व विभाग को यह भी जानकारी नहीं है कि उस जमीन पर किसका नियंत्रण और कब्जा है। ऐसी स्थिति में यह आसानी से समझा जा सकता है कि भूदान जमीन के इतने बड़े रकबे को वितरण के अयोग्य मानने के पीछे कोई अवश्य बड़ा

घोटाला और षड्यंत्र है। भूदान यज्ञ कमिटी और राजस्व विभाग ने ऐसी जमीन की भौतिक जांच भी कभी नहीं करायी। उल्लेखनीय है कि यह जमीन भूदान में भूदान यज्ञ कमिटी को मिली। लेकिन उस जमीन पर न तो भूदान यज्ञ कमिटी का कब्जा और नियंत्रण है और न ही भूमिहीनों में उसका वितरण हुआ है। तो स्पष्ट है कि उस जमीन पर भूदानदाताओं या किन्हीं भू-माफियाओं का कब्जा और नियंत्रण है। दूसरी बात यह कि कुल जमीन जंगल, पहाड़, नदी-झील तो नहीं होगी। कुल जमीन उनमें से अवश्य ऐसी होगी जिसको विकसित करके खेती या बागवानी आदि के लायक बनाया जा सकता है। इन सब तथ्यों को नजरअंदाज करके 2,75,320 एकड़ जमीन वितरण के अयोग्य मान लिया जाय, यह न सिर्फ अनैतिक, लापरवाही या उपेक्षा कही जायेगी, बल्कि यह एक बड़ा षड्यंत्र है।[5]

इतना बड़ा षड्यंत्र किनको लाभ पहुंचाने के लिए रचा गया, यह विचारणीय है। यह तय है कि यह जमीन चाहे भू माफियाओं के कब्जे में हो या दान दाताओं के कब्जे में, उनका लाभ वे ही उठाते होंगे। अगर इस जमीन का वितरण होता तो उसका लाभ भूमिहीन लाभार्थियों को मिलता। वितरण न होने से भूमिहीन गरीब उस जमीन से मिलने वाले लाभ से वंचित हो गये। स्पष्ट है यह षड्यंत्र भू-माफियाओं या भूदान दाता भूस्वामियों को ही लाभ पहुंचाने और भूमिहीन गरीबों को उनको मिलने वाले लाभ से वंचित करने के उद्देश्य से रचा गया है।

यह भी हो सकता है कि भूस्वामी ने भूहदबंदी से फाजिल जमीन को चुराने के वास्ते अपनी जमीन को भूदान में दे दिया। लेकिन व्यवहार में उसने न तो भूदान में जमीन दी और न अधिशेष भूमि मानकर राजस्व विभाग को ही दी। दोनों ही हालत में भूमिहीन गरीबों को नुकसान और भूस्वामियों को लाभ मिला। क्योंकि जमीन अगर हदबंदी से फाजिल घोषित होती तो भी उस जमीन का वितरण भूमिहीनों में ही होती और उसका लाभ उन्हें मिलता। आश्चर्य की बात है कि भूदान की जमीन के इतने बड़े घोटाले पर आज तक राज्य की किसी भी सरकार का ध्यान नहीं गया। न तो पूर्ववर्ती सरकारों ने इस ओर ध्यान दिया और न ही वर्तमान सरकार ने। क्या यह संदेह पैदा नहीं करता कि इस बड़े घोटाले में सत्ता के ऊंचे पद पर रहने वाले राजनेताओं का हाथ भी हो सकता है?[6]

एक बात और, भूदान यज्ञ कमिटी के अनुसार अभी भी उसके पास 1,14,708 एकड़ भूदान की जमीन है। यह वितरण योग्य है, लेकिन वर्षों बाद भी अभी तक वितरित नहीं की जा सकी है। इस जमीन के वितरण में इतना विलंब का भी कोई कारण अवश्य होगा। इसी से जुड़ा दूसरा प्रश्न विचारणीय है कि फिलहाल इस जमीन पर किसका कब्जा और नियंत्रण है। इस जमीन का लाभ वर्षों से कौन उठा रहा है ? क्या भूदान यज्ञ कमिटी को उस जमीन से मिलने वाले लाभ का कोई हिस्सा मिलता है या नहीं? इस जमीन के नहीं बांटने से किसको लाभ से वंचित होना पड़ रहा है ? क्या भूस्वामियों को लाभ पहुंचाने और भूमिहीनों को लाभ से वंचित करने की नीयत से जमीन के वितरण में विलंब नहीं किया जा रहा है? इन प्रश्नों का सही-सही उत्तर भूदान यज्ञ कमिटी या राजस्व विभाग के किसी अधिकारी के पास नहीं है। ऐसी हालत में पाठक स्वयं इनका उत्तर ढूंढ़ लें।

2,55,347 एकड़ भूदान की जो जमीन वितरित की गई, उसमें भी आयोग को भारी घोटाला का पता चला है। यह जमीन भूदान यज्ञ कमिटी के अनुसार 3,15,454 परिवारों में वितरित की गई। इस वितरण में भी भारी घोटाला, बेईमानी और मनमानी की गई है। आयोग के रिपोर्ट के अनुसार वितरित जमीन का विवरण इस प्रकार है–निजी लाभार्थियों को 7.7542 एकड़ प्रति परिवार, आदवासियों को 6 एकड़ प्रति परिवार, अन्य पिछड़े वर्ग को 2 एकड़ प्रति परिवार जमीन दी गई। आश्चर्य के साथ

आयोग ने नोट किया है कि 59 संस्थाओं को 11,130.9375 एकड़ जमीन वितरित की गई। ज्ञातव्य है कि भूदान की जमीन के वितरण के लिए लाभार्थियों की गई श्रेणियाँ बनायी गई हैं। इनमें एक है ''सार्वजनिक एवं अन्य''। आयोग ने कहा है कि यह वाक्यांश अस्पष्ट और भ्रामक है। सी वाक्यांश का लाभ उठाते हुए भूदान यज्ञ कमिटी ने 59 संस्थाओं को 11,130.9375 एकड़ जमीन दे दी। पता नहीं इस जमीन का इस्तेमाल उन संस्थाओं के विकास आदि के लिए किया जा रहा है या कुछ दबंग व्यक्ति संस्था के नाम पर जमीन लेकर उसे इस्तेमाल निजी हित के लिये कर रहे हैं। किसी भी ईमानदार सरकार के लिए यह जाँच का विषय है।

आयोग ने यह भी कहा है कि भूदान की जमीन के इस वितरण के बावजूद 15,000 एकड़ जमीन का औपचारिक वितरण अभी तक नहीं हुआ है।

बिहार भूदान यज्ञ अधिनियम 1954 भी भूदान जमीन के वितरण के सवाल पर दोषपूर्ण है। जन सुनवाई के दौरान आयोग के सामने यह सवाल जोरदार ढंग से उठाया गया। जन सुनवाई में इस अधिनियम के अनुच्छेद 15 की उपधारा (3) को समाप्त करने की मांग की गई। यह धारा भूदान यज्ञ कमिटी को यह अधिकार देती है कि वह भूदान की जमीन को किसी भी व्यक्ति को दे सकता है। भूमिहीनों को देना अनिवार्य नहीं है। अधिनियम का यह प्रावधान उसी अधिनियम के बुनियादी उद्देश्य को समाप्त कर देता है। अधिनियम की प्रास्तावना में कहा गया है कि इस तरह की जमीन (भूदान जमीन) भूमिहीन व्यक्ति या गांव समुदाय, ग्राम पंचायत या सहयोग समिति, जो भूदान यज्ञ कमिटी द्वारा संगठित की गई हो को बन्दोबस्त की जायेगी। इस तरह देखा जाय तो उपधारा (3) अधिनियम के मूल उद्देश्य के विपरीत है। आयोग ने कहा है कि ड्यूटी कलक्टर को अनुच्छेद 21 के तहत मिले अपने अधिकार का इस्तेमाल करते हुए उस जमीन से अवांछित व्यक्ति को हटा देना चाहिए।[7]

आयोग ने भूदान की जमीन के बारे में एक अन्य समस्या को नोट किया है। वह है कि भूदान की जमीन के बारे में राजस्व विभाग और भूदान यज्ञ कमिटी के अभिलेख में दर्ज आंकड़ों में एकरूपता नहीं है। राजस्व विभाग के आंकड़ों के अनुसार 1,11,000 एकड़ भूमि की पुष्टि नहीं हुई है। लेकिन कमिटी के आंकड़ों के अनुसार असत्यापित भूमि के कोई भरोसेमंद आंकड़े नहीं है। यह विसंगति स्थानीय विवाद और संकट का बहुत बड़ा स्रोत है।

संदर्भ

1. जयप्रकाश नारायण, प्रिजन डायरी, पृ. 131.
2. पॉलिटिक्स ऑफ लैंड रिफार्म इन इंडिया–डी. ठाकुर।
3. वही, पृ. 17।
4. वही, पृ. 18।
5. वही, पृ. 19।
6. वही, पृ. 20।
7. वही, पृ. 20।

◆

राजनीति शास्त्र

पंचायतीराज एवं ग्रामीण महिला सशक्तिकरण

एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ० नीलम कुमारी सिंह

व्याख्याता, आर०डी०एम० डिग्री कॉलेज, छपरा

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का कहना था कि “सच्चा लोकतंत्र केन्द्र में बैठे हुए बीस व्यक्तियों द्वारा नहीं चलाया जा सकता। उसे प्रत्येक गाँव के लोगों को नीचे से चलाना होगा।” वे पंचायती राज संस्था के पक्षधर थे। उनका मानना था कि इसे सशक्त बनाकर तथा स्थानीय स्तर के ग्रामोद्योग को बढ़ावा देकर ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए जो स्वयं में आत्मनिर्भर हो तथा जिसमें आय एवं धन के वितरण की असमानताएँ कम से कम हो।

भारत के संविधान निर्माताओं ने गाँधी जी तथा 1948 में गाँधीवादी पी. के. सन्थानम के प्रस्तावित संशोधन को संविधान सभा ने स्वीकार करते हुए राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के अर्न्तगत भारतीय संविधान के अनुच्छेद 40 में व्यवस्था दी कि “राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठायेगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत शासन की इकाईयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।” इसी कल्पना को साकार करते हुए तात्कालिक प्रधानमंत्री श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू 1959 राजस्थान के तथा तात्कालिक मुख्यमंत्री मोहन लाल सुखारिया के अध्यक्षता में राजस्थान के नागौर जिला में पंचायती राज की नींव रखी गई, फिर आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्रा, गुजरात आदि राज्यों में स्थापना की गई।

पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर सातवीं पंचवर्षीय योजना तक पंचायती राज संस्थाओं की स्थिति काफी कमजोर रही। वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य सरकारों की कृपा पर निर्भर रही, क्योंकि उन्हें संवैधानिक दर्जा प्राप्त नहीं था। तात्कालिक प्रधानमंत्री नरसिंहाराव के नेतृत्व में केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्री श्री वेंकट स्वामी ने संसद के पटल पर एक विधेयक रखा जिसे राष्ट्रपति द्वारा 24 मार्च 1993 को मंजूरी मिल गई। अत: संविधान में 73वाँ व 74वाँ संसोधन किया गया। संविधान के 73वें एवं 74वें संसोधन अधिनियम 1992 के फलस्वरूप भारतीय संविधान में भाग–9 जोड़कर अनुच्छेद–243 (क से ण) तक जोड़ते हुए पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान कर दिया गया। देश में आधी आबादी महिलाओं की है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि उन्हें भी देश के विकास में पुरुषों के सामान भूमिका निभाने का अवसर मिलना चाहिए। इस संविधान संसोधन द्वारा एक ऐतिहासिक कदम उठाया गया है क्योंकि इसमें महिलाओं के लिए एक-तिहाई सीटें भी आरक्षित की गई हैं। अब लगभग सभी राज्यों में पंचायतों के चुनाव हो चुके हैं और बड़ी संख्या में महिला प्रतिनिधि चुनकर आई है।

महिला सशक्तिकरण एक प्रक्रिया का नाम है जिसमें महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के प्रयासों का पुर्नवलन किया जाता है ताकि वे अपनी परम्परागत दब्बू प्रकृति के आवरण से बाहर निकलकर आत्मनिर्भर एवं स्वावलंबी बन सकें। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि महिला सशक्तिकरण का तात्पर्य है सामाजिक सुविधाओं की उपलब्धता, राजनैतिक और आर्थिक नीति निर्धारण में भागीदारी, सामान कार्य के लिए सामान वेतन, कानून के तहत सुरक्षा और प्रजनन अधिकारों आदि को सम्मिलित किया जाता है। महिला सशक्तिकरण की शुरूआत संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा 8 मार्च 1975 को अर्न्तराष्ट्रीय महिला दिवस से माना जा सकता है। पुन: महिला सशक्तिकरण की पहल 1985 में महिला अर्न्तराष्ट्रीय सम्मेलन नौरोबी में की गयी।

भारत ने भी महिला सशक्तिकरण के लिए अनेक कदम उठाये। 31, जनवरी 1992 को राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन हुआ। जिसके माध्यम से सदियों से बिछड़े, शोषित एवं उपेक्षित नारी वर्ग के विकास पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। वर्ष 2001 में भारत सरकार ने महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किया तथा राष्ट्रीय महिला शक्ति सम्पन्नता नीति 2001 की घोषणा की।

बिहार पहला राज्य है जो सामाजिक एवं राजनीतिक में महिला सशक्तिकरण के लिए अग्रणीय है। बिहार पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं की सम्मानजनक भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए बिहार पंचायती राज अधिनियम 1993 को निरस्त करते हुए बिहार पंचायती राज अधिनियम 2006 को लागू किया गया। बिहार भी कुछ गिने-चुने राज्यों में से एक है जहाँ महिलाओं को पंचायत में 50 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की गई है। त्रि-स्तरीय पंचायतों के सभी कोटियों के पदों में महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण देते हुए महिलाओं के लिए कुल 1,20, 258 आरक्षित पदों के लिए चुनाव कराया जा चुका है।

पंचायती राज एवं ग्रामीण महिला

हमारे देश में 70% लोग गाँव में बसते हैं। गाँव के विकास तथा प्रगति में महिलाओं के सबल हाथ इसके प्रतीक हैं। चाहे परिवार हो, खेत-खलिहान का काम हो, सब में महिलाएँ कंधे से कंधे मिलाकर काम कर रही है। भारतीय प्रजातंत्र में ग्रामीण महिलाओं की भूमिका दिनोदिन सशक्त होती जा रही है। इस कार्य में पंचायती राज व्यवस्था ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। महिलाओं को राजनीतिक रूप से सबल बनाने हेतु सर्वप्रथम 1993 में 73वाँ एवं 74वाँ संविधान संसोधन द्वारा त्रि-स्तरीय पंचायती राज संस्थाओं एवं स्थानीय निकायों में प्रत्येक स्तर पर महिला सदस्यों के लिए एक तिहाई सीटें आरक्षित कर दी गई है। बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, हिमाचल प्रदेश एवं उत्तराखंड में महिलाओं के लिए आरक्षण 50% कर दी गई है (सन्दर्भ : अमर उजाला सामाचार पत्र)। नि: सन्देह इस व्यवस्था से गाँव की पिछड़ी, दलित, गरीब एवं अनपढ़ औरत को राजनीतिक-सामाजिक सबलता मिली है।

देश भर में 9 लाख 35 हजार के लगभग महिला पंचायत प्रतिनिध हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि महिलाएँ राजनैतिक रूप से जागरूक हो रही है। पंचायती राज व्यवस्था के कारण ग्रामीण महिलाएँ निम्नलिखित रूप से सबल व सशक्तीकृत हो रही हैं।

- ❑ ग्रामीण महिलाओं के शिक्षा के क्षेत्र में विशेषकर बालिका की शिक्षा के रूप में महत्वपूर्ण योजनाएँ पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से चलाया जा रहा है।

- ☐ ग्रामीण महिलाओं को आर्थिक सशक्तिकृत करने के लिए अनेक आर्थिक योजनाएँ पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से चलाया जा रहा है।
- ☐ पंचायती राज संगठनों से महिला विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने का अवसर मिला है।
- ☐ पंचायती राज के माध्यम से जनसंख्या नियंत्रण की दिशा में साकारात्मक परिणाम देखने को मिल रहा है।
- ☐ पंचायती राज के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं में राजनैतिक सहभागिता बढ़ी है।
- ☐ पंचायती राज के माध्यम से महिला कल्याण के क्षेत्र में सरकार की भूमिका काफी महत्वपूर्ण एवं निर्णायक सिद्ध हुई है।
- ☐ महिलाओं के सामाजिक एवं राजनैतिक सहभागिता के कारण उनके प्रस्थिति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है।
- ☐ महिलाओं के शोषण एवं उत्पीड़न में कमी दर्ज की गई है। कारण वे अपनी आवाज स्वयं उठा रही है।
- ☐ पंचायती राज संस्था में 33 प्रतिशत आरक्षण का मतलब ही यह है कि विकास में उनकी भागीदारी सुनिश्चित कर उनका उत्थान किया जाये।
- ☐ पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से स्वास्थ्य एवं पोषण हेतु ग्रामीण महिलाओं के लिए अनेक कार्यक्रम चलाये गये जिससे उनमें सबलता आयी है।

निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों की उपलब्धियाँ

चुनाव लड़ने, निर्चाचित होने एवं राजनीतिक सहभागिता के अलावा महिलाओं ने दूसरे क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

- ☐ राजस्थान के अलवर जिला के निम्मुचाना गाँव की सरपंच कोयली देवी ने अपने ही ससुर एवं पति पर अधिसूचना जारी की कि वे बतायें कि पंचायत की जमीन हड़पने की वजह से उनके खिलाफ कार्रवाई क्यों न की जाये?
- ☐ गोवा में महिलाओं को पौधों की नर्सरी के विकास तथा अच्छे तरीके के बीज तैयार करने का प्रशिक्षण दिया गया। इसी तरह कर्नाटक, तमिलनाडु, बिहार, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों में स्वयं सहायता समूह का महिलाओं द्वारा निर्माण।
- ☐ आन्ध्रप्रदेश के पश्चिम गोदावरी जिले में कम मजदूरी के खिलाफ महिलाओं का संघर्ष काफी सफल रहा।
- ☐ रेवाड़ी ब्लॉक (हरियाणा) की महिला सरपंच ने अपने इलाके से शराब की दुकान हटवायी।
- ☐ हरियाणा के ही अन्य ब्लॉक के बेट्टा-पट्टी की ग्राम पंचायत की सरपंच ने वहाँ पानी की समस्या का समाधान करवाया।
- ☐ केरल के कोझीकोड जिले की महिलाओं ने जिले के पहाड़ी इलाका में पानी की समस्या हल करने का संगठित प्रयास किया।

- ☐ पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले के कुलतीक्री गाँव ने एक आल-वुमेन पंचायत निर्वाचित की। उड़ीसा की पहली ऑल वुमेन पंचायत सम्बलपुर जिले की किलसभा ग्राम पंचायत है। उसमें एक सरपंच के अलावा 16 वार्ड सदस्य हैं, जो सभी महिलाएँ हैं।
- ☐ बिहार के पूर्वी चम्पारण के डिन्जी भिरखिया-छिपुलिया गाँव की मुसहर जाति की महिला सरपंच गिरजा देवी को संयुक्त राष्ट्रसंघ के महिला विकास प्रकोष्ठ व सामाजिक मामलों के विभाग के 15वें सत्र भाषण देने के लिए न्यूयार्क आमंत्रित किया गया। गिरजा देवी ने भोजपुरी में भाषण दिया।
- ☐ दलितों विशेषकर महिलाओं के सशक्तिकरण में साकारात्मक भूमिका निभाने के लिए मधुबनी जिले की लखनौर पंचायत समिति की सदस्य तिलिया देवी को वर्ष 2006 के नोबेल शांति पुरस्कार के लिए नामित किया गया था।
- ☐ 24 जून 2006 को बिहार में सम्पन्न पंचायत चुनाव में कटिहार जिले की बलरामपुर प्रखंड की किरोरा ग्राम की हलिमा खातून ने पंचायत प्रमुख का चुनाव जीता। हलिमा अपने पेट पहले भीख माँगकर भरती थी। आदि।

ग्रामीण नारी सशक्तिकरण की वास्तविक उपलब्धि यह हो कि वह स्वयं पर विश्वास रखकर अपने नारीत्व पर गर्व करे। अपने शर्त्तों पर जिन्दगी जीने का उसमें साहस हो। उदाहरणस्वरूप आन्ध्रप्रदेश के छोटे से गाँव कलवा की सरपंच फातिमा बी जिसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की पूर्व महासचिव कोफी अन्नान ने पंचायत में महत्वपूर्ण काम करने के लिए स्वयं सम्मानित किया। गाँव गुआड़ा कालौल की मंजूरी बाई दो महीने तक अकेले काम करके दो बीघा जमीन में पोखरा खोदकर गाँव के जल संकट को दूर किया। अत: उसे गाँव वालों ने भागीरथी कह कर सम्मान दिया। स्वयं प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने राजधानी दिल्ली में पंचायती राज व्यवस्था पर आयोजित राष्ट्रीय सम्मेलन में कहा कि "पंचायती राज की सबसे बड़ी सफलता यही है कि इसने महिलाओं को राजनीतिक एवं सामाजिक सशक्तीकृत किया है।" केन्द्रीय पंचायती राज मंत्रालय ने मार्केटिंग एजेन्सी ए. सी. नेल्शन से एक सर्वेक्षण कराया। यह सर्वेक्षण निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों के सशक्तिकरण की ओर स्पष्ट संकेत करता है। महिलाओं का सशक्तिकरण हो रहा है लेकिन उन्हें आरक्षण का लाभ 10 या 15 साल तक दिया जाये तोराजनीतिक-सामाजिक क्रांति से गाँव की जनता की तकदीर एवं ग्रामीण विकास को एक नया चेहरा शीघ्र मिल सकता है।

बेशक पंचायती राज व्यवस्था ने महिलाओं के लिए न्यूनतम 33 प्रतिशत आरक्षण व्यवस्था लागू हुए डेढ़ दशक हो गए हैं लेकिन अभी तक स्त्री के पक्ष में पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता बदलने के लिए कानून शर्तिया इलाज साबित नही हुआ है। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी उपलब्धि महिलाओं का सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से सशक्तिकरण होना है परन्तु अफसोस इस बात का है कि कुछ लोग अभी भी महिलाओं को पुरुष की कठपुतली मानते हैं। महिलाओं को आज भी घर की चारदीवारी से लेकर अफसर साही के समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। 30 प्रतिशत महिलाओं को पति या परिवार के विरोध का सामना करना पड़ रहा है, तो 39 प्रतिशत महिलाएँ दूसरे चुनाव में लड़ाने से कतराती है।

अवलोकनोपरांत हम कह सकते हैं कि पंचायती राज व्यवस्था ने ग्रामीण महिलाओं की प्रास्थिति एवं भूमिका में आमूलचूल परिवर्त्तन लाया, जिससे उनमें आत्मनिर्भरता बढ़ी है। ग्रामीण महिलाओं ने

बढ़-चढ़कर राजनीतिक सहभागिता दिखायी है। विकास कार्य में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण सरकार ने दिया है जो सफल प्रतीत हो रहा है। वैसे भी महिलाओं के बिना पूर्ण विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। स्वामी विवेकानंद ने ठीक ही कहा है कि "स्त्रियों को सशक्तिकृत किए बिना विश्व कल्याण असंभव है, जैसे कि एक पंख से उड़ान भरना।"

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. श्रम एवं समाज कल्याण – 2007 – डॉ. प्रभात कुमार – पृष्ठ सं.– 592 से 601।
2. भारतीय महिलाएँ : दशा एवं दिशा – सुभाष शर्मा।
3. द चेंजिंग पोजीशन ऑफ इंडियन वूमेन – 2002 – एम. एन. श्रीनिवास – पृ. सं.– 283.287।
4. वुमेन्स इम्पलायमेंट एण्ड देअर फैमिलियल रोल इन इंडिया, इन सोशल स्ट्रक्चर एण्ड चेंज, भाग–2 – 1996 – नीरा देसाई – पृ. सं.– 101.109।
5. बिहार पंचायती राज अधीनियम – 2006 – लॉ पब्लिकेशन हाउस, पटना।
6. सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, बिहार, पटना – 2006।
7. बिहार दिग्दर्शिका– क्रॉनिकल बुक, नोएडा–पृ. सं.– 372. 377।
8. कुरुक्षेत्र, पंचायती राज विशेषांक, मई – 1997 एवं अगस्त– 2008।
9. प्रतियोगिता दर्पण – जून–2005 दिसम्बर–2005, मई–2007, अगस्त–2007 एवं सितम्बर–2008।

❖